डॉ. रमाशंकर तिवारी

प्रस्तुत ग्रन्थ

तिवारी जी की नयी कृति 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य-दर्शन' विद्वत्तापूर्ण रचना है। आचार्य शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास एवं समीक्षा के प्रकाश-स्तम्भ हैं, उनकी समीक्षा से हिन्दी में समीक्षा-साहित्य की प्रतिष्ठा हुई। शुक्ल जी की इस समीक्षा के आधारभूत चिन्तन क्या हैं, विदेशी दायभाग क्या है, इस पर सूक्ष्म विवेचन तिवारी जी ने किया है और दूध तथा पानी को अलग कर दिखाया है। भारतीय भाव-विवेचन के पूर्ण विस्तार की छवि शुक्ल जी के विचारों में किस प्रकार प्रकट हुई है, इसका निरूपण इस काव्य-दर्शन में है।

पुस्तक के कुछ अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जिनको हिन्दी साहित्य का पाठक जरूर पढ़ना चाहेगा—जैसे भाव-निरूपण, रस-निरूपण, विदेशी समीक्षाशास्त्री (क्रोचे तथा आई० ए० रिचर्ड्स) तथा शुक्ल जी। यही नहीं, कबीर और छायावाद के प्रति शुक्ल जी के तथाकथित असहिष्णु दृष्टि का सम्यक् आकलन करने के लिए भी इस काव्य-दर्शन पुस्तक का अनुशीलन उपादेय होगा। सब प्रकार से पठनीय, ज्ञानवर्धक एवं रोचक कृति।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य-दर्शन

डॉ० रमाशङ्कर तिवारी

प्रथम संस्करण : १९८९

मूल्य : रु० ७५·००

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद

मुद्रक : बीना प्रिंटिंग प्रेस, कीडगंज
इलाहाबाद

आचार्य-प्रवर रामचन्द्र शुक्ल के
काव्य-सिद्धान्तों का
यह व्याख्यान
उनकी पावन स्मृति को ही
सादर सर्मापित

●

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासकार शुक्ल का व्यक्तित्व स्वयं इतिहास बन गया है। उनका रचनाकार, निबन्धकार, साहित्य-चिन्तक और संस्कृतिचेता स्वरूप महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उतना प्रमुख नहीं हो सका जितना अपेक्षित था। काव्य-दर्शन के रूप में डॉ० रमाशंकर तिवारी ने जो स्वयं भारतीय परम्परा और संस्कृति, काव्यशास्त्र के गम्भीर अध्येता रहे हैं, शुक्ल जी के काव्य-दर्शन की समस्याओं और मूलभूत जिज्ञासाओं का समाधान जिस पाण्डित्यपूर्ण विधि से सजगतापूर्वक किया गया है, वह एक चुनौती का सामना करने जैसा दिखाई देता है। इधर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के संयोग से विभिन्न हिन्दी-विभागों में शुक्ल जी को लेकर जो वैचारिक मंथन किया गया, उसकी जानकारी लेखक को रही है, वरन् उसने विविध विचार-गोष्ठियों में प्रत्यक्ष सहयोग भी दिया है। इस पुस्तक की रचना में जितना समय और श्रम लगा, उससे अधिक उस विचार-मंथन का योग रहा। इसी लिए यह पुस्तक काव्य-चिन्तकों एवं काव्य-प्रेमियों को विशेष रूप से सम्प्रेरित करेगी। उन्नीस अध्यायों के अतिरिक्त परिशिष्ट के कई सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण हैं। अध्यायों में यूँ तो सभी पठनीय एवं मननीय है, तथापि काव्य और प्रकृति, काव्य और रहस्यवाद, रस-निरूपण, सौन्दर्य-विमर्श आदि विशेष वैचारिक समृद्धि रखते हैं। रस, भाव, साधारणीकरण आदि सुपरिचित सन्दर्भों का समावेश भी अतिरिक्त सजगता के साथ किया गया है।

आचार्य शुक्ल के आलोचक व्यक्तित्व को ग्रन्थकार ने समादर के साथ विशेष महत्ता दी है, क्योंकि उसमें वह एक गरिमापूर्ण सच्चे समालोचक की छवि देखता है जो यथार्थ है। विदेशी समीक्षाशास्त्री क्रोचे, आई० एस० रिचर्ड्स की तर्क-प्रणाली को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी जिस आधार पर शुक्ल जी ने उसे मान्यता नहीं दी, उसकी ओर पुनः दृष्टिपात किया गया है। व्यावहारिक समीक्षा के अन्तर्गत जायसी, सूर, तुलसी तीनों के व्यक्तित्व और कृतित्व को शुक्ल जी ने किन आधारों पर गौरव दिया है, इसकी ओर शोधात्मक दृष्टि अपनायी गयी है। कबीर और छायावाद के प्रति शुक्ल जी के तथाकथित असहिष्णु दृष्टि का सम्यक् आकलन करने के लिए भी शुक्ल जी के इस काव्य-दर्शन का अनुशीलन आवश्यक प्रतीत होता है।

शुक्ल जी से सम्बद्ध सांस्कृतिक मूल-दृष्टि और काव्याकलन के आधार का लेखक ने बहुत दूर तक समर्थन किया है, पर कहीं-कहीं उसके विवेचन में प्रश्नाकुलता भी झलकती है। मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक साहित्यानुरागियों और काव्यशास्त्र-विनोदियों को सुखद और प्रेरक लगेगी।

जगदीश गुप्त
सचिव

प्राक्कथन

(क)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी समालोचना-संसार के 'भीष्म-पितामह' हैं। उनकी भावयित्री प्रतिभा सूक्ष्म, सारग्राहिणी तथा शास्त्र-परतन्त्र होते हुए भी शास्त्र-स्वतन्त्र है। उनकी मान्यताओं के आधार पर हिन्दी आलोचना भारतीय समीक्षा-जगत् में अपने गौरवास्पद अस्तित्व का सम्यक् बोध करा सकती है।

आचार्य शुक्ल पर लिखित ग्रन्थों की कमी नहीं है। एक-से-एक बढ़कर अनेक विद्वानों ने उनके कृतित्व तथा व्यक्तित्व को उद्भासित करनेवाली पुस्तकों का प्रणयन किया है। वे सभी हमारे लिए नमस्य हैं। तथापि हमें ऐसी प्रतीति होती रही है कि आचार्य शुक्ल के समीक्षक-स्वरूप का जैसा तथ्यनिष्ठ एवं विशद विभावन होना चाहिए, वैसा अद्यापि नहीं हो पाया है। इसका एक कारण यह भी रहा है कि उनकी मान्यताएँ कहीं एकसाथ एकत्र, उपनिबद्ध नहीं हुई हैं। विभिन्न निबन्धों, विभिन्न सन्दर्भों में वे बिखरी हुई हैं, यद्यपि 'रस-मीमांसा' में उन्हें संकलित करने का श्लाघनीय प्रयास किया गया है। रसविषयक मान्यताएँ, साधारणीकरण, भाव-निरूपण प्रभृति अनेक सन्दर्भ ऐसे रहे हैं जिन पर, विद्वानों के गम्भीर विवेचन के बावजूद, सम्यक् प्रकाश नहीं पड़ सका है। यही अवस्था रही है, क्रोचे तथा रिचर्ड्स जैसे पाश्चात्य समीक्षाशास्त्रियों के सम्बन्ध में शुक्ल जी के विचारों तथा अवधारणाओं के सम्यक् विभावन की। हमने इन सभी सन्दर्भों का विश्वसनीय रीति से आकलन तथा परीक्षण किया है। मार्क्सवादी लेखकों ने उनके स्फुट कथनों तथा प्रसंगप्राप्त टिप्पणियों को लेकर कभी उनकी पीठ थपथपायी है, कभी उनके तथाकथित बहुचर्चित मध्यकालीन बोध का उपहास किया है। हम नहीं कहते कि उनकी स्थापनाओं में छिद्र नहीं हैं। विवक्षा केवल इतनी है कि आ० शुक्ल के कृतित्व का परीक्षण उस गम्भीर शास्त्रीय धरातल पर नहीं हो सका है जहाँ वे सचमुच अवस्थित हैं। वर्तमान लेखक यह मानता है कि भरत से प्रारम्भ होकर जो शास्त्रीय चिन्तन-धारा पण्डितराज जगन्नाथ तक आते-आते प्रायः समाप्त समझी जाती है, उसे आचार्य शुक्ल ने आगे बढ़ाया है और इसी कारण उन्हें ही उस महत्त्वशाली शृङ्खला की चरम कड़ी समझना चाहिए। हमारे मानस में यह प्रतीति निरन्तर बनी रही है।

(ख)

आचार्य शुक्ल अपनी मान्यताओं में हिमालय के समान दृढ़ तथा अविचलायमान थे—यह हम सभी जानते हैं। अपने प्रतिकूल विचार रखनेवालों के प्रति वे कितने कठोर थे, यह इस बात से-ही भली-भाँति प्रकट हो जाता है कि उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी अपने व्यंग्य-बाणों का शिकार बनाने में किसी हिचक का अनुभव नहीं किया। उनके रसवादी आग्रह के शिकार उत्तरकालीन संस्कृत के कवि-तल्लज भी रहे हैं। जहाँ लगा कि कोई कथन रस की आत्मा को आघात पहुँचाता है अथवा कोरी चमत्कार-बुद्धि से उद्‌भावित है, वहीं उन्होंने, प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः, प्रहार किया है। उदाहरणतः सूर्य के उदीयमान तथा चन्द्रमा के विलीयमान बिम्बों को हाथी की पीठ पर लटकते दो घण्टों से उपमित करना उनके उपहास का भाजन बना है।

सूर्योदय तथा चन्द्रास्त की सन्धि पर रैवतक पर्वत की छटा का वर्णन करते हुए माघ का कथन है—

> उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ,
> हिमधाम्नि याति चाऽस्तम्।
> वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वय—
> परिवारित-वारणेन्द्रलीलाम्॥
>
> (शिशुपालवधम्, ४/२०)

—विस्तृत तथा ऊँची रस्सी-सी किरणोंवाले सूर्य के उदित होने पर और वैसे-ही (विस्तृत तथा ऊँची रस्सी-सी किरणोंवाले) चन्द्रमा के अस्त होने पर, यह रैवतक पर्वत लटकते हुए दो घण्टों से परिवेष्टित श्रेष्ठ हाथी की शोभा को धारण कर रहा है।

इसी सादृश्य-कथन को लेकर, माघ संस्कृत-साहित्यकारों में 'घण्टा माघ' के नाम से विख्यात हैं। इसी प्रकार के कई अन्य उपमानों का शुक्लजी ने उपहास किया है जो इस तथ्य का प्रमाणीकरण हैं कि उन्हें अपनी सुरुचि-सम्पन्नता तथा रसग्राहिणी चेतना पर अखण्ड विश्वास है। हमने उनकी तद्-विषयक टिप्पणियों की तटस्थ-भाव से परीक्षा की है।

(ग)

आचार्य शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास की भी कई दृष्टियों से आलोचना की गयी है। हमने उनके 'विधेयवादी' दृष्टिकोण, कालों के नाम-

करण इत्यादि पक्षों का नवीन दृष्टि से पर्यालोचन किया है और इस सन्दर्भ में हमने 'आदिकाल' को 'प्रारम्भकाल' तथा 'रीतिकाल' को 'शास्त्रकाल' कहने का औचित्य-प्रतिपादन किया है। तथापि इस प्रसंग में एक बात का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

डॉ० रामचन्द्र तिवारी ने अपनी नयी पुस्तक 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' में कहा है कि शुक्लजी को 'रीति' संज्ञा को प्रेरणा ग्रियर्सन से मिली। वे लिखते हैं कि ग्रियर्सन ने 'रीति' शब्द की व्याख्या नहीं की है, तथापि "उनके कथन से ऐसा लगता है कि काव्यशास्त्र लिखनेवाले कवि-सम्प्रदाय के काव्य को वे 'रीति-काव्य' समझते थे। इस प्रकार नाम का संकेत तो शुक्ल जी को ग्रियर्सन से मिला, लेकिन उसकी व्याख्या और तत्कालीन हिन्दी-रचनाओं के सन्दर्भ में उस व्याख्या की संगति बैठाने का कार्य उन्होंने ही किया।' ('आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', १९८५, पृ० १२०)

अपने इस कथन के परिपोष में डॉ० तिवारी ने यह उद्धरण दिया है—"सोलहवीं शती के अन्तिम काल एवं सम्पूर्ण सत्रहवीं शती ने, जो मुगल-साम्राज्य के आधिपत्य-काल का प्रायः संगती है, काव्य-प्रतिभा की एक असाधारण श्रेणी ही प्रस्तुत कर दी है। × × × × जो काव्य-काल के शास्त्रीय पक्ष का ही निरन्तर विवेचन करता रहा।" इस उद्धरण के लिए उन्होंने पाद-टिप्पणी में ग्रियर्सन के मूल ग्रन्थ, 'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान', पृ० १६३, का सन्दर्भ दिया है। हमें ग्रियर्सन का मूल ग्रन्थ नहीं मिला, किन्तु डॉ० किशोरीलाल कृत अनुवाद, 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' (१९६१) जब मैंने देखा, तब पाया कि प्रस्तुत उद्धरण, पृष्ठसहित, डॉ० गुप्त की पुस्तक से ही लिया गया है। डॉ० तिवारी को मैंने इस प्रसंग में पत्र लिखा और जिज्ञासा की कि क्या उन्होंने मूल ग्रन्थ देखा है। किन्तु उन्होंने मौनित्व ग्रहण कर लिया। अनन्तर मैंने डॉ० कि० ला० गुप्त को पत्र लिखा, उनका जो उत्तर आया, अब उससे सारी बात स्पष्ट हो गयी। उन्होंने लिखा कि डॉ० ग्रियर्सन ने 'रीति' शब्द का प्रयोग नहीं किया है, अपितु उनके द्वारा प्रयुक्त मूल अंग्रेजी शब्द Rhetoric Poetry (रेटॉरिक पोयट्री) है। उसी का अनुवाद शुक्ल जी के अनुकरण पर 'रीतिकाव्य' किया गया है।

इस सन्दर्भ में निवेदन इतना मात्र है कि 'रीति' शब्द वामन इत्यादि आचार्यों के प्रभाव-वश साहित्य-समीक्षकों की मण्डली में इतना लोकप्रिय बन गया था कि उसके ग्रहण तथा प्रयोग का संकेत शुक्लजी को ग्रियर्सन से मिला, यह टिप्पणी करना नितान्त भ्रान्तिजनक तथा भ्रान्तिजन्य है और साथ-ही, नवीन उद्भावना की अनियन्त्रित एषणा की उपज है।

(घ)

वर्तमान पुस्तक की पाण्डुलिपि १९८४ ई० में-ही तैयार हो चुकी थी, किन्तु औपचारिकताओं तथा कतिपय परिस्थितियों के कारण इसका मुद्रण स्थगित होता रहा। 'आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि' तथा 'आचार्य शुक्ल पर चतुष्कोणात्मक प्रहार', ये दो प्रकरण बाद में जोड़े गये जब पाण्डुलिपि का मुद्रण प्रारम्भ हो गया और हमने देखा कि पुस्तक का आकार इन अतिरिक्त परिच्छेदों का प्रवेश स्वीकार कर सकता है।

हमने व्यर्थ की कलेवर-स्फीति से बचने का भरसक प्रयत्न किया है। इसी कारण, शुक्लजी के जीवन-विषयक वृत्तान्त को जान-बूझकर छोड़ दिया है। इसी प्रकार, अनेक प्रसंग भी, जिनका सम्बन्ध शुक्लजी के कृतित्व से ठहरता है, जान-बूझकर विचार-परिधि से बहिष्कृत कर दिये गये हैं। हमारा मूल मन्तव्य भी रहा है कि आचार्य शुक्ल के काव्य-दर्शन से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण पक्ष-ही लिये जायँ, और हमारा विश्वास है कि विवेचित सन्दर्भ शुक्लजी की वैपश्चिती प्रतिभा को सही-सही भास्वर बनाने में समर्थ सिद्ध होंगे। उल्लेखनीय है कि तीन पाण्डुलिपियाँ एकसाथ तैयार होती रहीं। 'ए क्रिटिकल अप्रोच टु क्लैसिकल इण्डियन पोयटिक्स' (अँग्रेजी में), 'रसचिन्तन : परम्परा और परिप्रेक्ष्य' तथा 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य-दर्शन', और तीनों १९८४-८५ तक पूर्ण हो गयी थीं। इनमें अँग्रेजीवाली पुस्तक सबसे पहले प्रकाशित हो गयी[१] और अन्तिम दोनों अब एकसाथ प्रकाश में आ रही हैं। हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि रसचिन्तन और काव्य-दर्शन वाली पुस्तकें युगपत् विद्वानों के सम्मुख जा रही हैं।[२]

वर्तमान प्रसंग में हिन्दुस्तानी एकैडेमी के पदाधिकारियों, विशेषतः उसके सचिव डॉ० जगदीश गुप्त के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी तत्परता से पुस्तक सुचारु रूप से प्रकाश में आ रही है। बन्धुवर डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठी के प्रति तो मैं आभार से विनत हूँ जिन्होंने अनेक व्यक्तिगत व्यस्तताओं के बीच प्रूफ-संशोधन के गुरु-दायित्व का वहन किया है। अपने परिवार के सदस्यों के प्रति आभार कैसे व्यक्त करूँ जिन्होंने अनेक भौतिक सुख-सुविधाओं के अभाव के बीच हमारी साहित्य-साधना के प्रदीप को मन्द नहीं होने दिया है।

---

१. चौखम्बा ओरियण्टैलिया, वाराणसी।

२. 'रसचिन्तन : परम्परा और परिप्रेक्ष्य'—भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी।

'मुद्रा-राक्षस' के आघात से सर्वथा बच निकलना किसी भी लेखक के लिए कठिन है। तथापि अपने वर्तमान रूप में पुस्तक पण्डितों के स्नेह का भाजन बनेगी—

ऐसी कामना के साथ,

२०, लक्ष्मणपुरी कालोनी,
फैजाबाद (उ० प्र०)
२० जुलाई, १६८६

विनीत

रमाशङ्कर तिवारी

अनुक्रमणी

अध्याय — पृष्ठ

(१) पूर्वपीठिका — १—४

(अ) काव्य-निरूपण

(२) कविता का शील-विवेचन — ५—३५

कविता की परिभाषा, कविता का नैतिक स्वरूप, कविता का प्रयोजन, काव्य की साधनावस्था और सिद्धावस्था, क्षत्रिय-काव्य और ब्राह्मण-काव्य, आस्थावादी मनोदृष्टि, भारती के मन्दिर में गड़बड़ी, साधनावस्था का बीज-भाव, सिद्धावस्था का बीज-भाव, माधुर्य का वैशिष्ट्य, माधुर्य का ऊर्ध्वीकरण, बिम्ब-ग्रहण, काव्य और सूक्ति, सहृदय और तमाशबीन, काव्य और कल्पना, अलंकार-योजना का लक्ष्य, रहस्यवादी कल्पना के चार क्षेत्र, उदारतावादी दृष्टि, वाच्यार्थ और रमणीयता, कविता और सभ्यता, कविता की भाषा ।

(३) काव्य और प्रकृति — ३५—३६

शुक्लजी का प्रकृति-प्रेम, 'दृश्य' से अभिप्राय, प्रकृति का स्वतन्त्र-वर्णन, प्रेम की प्रतिष्ठा के दो प्रकार, प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण, प्रकृति की व्यंजनाएँ ।

(४) काव्य और रहस्यवाद — ३६—४३

ब्रह्म की व्यक्त-अव्यक्त सत्ता, अभिव्यक्तिवाद, सामंजस्यवाद, रहस्यवादी कल्पना, रहस्यवादी कविता के दो दोष, आचार्य शुक्ल की आलोचना का औचित्य ।

(आ) भाव-निरूपण

(५) भाव का सामान्य विवेचन — ४४—५७

भाव का परिभाषण, भाव और भाव-कोश, स्थायीभाव का लक्षण, राग और रति, भाव-दशा और स्थायी दशा, भाव की शील-दशा, 'उत्साह' की विशेष स्थिति, दयावीर और करुणा, शील-दशा और रसोत्पत्ति ।

(६) भावों का वर्गीकरण — ५७—६६

सुखात्मक और दुःखात्मक, स्थायी-संचारी-व्यवस्था, संचारियों का चतुर्धा विभाजन, राग और रति, संचारियों के

अध्याय | पृष्ठ

भीतर संचारी, स्थायी-संचारी विभाजन का आधार, संचारियों के पाँच वर्ग, संचारियों की प्रधानता, काव्य-विशेष का स्थायीभाव।

(७) **असम्बद्ध भावों का रसवत् ग्रहण** ६६—७३

भाव-काव्य, असम्बद्ध व्यभिचारी भावों की तीन अवस्थाएँ, भावोदय, भाव-शान्ति, भाव-सन्धि, भावशबलता ।।

(इ) रस-निरूपण

(८) **साधारणीकरण-विमर्श** ७४—६२

साधारणीकरण का आधार, साधारणीकरण की परिभाषा, काव्य का विषय : विशेष, साधारणीकरण का अभिप्राय, विभावादि साधारणतया प्रतीत होते हैं—प्रमाता का आश्रय से तादात्म्य, 'विशेष' या 'व्यक्ति' और रसानुभव, पूर्ण रस की निष्पत्ति, तादात्म्य और रसकोटियाँ, आचार्य शुक्ल की नैतिक दृष्टि, रसानुभूति और शील-वैचित्र्य।

(६) **रस-विमर्श** ६२—१२२

शास्त्र-स्वतन्त्र चिन्तन-दृष्टि, रसानुभूति और रसावयव, रसात्मक प्रतीति के प्रकार, स्थिति का उलझाव, रसदशा अथवा रसानुभूति, रसानुभूति के अलौकिकत्व का अपलाप, रसानुभूति का स्वरूप, तदाकार-परिणति, रस की अखण्डता का अपलाप, रसानुभूति का लक्षण, लोक-सामान्य भावभूमि, सहृदय और रस-व्याप्ति, भावों की प्रत्यक्ष रसानुभूति, 'शोक' स्थायी और करुण रस, प्राकृतिक दृश्यों की प्रत्यक्षानुभूति, विशुद्ध स्मृति अथवा प्रत्यभिज्ञान की रसात्मकता, स्मृत्याभास कल्पना की रसनीयता, लौकिक अनुभूतियों में रसात्मकता नहीं, रसानुभूति का स्वभाव, रस की व्यंग्यता का अपलाप, रस-विरोध की तीन दृष्टियाँ, नैरन्तर्यकृत विरोध, आश्रय-गत और आलम्बनगत विरोध।

(१०) **सौन्दर्य-विमर्श** १२२—१२७

सौन्दर्य का परिभाषण, सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता, कलाओं का आविर्भाव, सौन्दर्य की अनुभूति, काव्य और कला, सुन्दर काव्य का लक्षण नहीं, सौन्दर्य और मंगल का समीकरण।

अध्याय पृष्ठ

(ई) विदेशी समीक्षाशास्त्री

(११) क्रोचे का अभिव्यक्तिवाद १२८—१४०

सौन्दर्यशास्त्र, अन्तःकरण के व्यापार, कला का आविर्भाव रूपात्मक, अन्तर्ज्ञान तथा अभिव्यक्ति, कतिपय पदों की पर्यायिता, द्वैत की स्थिति, अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति की सफलता, उक्त पदों की व्यवहारगत फिसलन, कला बनाम प्रत्यय-बोध, सौन्दर्य और आनन्द, कविता और अनुभूति, प्रगीत्यात्मक अन्तर्ज्ञान, विशेष तथा विश्व का समन्वय, जीवन का ऊर्ध्वोन्मुख रूपान्तरण, परम्परापोषित नियमों का विरोध, व्यावहारिक आलोचना, क्रोचे की त्रुटियाँ और उपलब्धियाँ।

(१२) आचार्य शुक्ल की आलोचना १४०—१४८

'अभिव्यंजनावाद' नहीं, 'अभिव्यक्तिवाद', 'फार्म' साँचा नहीं, शोक या करुणा की आनन्दस्वरूपता, क्रोचे की कल्पना का गलत ग्रहण, क्रोचे की पद्धति के छह बिन्दु, क्रोचे की 'अभिव्यक्ति' और 'वक्रोक्ति'।

(१३) आई० ए० रिचर्ड्स और आचार्य शुक्ल १४८—१५८

कविता का लक्ष्य, रिचर्ड्स और सामंजस्य, रिचर्ड्स से शुक्ल जी की पृथक्ता, काव्यानुभव की सामान्यता, रिचर्ड्स की अलंकार-योजना, वस्तु-पक्ष की अवहेलना, निष्कर्ष।

(उ) व्यावहारिक समीक्षाएँ

(१४) जायसी की 'पद्मावत' १५९—१६७

तत्त्वाभिनिवेशी समालोचना, रत्नसेन का पूर्वराग, पूर्णराग बनाम पूर्णरति, पद्मावती का पूर्वराग, वियोग-वर्णन की सराहना, विरह-वर्णन की अद्वितीयता।

(१५) सूरदास १६७—१७०

सूर-काव्य का सीमित दायरा, सूर और तुलसी, सूर की आलोचना खटकती है, शुक्लजी की सहृदयता।

(१६) तुलसीदास १७०—१८५

तुलसी का भक्ति-मार्ग, 'मानस' की धर्मभूमि, तुलसी की काव्य-पद्धति, तुलसी की भावुकता, बाह्य दृश्य-चित्रण, शुक्लजी और साम्यवादी चश्मा।

अध्याय पृष्ठ

(१७) **आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि** १८५—२११

खण्ड एक

इतिहास नीरस वर्णन नहीं, विधेयवाद, ताइन की मान्यता, आ० शुक्ल और ताइन, जनता और शिक्षित जनता, साहित्य में समाज का अभिप्राय, व्यक्ति का महत्त्व, सामाजिकता बनाम साहित्यिकता, लोकसामान्य भावभूमि, शुक्लजी मार्क्सवादी नहीं, भक्ति-साहित्य का 'बारह आना।'

खण्ड दो

पूर्ववर्ती रचनाएँ, शुक्लजी के आधार ग्रन्थ, काल-विभाजन तथा नामकरण, हिन्दी साहित्य का आविर्भाव, आचार्य द्विवेदी की टिप्पणी, रासो ग्रन्थों की संदिग्धता, 'आदिकाल' नहीं 'प्रारम्भकाल', 'रीतिकाल' नहीं 'शास्त्रकाल', आचार्य और कवि, 'रीति' शब्द की रूढ़ता, मूलतः आचार्य, गौणतः कवि, शास्त्र लिखने की प्रणाली, आधुनिक काल, नवजागरण काल, सुधारकाल नहीं 'दूसरी परम्परा की खोज', काव्य की कसौटी जीवन-बोध, शुक्लजी के इतिहास की त्रुटियाँ, घाघ का कृषि-विज्ञान, शुक्लजी का इतिहास और आलोचना।

(१८) **आचार्य शुक्ल पर चतुष्कोणात्मक प्रहार** २१२—२२३

आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी, आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल और मार्क्सवादी समीक्षक, आचार्य शुक्ल विकासवादी नहीं, आचार्य शुक्ल का जीवन-दर्शन।

(१९) **उपसंहार : संकलन और निष्कर्ष** २२४—२३०

परिशिष्ट

(१) **साहित्य का अभिप्राय** २३१—२३४

साहित्य का क्षेत्र, चतुर्विध अर्थ, साहित्य के अन्तर्गत गृहीतव्य रचनाएँ, अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति।

(२) **आचार्य शुक्ल के दो अनुवाद** २३४—२३६

ऐडिसन : 'On the Pleasures of Imagination'

हेनरी न्यूमन : 'Literature'

१
पूर्वपीठिका

(क)

भारतेन्दु-युग—जिस काल में आचार्य शुक्ल का आलोचक-रूप में हिन्दी-संसार में आविर्भाव हुआ, वह एक प्रकार का सन्धि-काल था। प्राचीन भारतीय साहित्य-चिन्तन की परम्परा रीतिकालीन कवि-आचार्यों के प्रतिपादनों में चली आ रही थी। साथ-ही, पश्चिमी सम्पर्क से साहित्य-विषयक नयी चेतना का स्पन्दन भी दृष्टिगोचर होने लगा था। अधिकांश लेखकों ने भारतेन्दु-युग को हिन्दी आलोचना का प्रवर्तन-काल माना है।

संस्कृत साहित्यशास्त्र का विपुल रिक्थ रीतिकालीन आचार्यों को मिला था। किन्तु, उनमें से अधिकांश रस और अलंकार के निरूपण में ही तल्लीन थे; ध्वनि इत्यादि शेष महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की ओर उनका विशेष आकर्षण नहीं हो सका। रस-प्रसंग में श्रृङ्गार को 'रसराज' मानकर, उसकी आलम्बन नारी को लेकर नायिका-भेद-निरूपण की प्रणाली चल पड़ी थी। यद्यपि ये आचार्य पुरानी काव्यशास्त्रीय उपलब्धियों को ही ब्रजभाषा में दुहरा रहे थे, तथापि मध्यकाल की विषम परिस्थितियों में, देशी रजवाड़ों तथा सामन्तों के संरक्षण में उन्होंने काव्य-रचना के साथ जो सिद्धान्त-विवेचन किया, उसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अधुनाशास्त्रीय चिन्तन में हम सीधे अभिनवगुप्त, मम्मट इत्यादि प्राचीन आचार्यों के पास पहुँच जाते हैं और उनकी मूल्यवान् धरोहर को अपने ढंग से तथा अपनी सीमाओं में सुरक्षित रखनेवाले देव, मतिराम, भिखारीदास जैसे रीतिकालीन आचार्यों की उपेक्षा करते हैं। यह प्रवृत्ति हितावह नहीं कही जा सकती। वर्तमान हिन्दी की ब्रजभाषा से (जिसमें उनकी शास्त्रीय रचनाएँ लिखित हैं) स्वरूपगत भिन्नता इसका एक प्रमुख कारण प्रतीत होती है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य तथ्य भी उल्लेखनीय है। यह समझना भ्रान्ति-जन्य है कि संस्कृत में 'कवि' और 'आचार्य' दो भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति थे जबकि रीतिकाल में इन दोनों का एकल संयोग हो गया जिस कारण शास्त्रीय निरूपणों में मौलिकता अथवा नवीनता के दर्शन नहीं होते।[1] वास्तविकता यह

---

१. आ० शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० २०२५), पृ० २२६।

है कि संस्कृत की आचार्य-परम्परा में अधिकांश स्वयं रसग्राहिणी चेतना से सम्पन्न सुकवि थे। भामह, दण्डी, उद्भट, वाग्भट, जयदेव इत्यादि ने अपने ग्रंथों में लक्षण तथा उदाहरण दोनों स्वरचित-ही दिये हैं। आनंदवर्धन उच्चकोटि के कवि थे और पंडितराज जगन्नाथ की रसनिर्भरा काव्यकृतियाँ—'भामिनी-विलास', 'गंगा-लहरी', 'यमुना-लहरी' आदि—आज भी रसज्ञों द्वारा समादृत हैं। जहाँ तक मौलिकता की बात है, संस्कृत के सैद्धान्तिक प्रतिपादन इतने पुष्ट एवं समृद्ध बन चुके थे कि उन चिन्तन-प्रणालियों को सुरक्षित रखते हुए किसी अनुपम नवीनता की खोज अव्यावहारिक बन गयी थी।

भारतेन्दु-युग को रीतिकालीन साहित्य-चिन्तन का प्रत्यक्ष उतराधिकार मिला था। लेकिन, नयी राष्ट्रीय चेतना के आविर्भाव के कारण, इस युग के लेखकों की, जो उनकी आलोचना की ओर प्रवृत्त हुए, रीतिवादी आचार्यों की लक्षण-ग्रंथों वाली परम्परा के प्रति कोई अभिरुचि जाग्रत नहीं हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके मण्डल के सदस्यों—चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' तथा पं० बालकृष्ण भट्ट—ने सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक समीक्षा में अधिक दिलचस्पी दिखायी। भारतेन्दु के साथ ये दोनों भी किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका के सम्पादक थे और उन सभी ने अपनी पत्रिकाओं में पुस्तक-समीक्षाएँ लिखीं। इन समीक्षाओं में गहराई भले न हो, किन्तु ऐतिहासिक, व्याकरणात्मक, शास्त्रीय तथा जीवन-चरित्रात्मक दृष्टियों का उन्मेष अवश्य वर्तमान था। भट्टजी ने काव्य-भाषा, छन्दयोजना और अलंकार-विधान पर भी शास्त्रीय दृष्टि से विचार व्यक्त किये हैं। कविता-विययक उनके विचारों से आ० महावीरप्रसाद द्विवेदी को अपना मत स्थिर करने में प्रचुर सहायता मिली—ऐसा माना जा सकता है।

इस युग के पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' शीर्षक निबन्ध, जो 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में छपा था, विशेष सम्मान का आस्पद बना है। इस सम्बन्ध में उन्होंने समालोचना के आदर्श रूप का विवेचन किया है और समालोचक के गुणों का भी वर्णन किया है। उन्होंने पुरानी सैद्धान्तिक परम्परा की तुलना में पाश्चात्य ढंग की व्यावहारिक आलोचना को अधिक महत्त्व दिया है। भारतेन्दु-युग के उत्तरवर्ती काल के विलक्षण समालोचक थे बाबू बालमुकुन्द गुप्त। वे भी पत्र-सम्पादक थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा था जिसकी प्रतिकूल आलोचना गुप्तजी ने अपने पत्र 'भारत-मित्र' में प्रकाशित की थी। इससे क्रुद्ध होकर, द्विवेदीजी ने भी उस आलोचना का प्रतिवाद प्रकाशित किया और इस प्रकार आलोचना-प्रत्यालोचना का एक दौर चल पड़ा था जिसमें तीव्र व्यंग्य-बाण दोनों ओर से छोड़े गये थे। यह भी आलोचनात्मक जागरुकता का उपलक्षण है।

भारतेन्दु-युगीन समालोचना इस प्रकार स्पष्ट है—प्राचीन काव्यशास्त्रीय निरूपणों से हट कर, पाश्चात्य समीक्षा से प्रभावित, व्यावहारिक समीक्षा को अधिकाधिक अपनाने लगी थी। तुलनात्मक तथा प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा के बीज भी इस काल की आलोचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

(ख)

द्विवेदी-युग—भारतेन्दु-युग में हमने आलोचना की जिन प्रवृत्तियों को देखा है, उनका विकास द्विवेदी-युग में परिलक्षित होता है। इस युग में साहित्यिक चेतना के विकास तथा परिष्करण में भी पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा हाथ रहा है उनमें महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की अपेक्षाकृत गंभीर समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं। इस काल की आलोचना में रस, अलंकार इत्यादि शास्त्रीय पक्षों का विवेचन भी उभार में आ गया दिखायी पड़ता है।

द्विवेदी-युगीन समालोचना, राष्ट्रीय नव-निर्माण की तत्कालीन मनोभंगी के अनुरूप, सुधारवादी तथा नैतिकतावादी बन गयी थी। राम और कृष्ण आलोचना-क्षेत्र की दृष्टियों को भी प्रभावित कर रहे थे। फलतः, साहित्यालोचन पर उपयोगितावाद का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था। द्विवेदीजी तथा उनके सहयोगी सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति थे जिनकी समालोचन-पद्धति नैतिकता के अनुरोधों से प्रभावित थी। छायावादी कविता के साथ, रीतिकालीन कविता भी इसी दृष्टि-कोण के कारण इस काल में उपेक्षित, बल्कि भर्त्सना की आखेट बनी। मुक्तक तथा रीतिकाव्य की जगह प्रबन्धों तथा महाकाव्यों को विशेष सम्मान मिलने लगा। द्विवेदीजी ने भाषा के परिष्कार का भी आन्दोलन प्रवर्तित कर दिया था। बालमुकुन्द गुप्त और उनके बीच 'अनस्थिर' शब्द को लेकर (जिसका प्रयोग द्विवेदीजी ने पूर्वोक्त निबन्ध में किया था) चला विवाद ऐतिहासिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है।

इस युग की एक विशेषता यह भी उल्लेखनीय है कि आलोचक अपनी रुचि के अनुसार दो कवियों की तुलना किया करते थे और उनमें से एक या दूसरे को श्रेष्ठ या हीन बताया करते थे। देव-बिहारी विवाद की स्मृति आज भी बनी हुई है। कवियों तथा उनकी कृतियों के विवेचन-परीक्षण की प्रवृत्ति भी इस काल में लक्षित होती है। इस दिशा में द्विवेदीजी के अतिरिक्त पद्मसिंह शर्मा, लाला भगवानदीन तथा मिश्रबन्धुओं के नाम उल्लेखनीय हैं। शास्त्रीय निरूपण के क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने अलंकार-विषयक ग्रंथ लिखे जिनमें रीतिकालीन मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं। श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' इसी युग की रचना है जिसमें पाश्चात्य सिद्धान्तों का भी समावेश किया गया है।

द्विवेदी-युगीन समालोचना ने इस प्रकार हिन्दी आलोचना के विकास में

महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। संस्कृत की काव्यशास्त्रीय पद्धति का अनुसरण इस काल की समालोचना की विशेषता है, यद्यपि यह रीतिकाल की भाँति रूढ़िग्रस्त न होकर, बहुत-कुछ रूढ़िमुक्त थी।

इसी पीठिका में आचार्य शुक्ल का समालोचना-जगत् में अभ्युदय हुआ और उन्होंने 'जायसी-ग्रंथावली', 'तुलसी-ग्रंथावली' तथा सूर के 'भ्रमरगीत-सार' की भूमिकाओं के माध्यम से इन कवियों की गंभीर, तत्त्वदर्शिनी समीक्षाएँ प्रकाशित कीं। 'कविता क्या है' शीर्षक लंबे निबन्ध में उन्होंने कविता का जो शील-निरूपण किया था, उसमें उनकी शास्त्रीय, नैतिक तथा उपयोगितावादी मान्यताओं का प्रतिफलन दृष्टिगोचर होता है। यह उल्लेखनीय है कि शुक्लजी ने भारतेन्दु-युग के अवसान-काल से अपना साहित्यिक जीवन प्रारंभ किया, द्विवेदी-युग की साहित्यिक गतिविधियों में महत्त्वपूर्ण भाग लिया और छायावाद के उत्थान-काल की उपलब्धियों के प्रत्यक्ष द्रष्टा रहे। सुतराम् उनके समालोचक व्यक्तित्व के संघटन में—शास्त्रीय, सैद्धान्तिक, नैतिक और सौन्दर्यपरक दृष्टियों तथा मान्यताओं का यौगपदिक सहयोग रहा है। इससे भी आगे, पाश्चात्य समीक्षा-दृष्टियों का भी स्पष्ट प्रभाव उस पर पड़ा है। हमने वर्तमान गवेषणा में, शुक्लजी के 'काव्य-दर्शन' के अंतर्गत, उनके काव्य-विषयक विचारों तथा शास्त्रीय प्रतिपत्तियों का सूक्ष्म तथा विशद अनुशीलन किया है। भारतेन्दु-काल से ही प्राचीन शास्त्रीय स्थापनाओं के सम्बन्ध में जिस स्वतन्त्र दृष्टि का उन्मेष हो गया था,[२] उसका व्यवस्थित विकास शुक्लजी की आलोचनाओं में दृष्टिगोचर होता है।

□ □

---

२. भारतेन्दु का 'नाटक' शीर्षक निबन्ध उनके स्वतंत्र विचारण का द्योतक है। रस-विषय में भी उनके स्वतंत्र विचार थे। 'भक्ति' तथा 'सख्य' रस का उन्होंने सबल, तार्किक दृष्टि से अनुमोदन किया था। "रस ऐसी वस्तु है जो अनुभव-सिद्ध है। इसके मानने में प्राचीनों की कोई आवश्यकता नहीं।" यह कथन भारतेन्दु की अप्रतिबद्ध दृष्टि का परिचायक है। (दे० 'कवि-वचन-सुधा', जिल्द ३, संख्या २२)।

(अ) काव्य-निरूपण

२. कविता का शील-विवेचन
३. काव्य और प्रकृति
४. काव्य और रहस्यवाद

२
कविता का शील-विवेचन

(क)

आचार्य शुक्ल का कविता-विषयक निरूपण, मूलतः भारतीय रसदृष्टि से आबद्ध होते हुए भी, सर्वथा नवीन तथा विचारोत्तेजक है। उन्होंने कविता की जो व्याख्या की है, वह पुराने-परिचित तथ्यों को समेटते हुए भी, मौलिकता की छाप लिये हमें प्रभावित करती है। उनके चिन्तन तथा उपस्थापन, दोनों में आचार्यत्व का सौरभ ओत-प्रोत है।

कविता की परिभाषा—शुक्लजी ने कविता की यह परिभाषा दी है जो प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।" हृदय-मुक्ति का लक्षण यह किया गया है—"(जगत के) इन रूपों और व्यापारों के सामने जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर, अपने-आप को बिल्कुल भूल कर विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है, तब वह मुक्तहृदय हो जाता है।"[1]

इस परिभाषा से निम्न बिन्दु उत्पन्न होते हैं—

(१) कविता शब्दमयी अभिव्यक्ति है। (२) वह मनुष्य को उसकी व्यक्तिगत सीमा से मुक्त कर शुद्ध अनुभूति-दशा में ले जाती है। (३) यह अनुभूति भारतीय आचार्यों की रसदशा है। (४) यह रसदशा हृदयमुक्ति की पर्याय है और हृदयमुक्ति व्यक्तिगत स्वार्थ-सम्बन्धों की भावना के परिहार का परिणाम है।

इस प्रकार, यह तथ्य उभरता है कि कविता की प्रस्तुत परिभाषा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' से आगे बढ़कर, रसानुभूति की उस अवस्था का भी संकेत करती है जिसके निरूपण में आचार्य भानुदत्त ने यह कहा है—"भावविभावाऽनुभावव्यभिचारिभावैर्मनो विश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः।"[2] 'हृदयमुक्ति' रसानुभूति की यही 'मनोविश्राम' वाली अवस्था है।

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, १९७१, पृ० ११३।
२. रसतरङ्गिणी, (सम्पादक सीताराम चतुर्वेदी) षष्ठ तरङ्ग, पृ० ३९३।

इसी सन्दर्भ में आ० शुक्ल ने यह भी जोड़ दिया है—"इस साधना को भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।"[३] भावयोग को आगे चलकर उन्होंने 'अनुभूति-योग' कहा है और कवि को 'अनुभूतियोगी' बताया है।[४] कविता की साधना भाव की साधना है जो मूलतः अनुभूतियों का व्यवसाय है। अतएव, कवि 'भावयोगी' अथवा 'अनुभूतियोगी' कहला सकता ही है। 'योगी' वह इसलिए है कि वह अपनी अनुभूतियों का समाधि-जैसी मनोदशा मे प्रत्यक्ष करता है।

नैतिक स्वरूप—लेकिन, 'भावयोग' को जब शुक्लजी 'कर्मयोग' और 'ज्ञानयोग' की समकक्षता में स्थापित करते हैं, तब लगता है, वे विशुद्ध रस-प्रदेश को अतिक्रान्त कर, गीता के कर्म-क्षेत्र तथा ज्ञान-क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। हृदयमुक्ति से विशेषित 'रसदशा' को 'कर्मयोग' से सहयोजित करने के प्रयास में शुक्लजी का काव्य-निरूपण कुछ उलझ-सा गया है। वे इस सामान्य धारणा का प्रत्याख्यान करना चाहते हैं कि काव्य 'व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है' और इसलिए, वे निर्णय देते हैं कि "कविता तो भावप्रसार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्म-क्षेत्र का और विस्तार कर देती है।"[५] "ज्ञानप्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है"[६]—अर्थात्, कविता एक साथ तीन काम करती है: ज्ञानप्रसार, भावप्रसार और कर्मप्रसार। कविता के फल का यह त्रिकोणात्मक निरूपण शुक्लजी को विशुद्ध काव्यशास्त्री की पदवी से हटाकर उपयोगितावाद का पोषक बना देता है। वस्तुतः, उनका समग्र काव्यचिन्तन 'रसवाद' और 'मंगलवाद' के ध्रुवान्तों के भीतर झूलता दृष्टिगोचर होता है। हम आगे दिखायेंगे कि 'विशुद्ध काव्य' में 'सुन्दर' अथवा 'असुन्दर' के निकट की हिमायत करते हुए भी, वे उसे 'धार्मिकों' के 'मंगल' से जोड़कर, अपनी पूरी काव्यदृष्टि को लोकोपयोगी नैतिकता के अतिशायी तत्त्व से आविल कर देते हैं।

(ख)

कविता का प्रयोजन—काव्य के लक्ष्य अथवा प्रयोजन का आ० शुक्ल ने जो निरूपण किया है, वह उनकी मिश्रित काव्यदृष्टि से अनुरंजित है। उनके अनुसार, कविता का लक्ष्य मनुष्य के हृदय को 'स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित मण्डल से उठाकर लोकसामान्य भावभूमि' पर पहुँचाना है जहाँ उसकी व्यक्ति-

---

३. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११३।

४. वही, पृ० १२४।

५. वही, पृ० १२६।

६. वही, पृ० १२५।

गत सत्ता 'लोकसत्ता' में विलीन हो जाती है और उस 'अनुभूति-योग के अभ्यास' से हमारे 'मनोविकारों का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह' होता है।[७] हृदय के नाना भावों के 'परिष्कार' को समझाते हुए, वे कहते हैं कि उन भावों का 'प्रकृत सामंजस्य' जगत के भिन्न-भिन्न 'रूपों और व्यापारों' के साथ घटित होने से-ही मनो-वृत्तियों का परिष्कार सम्भव होता है। इस 'सामंजस्य' की पहचान है, 'व्यक्ति-जीवन' का 'लोक-जीवन' में लय हो जाना, 'विश्व-हृदय' से सामीप्य की अनुभूति से अनुप्राणित हो जाना।[८] स्मरणीय है कि व्यक्ति-सत्ता का परिहार और उसका लोक-सत्ता में विलीनीकरण ही 'रसदशा' भी है।

इस प्रसंग में उपलक्ष्य यह है कि 'लोकसामान्य भावभूमि' कविता में चित्रित होनेवाले भावों की सार्वजनीनता एवं सार्वकालिकता की ओर संकेत करती है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के भावप्रकरण में भावों के 'सामान्य गुणयोग' को रसनिष्पत्ति में कारण बताया है—'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते'[९] सहृदय की व्यक्ति-सत्ता लोकसत्ता में विलीन हो जाती है, इस कारण कि कविनिवद्ध भाव, लोकसामान्य भावभूमि का स्पर्श कर, व्यक्ति-सत्ता के परिहार की सरणि प्रशस्त करते हैं। आचार्यों की रसदशा का यहाँ नव निरूपण सम्पन्न हुआ है। शुक्लजी का उपर्यंकित 'सामंजस्य' इस रसदशा का सहचारी है। जब वे इसी प्रसंग में मनोविकारों के परिष्कार की बात कहते हैं तब उनकी नैतिकतावादी मनोदृष्टि की झलक मिल जाती है। शुद्ध काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से रसदशा को मनोभावों के परिष्कार के साथ सहयोजित करना कठिन प्रतीत होता है।

उल्लेखनीय है कि आ० शुक्ल 'विश्व-हृदय' को भगवान् के हृदय के पर्याय-रूप में ग्रहण करते हैं। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' वाले निबन्ध में उन्होंने कहा है—"हमारे यहाँ काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य की साधना से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय, भगवान के लोकरक्षक और लोकरंजक हृदय, से जा मिलता है तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। भक्ति धर्म और ज्ञान, दोनों की रसात्मक अनुभूति है।"[१०]

७. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११३।
८. चिन्तामणि, दूसरा भाग (सं० २००७) पृ० ५०-५१।
९. नाट्यशास्त्र (चौखंबा), पृ० ८०।
१०. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० २१२-१३।

विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लोकसामान्य भावभूमि का तत्त्व सन्निहित है। शुक्लजी ने उसे विश्व-हृदय से, जिसे उन्होंने अन्यत्र 'परमहृदय' भी कहा है, जोड़कर, तत्काल उसका भगवान् के हृदय से समीकरण स्थापित कर दिया है। परिणामतः, उनका काव्य-लक्ष्य, अन्ततोगत्वा, भक्तिभाव में पर्यवसित हो गया है। भगवान् के शक्ति-शील-सौन्दर्य वाले स्वरूप में आस्थावान् होने के कारण, विशुद्ध काव्य-विमर्श से प्रस्थान कर, वे ऐसी भावदशा तक पहुँच गये हैं जहाँ बुद्धि तथा हृदय में सामंजस्य स्थापित करनेवाला भक्ति-मूलक काव्य सर्वश्रेष्ठ हो जाता है—"× × × हृदय की ऐसी भावदशा कभी-कभी होती है। जिसका न धर्म से विरोध होता है, न ज्ञान से और न किसी दूसरी भावदशा से। यही सामंजस्य हमारे यहाँ का मूलमन्त्र है। जिस काव्य में यह सामंजस्य न होगा, उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।"[११]

अतएव स्पष्ट है कि शुक्लजी की रसदशा अन्ततः भक्तिभाव की पर्याय बन गयी है।

(ग)

काव्य की साधनावस्था और सिद्धावस्था—हम कह चुके हैं कि कविता की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति शुक्ल जी भक्तिकाव्य में पाते हैं। वहीं उन्हें सौन्दर्य, धर्म, ज्ञान की एकत्र रसात्मक अनुभूति होती है। वे मानते हैं कि ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द के तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्तिमार्ग 'आनन्द' स्वरूप को लेकर चले हैं।[१२] इस आनन्द की अभिव्यक्ति की वे दो अवस्थाएँ मानते हैं—'साधनावस्था' और 'सिद्धावस्था'। कुछ कवि, उनके अनुसार, 'आनन्द-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप' को लेकर जगत् या जीवन में अभिव्यक्त सुख-सौन्दर्य, माधुर्य, उल्लास प्रभृति 'उपभोग-पक्ष' की ओर आकर्षित होते हैं और कुछ कवि 'आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष' के चित्रण में कृतकामतर का अनुभव करते हैं। शुक्लजी के मतानुसार, 'पूर्ण कवि' वे हैं जो जीवन की अनेक परिस्थितियों में 'सौन्दर्य का साक्षात्कार' करते हैं, जो 'प्रकाश' के प्रसार से जितना 'मुग्ध' होते हैं, उतना ही प्रकाश के पूर्वस्थित 'अन्धकार' के निवारण को देखकर भी। इस प्रकार, 'आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष' का चित्रण करनेवाले कवि 'आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष' का चित्रण करनेवाले कवियों की तुलना में उनके लिए अधिक वरेण्य एवं स्तवनीय हैं। रामायण, महाभारत, रघुवंश (रामचरितमानस भी)

---

११. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० २१४।

१२. वहीं, पृ० १७२-७३।

इत्यादि प्रबन्धकाव्य आनन्द के 'प्रयत्न-पक्ष' के प्रतिनिधि हैं और आर्या-सप्तशती, गाथा-सप्तशती, गीत-गोविन्द (बिहारी-सतसई भी) इत्यादि काव्य आनन्द की सिद्धावस्था या 'उपभोग-पक्ष' का प्रतिनिधित्व करते हैं।[१३]

काव्य का ऐसा विभाजन समालोचन-साहित्य में निराला है। यह आ० शुक्ल की मंगलवादी मनोदृष्टि से पूर्णतया प्रभावित है। प्रश्न है, क्या विश्व-साहित्य की तमाम अभिव्यक्तियाँ इस स्थूल विभाजन के प्रति 'प्रत्युत्तरशील' ('रेस्पांसिव') सिद्ध हो सकती हैं? उदाहरणतः, पाश्चात्य काव्य में सर्वश्रेष्ठ समझी गयी 'त्रासदी' ('ट्रैजिडी') को किस वर्ग में उपन्यस्त किया जाय? अथवा 'त्रासदी' को जाने दें क्योंकि वह हमारे यहाँ उस रूप में विकसित नहीं हो सकी। 'अभिज्ञानशाकुंतल' को 'प्रयत्नपक्षीय' अथवा 'उपभोगपक्षीय' क्या माना जाय? और-तो-और, जिस 'मेघदूत' की शुक्लजी ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है ' 'मेघदूत' न कल्पना की क्रीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूपमाधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि '[१४]—उसे क्या माना जाय, आनन्द की सिद्धावस्था का अथवा आनन्द की साधनावस्था का चित्रक काव्य? आप कहेंगे, 'लीरिक' को शुक्लजी ने उपभोग-पक्ष से सम्बद्ध बताया है, अतः 'मेघदूत' आनन्द की सिद्धावस्था का प्रतीक है। हमारा उत्तर होगा, 'मेघ को दूत बनाकर यक्षिणी के पास अलकापुरी में भेजने के उपक्रम से उसे आनन्द की साधनावस्था की व्यंजक कविता क्यों न माना जाय? यहाँ भी 'आनन्द का प्रयत्न-पक्ष' चित्रित हुआ है। विवक्षा यह है कि काव्य का एतादृश विभाजन स्थूल है, असाहित्यिक है।

इसी सन्दर्भ में यह उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है कि शुक्लजी 'मंगल-वाद' को वरीयता देते हुए भी 'उपदेशवाद' के विरोधी हैं। इसी कारण, उन्होंने टालस्टाय के 'लोकादर्शवाद' की आलोचना की है जो यह मानती है कि काव्य या साहित्य में सदा 'शुभ और सात्त्विक भावों की अशुभ और तामस भावों पर चढ़ाई और विजय' का प्रदर्शन होना चाहिए। किन्तु वे मानते हैं, इस एकान्त विजय के चित्रण में मनुष्य का प्रयत्न-पक्ष उपेक्षित हो जाता है। शुक्लजी की मान्यता यह है कि अत्याचार तथा उत्पीड़न का शक्ति तथा उत्साह के साथ सामना करनेवाले 'किसी तीसरे व्यक्ति' के प्रयत्नों का वर्णन काव्य में रहना चाहिए जिससे 'कर्म-सौन्दर्य को पूर्ण अभिव्यक्ति' हो सके। इसी प्रकार के काव्य को उन्होंने 'क्षत्रिय काव्य' कहा है और प्रेम तथा मंगल की घृणा, हिंसा, पाप आदि पर प्रयत्न-शून्य विजय प्रदर्शित करनेवाले काव्य को 'ब्राह्मण

---

१३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १७४।

१४. वही, पृ० ११९।

काव्य' की संज्ञा प्रदान की है। केवल आनन्द की निष्क्रिय खोज तथा उपलब्धि को वे जीवन का लक्ष्य नहीं मानते।[१५] शुक्लजी का 'साधनावस्था' वाला काव्य इस दृष्टि से 'क्षत्रिय काव्य' है।

आस्थावादी—आनन्द की साधनावस्था के विवेचन में शुक्लजी ने स्पष्ट कहा है कि "लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्द-कला जो शक्तिमय रूप धारण करती हैं, उसकी भीषणता में भी अद्‌भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचण्डता में भी गहरी आर्द्रता साथ लगी रहती है। विरुद्धों का यही सामंजस्य कर्म-क्षेत्र का सौन्दर्य है जिसकी ओर आकर्षित हुए बिना मनुष्य का हृदय नहीं रह सकता।"[१६] इस कथन से साफ झलकता है कि उनका काव्य-दर्शन 'आस्थावादी' है और वे एकान्त स्वप्न-लोक के बदले, इसी संघर्ष-मय लोक-व्यवहार में मंगल तथा आनन्द के प्रकाश-स्फुटन के हिमायती हैं। लोक-मंगल की विधायिनी इस व्यवस्था को वे 'धर्म' मानते हैं और इसीलिए यह टिप्पणी की है कि व्यास के 'जय-काव्य' (महाभारत) में अधर्म का पराभव तथा धर्म की विजय प्रदर्शित हुई है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने अपनी मान्यता और भी स्पष्ट की है। 'धर्म' शक्तियों की निरन्तर विजय की सम्भावना को वे स्वीकार नहीं करते। विफलता में भी वे 'एक निराला ही विषण्ण सौन्दर्य' के दर्शन करते हैं और कहते हैं कि यह "गति (अधर्म के विरुद्ध धर्म का संघर्ष) आदि से अन्त तक सुन्दर होती है—अन्त चाहे सफलता के रूप में हो, चाहे विफलता के रूप में)।" 'रामायण' तथा 'महाभारत' में दोनों आर्ष कवियों ने पूर्णता के विचार से धर्म की गति का सौन्दर्य दिखाते हुए, उसका सफलता में पर्यवसान किया है।" तथापि, "यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासंध और कौरवों का दमन न हो सकता, तो भी राम-कृष्ण की गतिविधि में पूरा सौन्दर्य रहता।" किन्तु धर्म-शक्तियों के पराभव की सम्भावना को प्रशंसन-भाव से स्वीकार करते हुए भी आचार्य शुक्ल अन्तिम रूप से यही मानते हैं कि 'भगवान की पूर्ण कला का दर्शन' अधर्म तथा अत्याचार की पाशवी शक्तियों के पराभव में ही उपलब्ध होता है।[१७]

भारती के मन्दिर में गड़बड़ी—प्रस्तुत प्रसंग में, उन्होंने 'भीतरी और बाहरी सौन्दर्य, रूप-सौन्दर्य और कर्म-सौन्दर्य के मेल' पर बलाघात किया है। भारतीय काव्य के नायकों में रूप-सौन्दर्य के साथ कर्म-सौन्दर्य का जो सामंजस्य

१५. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ५२-५४।
१६. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १७४।
१७. वही, पृ० १७५।

प्रदर्शित किया गया है, वह इस सनातन धारणा का उन्मीलन करता है कि मनुष्य-जीवन का सौन्दर्य अविभाज्य है, वह 'रूप-सापेक्ष' तथा 'कर्म-सापेक्ष' दोनों है। शुक्लजी इस धारणा में विश्वास करते हैं। वे बहुत ठीक ही कहते हैं कि आज भी किसी कवि ने 'राम की शारीरिक सुन्दरता कुम्भकर्ण को और कुम्भकर्ण की कुरूपता राम को' प्रदान नहीं की है। इस सनातन धारणा का हनन वे प्रशस्य नहीं मानते। माईकेल मधुसूदनदत्त ने मेघनाद को अपने काव्य का 'रूप-गुण-सम्पन्न नायक बनाया', पर लक्ष्मण को 'कुरूप' बनाने का साहस वे भी नहीं कर सके। एक अन्य बंगला कवि नवीन-चन्द्र ने 'कुरुक्षेत्र' काव्य में कृष्ण को 'ब्राह्मणों के अत्याचार से पीड़ित जनता के उद्धार के लिए' एक 'क्षत्रिय महात्मा के रूप में' चित्रित किया। शुक्लजी "आर्ष काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूपवाले आदर्श पात्रों को,' 'अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा के झोके में,' 'एकदम कोई नया मनमाना रूप देना भारती के पवित्र मन्दिर में व्यर्थ गड़बड़ मचाना" मानते हैं।[१८]

आचार्य-प्रवर की साहसपूर्ण ईमानदारी श्लाघनीय है। प्राचीन आदर्शों से प्रतिबद्धता हमें आज कदाचित् पूर्णतः मान्य न हो, तोभी इतना निश्चित है कि उनके-जैसे आचार्य उनकी व्यवस्था में कतिपय स्थायी तत्त्वों की उपलब्धि करते हैं जो लोकमंगल के सम्पादन-हेतु, मानव-जाति की दीर्घ वंश-परम्परा में, स्पृहणीय समझे गये हैं।

साधनावस्था का बीजभाव— आचार्य शुक्ल प्रबन्ध-काव्य के मूल में किसी प्रधान प्रेरक भाव की वर्तमानता को रेखांकित करते हैं। जैसे किसी आश्रय के भीतर कोई एक भाव स्थायी-रूप में और अनेक भाव उसके संचारी रूप में सन्निहित रहते वैसे हैं, ही किसी प्रबन्ध-काव्य के प्रधान पात्र या नायक में कोई मूल प्रेरक भाव बीज-रूप में वर्तमान रहता है। शुक्लजी ने इस मूलभाव तथा शास्त्रों में प्रतिपादित स्थायी अथवा 'अंगी' भाव में भेद किया है —'इस बीच भाव को साहित्य-ग्रन्थों में निरूपित स्थायी भाव और अंगी भाव दोनों से भिन्न समझना चाहिए।' आनन्द की साधनावस्थावाले काव्यों का बीजभाव वे 'करुणा' को मानते हैं।[१९]

इस प्रसंग में, शुक्लजी ने तीन प्रकार के भावों का उल्लेख किया है— बीजभाव, स्थायीभाव और अंगीभाव। हमें भय है कि वे अपनी धारणा को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके हैं। आपाततः इन तीनों भावों में कोई अन्तर नहीं है। तथापि उनकी एक टिप्पणी इस विषय में स्थिति को आलोकित करती है—

---

१८. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १७७।
१९. वही, पृ० १७८।

"ऐसे बीजभाव की प्रतिष्ठा जिस पात्र में होती है, उसके सब भावों के साथ पाठकों की सहानुभूति होती है। अर्थात्, पाठक या श्रोता भी रस-रूप में उन्हीं भावों का अनुभव करते हैं जिन भावों की वह व्यंजना करता है।"[२०] अभिप्राय यह निकलता है कि 'बीजभाव' से स्थायी तथा अंगीभाव का प्रस्फुरण होता है। इस 'बीजभाव' की प्रकृति 'मंगल-विधायिनी' हो सकती है और अ-मंगल-विधायिनी भी। मंगल-विधायक बीजभाव द्वारा प्रवर्तित सभी भाव पाठकों द्वारा रस-रूप में आस्वादनीय होते हैं। क्योंकि उनसे तादात्म्य-स्थापन घटित हो जाता है। तथापि, प्रबन्ध के 'स्थायी' भाव और 'अंगी' भाव का भेद स्पष्ट नहीं हो पाया है।

शुक्लजी बताते हैं कि इस 'शुभ बीजभाव' की प्रेरणा से प्रवर्तित सभी प्रकार के भाव, चाहे वे तीक्ष्ण तथा उग्र ही क्यों 'न हों', 'सुन्दर' होते हैं और उनकी 'सुन्दरता की मात्रा उस बीजभाव की निर्विशेषता और व्यापकता के अनुसार होती है।' स्मरणीय है कि यहाँ भी शुक्लजी की लोक-सामान्य भाव-भूमि की मान्यता ही प्रतिबिम्बित होती है—'निर्विशेषता' और 'व्यापकता' में यही व्यंजना है।

उन्होंने 'करुणा' और 'प्रेम' को मंगल-विधायक भाव ठहराया है जिनमें पहले की गति लोक-रक्षा और दूसरे की गति लोक-रंजन की ओर उन्मुख रहती है। इसी कारण साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर प्रणीत काव्यों का बीज-भाव 'करुणा' ही वे बताते हैं—वाल्मीकीय 'रामायण' का बीजभाव 'मा निषाद' वाले छन्द से प्रारम्भ में ही व्यंजित होता है। तदनन्तर, उन्होने युक्तिपूर्ण रीति से यह प्रदर्शित किया है कि उस करुणा का आलम्बन वहाँ मूलतः लोक-संलग्न रहा है—"उसके उपरान्त भी बालकाण्ड के १५-वें सर्ग में इसका (करुणा का) आभास दिया गया है जहाँ देवताओं ने ब्रह्मा से रावण द्वारा पीड़ित लोक की दारुण दशा का निवेदन किया है। उक्त आदिकाव्य के भीतर लोक-मंगल की शक्ति के उदय का आभास ताड़का और मारीच के दमन के प्रसंग में ही मिल जाता है। पंचवटी से वह शक्ति जोर पकड़ती दिखाई देती है। सीताहरण होने पर उसमें आत्म-गौरव और दाम्पत्य प्रेम की प्रेरणा का भी योग हो जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि इस आत्म-गौरव और दाम्पत्य-प्रेम की प्रेरणा बीच से प्रकट होकर उस विराट् मंगलोन्मुखी गति में समन्वित हो जाती है। यदि राक्षस-राज पर चढ़ाई करने का मूल कारण केवल आत्म-गौरव या दाम्पत्य-प्रेम होता, तो राम के 'कालाग्नि-सदृश क्रोध' में काव्य का वह लोकोत्तर सौन्दर्य न होता।[२१]

---

२०. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १७६।
२१. वही, पृ० १८०।

आदि-काव्य की मूल प्रेरणा 'करुणा' का उपर्युक्त निदर्शन शुक्ल जी की लोक-मंगलोन्मुखी काव्य-दृष्टि पर सम्यक् आलोक डालता है। यही उनकी नैतिकता-बद्ध प्रतीतियों का भी परिचायक है। उनकी आस्थाएँ बद्धमूल हैं और उनकी उन्होंने पूरी सच्चाई तथा साहस के साथ उद्घोषणा की है।

सिद्धावस्था का बीजभाव—आ० शुक्ल ने इस विषय में अपना मन्तव्य पुनः स्पष्ट किया है। आनन्द की सिद्धावस्थावाले काव्य से उनका अभिप्राय ऐसे काव्य से है जहाँ आनन्द अपनी 'सिद्धावस्था' में दिखायी पड़ता है। उनकी टिप्पणी यहाँ पूर्णतः उद्धरणीय है—"आनन्द का ध्वज यहाँ चलता नहीं दिखाई पड़ता, गड़ा दिखाई पड़ता है। यहाँ नगाड़े की धमक, गर्जन-तर्जन और हुँकार नहीं; विपलव, ध्वंस और हाहाकार नहीं; वेग और तेज की तिग्मिता नहीं। यह दीप्ति, माधुर्य और कोमलता की स्निग्ध भूमि है, लहलहाते सरस प्रसार और परिमल-घटित पुष्प-हास का कलकंठ-कूजित क्षेत्र है; मद और उल्लास की मृदु-तरंग-मयी संगीत-धारा का मानस-लोक है। इस भूमि का प्रवर्तक भाव है—प्रेम।"[२२]

अतएव, आ० शुक्ल के मतानुसार, आनन्द की सिद्धावस्थावाले काव्यों का बीजभाव 'प्रेम' है। उन्होंने जिस ढंग से और जिस कथन-भंगी से ऐसे काव्यों का शील-निरूपण यहाँ संक्षेपतः किया है, वह उनकी गहरी रसज्ञता पर मनोरम आलोक प्रक्षिप्त करता है। ऐसे काव्यों में 'एक निराला आनन्द-लोक' खड़ा किया जाता है जो 'शुष्क धार्मिकों का स्वर्ग और कवियों का स्वप्न ठहरता है' —और जहाँ 'धर्म के सौन्दर्य का साक्षात्कार नहीं होता' अथच उनका मन 'कर्म की भावना में न लग कर, फल की ही भावना में लगता है।' इस कथन में, शुक्लजी की निजी वरीयता भी झलक पड़ती है, 'कर्म' की अपेक्षा 'फल' के भोग में संलग्न काव्य-प्रवृत्ति उनकी दृष्टि में निश्चित ही अवर कोटि की है। जैसा अभी कहा है, इस जाति के काव्यों का मूल 'प्रवर्त्तक भाव' है—प्रेम।[२३]

आ० शुक्ल ने इस 'काव्य-भूमि' के आभ्यन्तर पक्ष की एक विशेषता का उल्लेख किया है—यद्यपि प्रेम-दशा के भीतर सुखात्मक एवं दुःखात्मक, दोनों प्रकार के भाव सन्निविष्ट होते हैं, तथापि वे सभी आनन्द-दायक सिद्ध होते हैं। प्रेम की आनन्दस्वरूपता साहित्य-मीमांसकों को भी मान्य रही है। शुक्लजी ने बड़ी ही अभिराम भंगिमा में इस तथ्य का कथन किया है—'वियोग-काल की सारी अश्रुधारा इस आनन्द-स्वरूप को नहीं धो सकती; अश्रुधारा के तल में आनन्द की रेखाएँ दिखाई पड़ती रहती हैं। विरह में आनन्द नष्ट नहीं हुआ

---

२२. रस-मीमांसा, पृ० ७३।

२३. वही, पृ० ७४।

रहता, केवल 'आवृत' रहता है। विरहियों का रोना एक प्रकार का हँसना ही है। × × × सारांश यह है कि प्रेम-काल जीवन का आनन्द-काल ही है। इसी से, भक्तिमार्ग में वल्लभाचार्य जी ने भक्ति या प्रेम ही को साध्य कह दिया है।"[२४]

'सिद्धावस्था की प्रशान्त भूमि' पर चलनेवाले कवियों का बीजभाव 'प्रेम-तत्त्व' को मानने का औचित्य प्रदर्शित करते हुए, आ० शुक्ल ने कहा है कि इस भूमि में 'पालन और रंजन', इन्हीं दो वृत्तियों का पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होता है। पहली वृत्ति का संस्थापक भाव 'वात्सल्य' है और दूसरी का 'दाम्पत्य'। अन्य शब्दों में, 'वत्सल' और 'शृङ्गार', इन्हीं दो भावों अथवा रसों का प्राचुर्य ऐसे काव्यों में उपलब्ध होता है जहाँ 'उपभोग-पक्ष' का ही प्राधान्य है।

प्रेम के निर्बाध 'शासन' की वर्तमानता का उल्लेख करते हुए शुक्ल जी ने इस तथ्य को रेखांकित किया है कि उपभोग-पक्षवाले काव्यों में सभी भाव प्रेम-परतन्त्र होकर ही आ सकते हैं, केवल 'हास्य और आश्चर्य नामक आनन्दात्मक भाव अलबत स्वतन्त्र विचर सकते हैं।' 'आश्चर्य' का प्रादुर्भाव 'असामान्यत्व' से होता है। विवेच्य काव्यों में आश्चर्य का विषय शोभा, सौन्दर्य, दीप्ति, आत्मोत्सर्ग, विरह-वेदना इत्यादि का 'असामान्यत्व' ही है। यह अधिकतर 'रंजन' का अंग होकर आया करता है। विभाव-पक्ष (आलंबन तथा उद्दीपन) के वर्णन में शोभा, दीप्ति, प्रफुल्लता, सौकुमार्य इत्यादि की असामान्यता का प्रदर्शन 'रंजन की अनुभूति' में योग देता है। सुतराम् शृङ्गारी काव्यों में ऐसे असामान्यत्व-वर्णन की प्रायेण अधिकता मिलती है। 'भोज ऐसे राजाओं के दरबार में रत्नों की जगमगाहट और यश की चाँदनी फैलानेवाली वाणी के बहुत ही अनुरंजनकारी संग्रह' का कथन करते हुए, आ० शुक्ल ने ऐसे 'सजावट और अनूठेपन' से परिपूर्ण काव्यों को साहित्य के लिए हितावह नहीं बताया है। विभाव-पक्ष का असामान्यत्व भाव-पक्ष में भी उतर आता है (जैसे बिहारी की विरहिणी नायिका का साँस लेते समय छः-सात हाथ आगे-पीछे झूलने लगना आदि)। ऐसी रचनाएँ उनके अनुसार अनिष्टकर मानी जायेंगी।

माधुर्य का वैशिष्ट्य—आ० शुक्ल ने प्रस्तुत सन्दर्भ में 'माधुर्य-पक्ष' का सविशेष उल्लेख किया है। उनका कथन है कि 'माधुर्य-गुण' का स्वतन्त्र आकर्षण होता है जो असामान्यता, दीप्ति, चमत्कार आदि से सर्वथा निरपेक्ष होता है। यहाँ उन्होंने 'साहित्य-दर्पण' से 'सर्वावस्थाः-विशेषेषु माधुर्यं रमणीयता' वाली परिभाषा उद्धृत की है और यह प्रतिपादित किया है कि "अतीत की

---

२४. रस-मीमांसा, पृ० ७५।

स्मृति में, कौमार अवस्था के परिचित पुराने पेड़ों और उजाड़ टीलों में, किसानों के झोपड़ी में, काई और कीचड़-भरे तालों में, चरकर लौटती हुई गायों के धूल उड़ाते हुए झुंड में, गड़ेरियों और ग्वालों की कमली में, ऊसर की पगडंडियों में मन को लीन करनेवाला जो गुण है, वह 'माधुर्य' है। ××× इस माधुर्य की अनुभूति के स्वरूप को दीप्ति और सज्जा की अनुभूति के स्वरूप से सर्वथा भिन्न समझना चाहिए।"[२५]

आ० शुक्ल ने उक्त कथन में 'माधुर्य' की विश्वनाथ-वर्णित परिभाषा को गलत ढंग से, मनमाने ढंग से अपनी मान्यता के परिपोष-हेतु नियोजित किया है। स्मरणीय है कि विश्वनाथ ने 'माधुर्य' का परिगणन नायिका के अट्ठाइस सात्विक अलंकारों के अन्तर्गत कराया है। शुक्लजी ने सन्दर्भ से 'माधुर्य' को काट कर, उसकी परिभाषा उधार ले ली है और 'सर्वावस्थाविशेषेषु'—सभी अवस्थाओं में रमणीय प्रतीत होने के बिन्दु को इस प्रकार साधीरणकृत कर दिया है कि उसके भीतर किसानों की झोपड़ियों, ऊसर की पगडंडियों इत्यादि का भी अन्तर्भाव हो गया है। अपने अभीष्ट मंतव्य की सिद्धि के लिए अपनायी गयी 'माधुर्य' की यह परिभाषा 'प्रसिद्धि-विरुद्ध' दोष के अन्तर्गत आ सकती है।

रूप-सौन्दर्य के अन्तर्गत प्रायः समाविष्ट 'दीप्ति' तथा 'माधुर्य' गुणों में उन्होंने जो भेद प्रदर्शित किया है, वह उनकी असाधारण रसज्ञता की विवृत्ति करता है। "दीप्ति चकित और स्तंभित करती है। ××× रूप में लोभ उत्पन्न करनेवाली या लुभानेवाली वस्तु, मन को पास खींचनेवाली शक्ति माधुर्य है। दीप्ति-मात्र में चिपक नहीं होती। लोग, न जाने, कितने दमकते हुए रूप देखते हैं, चकित होते हैं, पर सब जगह उनका मन नहीं चिपका करता।"[२६] 'चिपकाने' वाली वह शक्ति 'माधुर्य' ही है—शुक्लजी के इस कथन में गहरी रस-मर्मज्ञता उतर आयी है। उनके अनुसार 'आसक्ति' इसी माधुर्य की देन है।

नायिका-सुलभ सात्विक अलंकारों के क्षेत्र से उधार लेकर, उन्होंने 'माधुर्य' को जो व्यापक अर्थ प्रदान किया है, उसमें उनकी निजी मान्यता का प्रतिफलन हुआ है—यह हम अभी कह चुके हैं। प्रस्तुत प्रकरण के पर्यवसान में वे पुनः वहीं लौट आये हैं और कहा है—"भव-धारा के भीतर-भीतर चलनेवाली जो भाव-धारा है, मनुष्य के हृदय को द्रवीभूत करके उसमें मिलानेवाली भावना माधुर्य की ही है। इस भाव-योग (कविता) की चरम-साधना से हृदय को जो मुक्तावस्था प्राप्त हो सकती है, वह इसी माधुर्य की अनुभूति के सहारे। भेद में

२५. रस-मीमांसा, पृ० ८६।

२६. वही, पृ० ८६।

अभेद की रसात्मक प्रतीति इसी प्राधुर्य का स्वाद है जिसे हमारे यहाँ के भक्तों ने भगवान् का प्रसाद बताया है—ऐसा प्रसाद जिससे आत्मा का पोषण होता है।"[२७]

'माधुर्य' का ऊर्ध्वीकरण—एक विशिष्ट शृङ्गारी प्रसंग से 'माधुर्य' को ग्रहण कर शुक्लजी ने उसका नव-संस्कार सम्पादित किया है और अपने काव्य-दर्शन की समाहार-शक्ति की अपूर्वता का निरूपण किया है। रूप-सौन्दर्य के व्यक्तिगत 'माधुर्य' को उसकी सामान्य मादकता से काट कर वे चराचर विश्व के निखिल रूपों तथा व्यापारों में उसे पहले सन्निविष्ट करते हैं और तदनन्तर सृष्टि में प्रवहमान भाव-धारा में मनुष्य के हृदय को निमज्जित कर देनेवाली शक्ति की पहचान इसी 'माधुर्य' में करते हैं जिसे ही वे 'भेद में अभेद की रसात्मक प्रतीति' का कारण बताते हैं और अन्ततः, उसे आत्मा का सम्पोषण करने वाला 'भगवान् का प्रसाद' घोषित करते हैं। सुतराम्, कहाँ पुराने आचार्यों द्वारा प्रस्थापित नायिका का एक विशिष्ट अलंकार और कहाँ विश्व में 'अभेद-वाद' का प्रतिष्ठापक यह सार्वभौम 'माधुर्य'! सचमुच आचार्य-प्रवर का यह 'अद्वैतवादी' काव्य-दर्शन श्लाघनीय है। हृदय की मुक्तावस्था को इसी 'माधुर्य' की अनुभूति का प्रतिफल बता कर, उन्होंने रसानुभव को अन्तिम विश्लेषण में 'माधुर्य' से जोड़ दिया है—जो अपने चरम स्वरूप में एक इन्द्रियातीत सत्ता है—क्योंकि यह मुक्तावस्था ही 'रस-दशा' है। रसचिन्तन में प्रायः 'आत्मा' के उल्लेख से बचते हुए भी, शुक्लजी ने यहाँ 'हृदय-तत्त्व' एवं 'आत्म तत्त्व' का ग्रंथि-बन्धन करा ही दिया है। यह भी उनकी सामंजस्याभिलाषिणी प्रतिभा का द्योतक है।

(घ)

बिम्ब-ग्रहण—आ० शुक्ल की मान्यता है कि कविता केवल 'अर्थ-ग्रहण' नहीं कराती अपितु 'बिम्ब-ग्रहण' भी कराती है। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' वाले निबन्ध में उन्होंने 'दृश्य' की परिभाषा यों की है: "बाह्यकरणों के सब विषय अन्तःकरण में 'चित्र'-रूप से प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। इसी प्रतिबिम्ब को हम 'दृश्य' कहते हैं।" इस 'प्रतिबिम्ब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है। यह ग्रहण दो रूपों में होता है—'अर्थ-ग्रहण' और 'बिम्ब-ग्रहण'। स्पष्टतः 'बिम्ब-ग्रहण' कराने के लिए 'चित्रण' आवश्यक होता है। व्यवहार तथा शास्त्र में अर्थ-ग्रहण पर्याप्त होता है, किन्तु काव्य में अर्थ-बोध मात्र निष्प्रयोजन है क्योंकि काव्य का उद्देश्य पाठक के भीतर किसी भाव अथवा

---

२७. रस-मीमांसा, पृ० ८७।

रागात्मक प्रतिक्रिया को जगाना है।[२८] यह भावोद्बोध ऐसे सघन, संश्लिष्ट चित्रण से ही सम्भव है जो प्रतिपाद्य वस्तु का सजीव, सटीक बिम्ब हमारे मानस-नेत्रों के समक्ष उपस्थित कर सके। आ० शुक्ल ने इस सम्बन्ध में बताया है कि वाल्मीकि, कालिदास इत्यादि पुराने कवियों ने जो प्रकृति के रूपों अथवा व्यापारों का चित्रण किया है, उसमें वर्ण्य-दृश्य के सूक्ष्म ब्यौरों का संश्लिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। आ० शुक्ल का कथन है कि "बिम्ब-ग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है। बिना अनुराग के ऐसे सूक्ष्म ब्यौरों पर न दृष्टि जा ही सकती है, न रम ही सकती है।'[२९]

स्मरणीय है कि बिम्ब-ग्रहण का सम्बन्ध मुख्यतः काव्य के 'विभाव'-पक्ष से होता है क्योंकि उसी के आश्रयण से किसी भाव अथवा अनुभूति की व्यंजना होती या हो सकती है। लेकिन, अभीष्ट भाव का भी चित्रण इस प्रकार होना चाहिए कि उसका सटीक स्वरूप हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाय। अतएव, बिम्ब-ग्रहण काव्य के दोनों पक्षों, विभाव तथा भाव से सम्बद्ध है। आ० शुक्ल का प्रस्तुत प्रतिपादन पाश्चात्य 'इमेजरी' वाले निरूपण से प्रभावित माना जा सकता है।

(ङ)

काव्य और सूक्ति—'चमत्कारवाद' के विवेचन-संदर्भ में आ० शुक्ल ने 'काव्य' और 'सूक्ति' में भेद प्रदर्शित किया है। अद्भुत, वैचित्र्यपूर्ण कथन जिसमें निविष्ट विदग्धता अथवा अनूठापन हमें आकर्षित करे, 'सूक्ति' है। इसमें ऐसी क्षमता नहीं होती कि वह हमारे किसी भाव या 'मार्मिक अन्तर्वृत्ति' को जागृत कर सके। इसके विपरीतवाला वह कथन 'काव्य' है जो हमारे भीतर किसी भाव का रमाने वाला उद्रेक कर सके। वे कहते हैं—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।"[३०] 'काव्य' और 'सूक्ति' का यह पार्थक्य-निरूपण सटीक है।

शुक्ल जी इस बात से अवगत हैं कि कविता में ऐसे कथन उपलब्ध हैं

---

२८. चिन्तामणि, दूसरा भाग (२००२), पृ० १-२।

२९. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११८।

३०. वही, पृ० १३७।

जिनमें आपाततः 'काव्य' और 'सूक्ति' दोनों के लक्षण सन्निविष्ट हों। ऐसे स्थलों के लिए उनकी व्यवस्था है कि "यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों, तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है।"[३१]

यहाँ आचार्य आनंदवर्धन की उस व्यवस्था का स्मरण हो आता है जिसमें उन्होने 'वाच्य' और 'व्यंग्य' अर्थ के प्राधान्य के निर्धारण के लिए 'चारुत्व' अथवा रमणीयता के 'उत्कर्ष' को प्रमाण माना है—'चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धना हि वाच्य-व्यंग्ययोः प्राधान्य-विवक्षा।'[३२]

सहृदय और तमाशबीन—शुक्ल जी ने 'सहृदय' और 'तमाशबीन' में भेद किया है। कई स्थलों पर उन्होने इसकी चर्चा की है। इस चर्चा का सम्बन्ध मुख्यतया 'असाधारणत्व' अथवा 'अनूठेपन' से है जिसकी उपलब्धि प्रकृति और काव्य दोनों में होती है। जो लोग "अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं और अपना प्रेमानन्द केवल इन शब्दों में प्रकट करते हैं कि 'अहा हा! कैसे लाल-पीले और सुन्दर फूल खिले हैं × × × वे प्रकृति के सच्चे उपासक नहीं, ये तमाशबीन हैं।" शुक्ल जी का बलाघात इस बात पर है कि 'तड़क-भड़क, सजावट, या चमत्कार' के शौकीन 'सहृदय' नहीं 'तमाशबीन' कहे जायेंगे।

कविता में 'असाधारणत्व' अथवा 'चमत्कार' की उत्पत्ति मुख्यतया शिल्प के अनूठेपन से होती है। अतिशयोक्तिपूर्ण वाक्यों तथा ऊहात्मक प्रौढ़ोक्तियों में यह चमत्कार उपलब्ध होता है। ऐसे स्थलों पर 'सिर हिलानेवाले' 'वाह! वाह!!' करनेवाले पाठक 'तमाशबीन' हैं, 'सहृदय' नहीं। शिल्प के अतिरिक्त 'वस्तु' का 'असाधारणत्व' भी ऐसे चमत्कार की सृष्टि करता है और उसके प्रशंसक तमाशबीन ही कहे जायेंगे।

इस प्रसंग में आ० शुक्ल ने नारायण पंडित के इस कथन की भी हँसी उड़ायी है कि रस का सार-तत्व चमत्कार है और इसी कारण, सर्वत्र 'अद्भुत रस' ही विद्यमान है।[३३] शुक्ल जी ने यहाँ रस के सारभूत 'चमत्कार' को

---

३१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १३७।

३२. हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ११४।

३३. 'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार-सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।'
—साहित्य दर्पण (मोतीलाल), पृ० ४८

गलत ढंग से गृहीत किया है, क्योंकि रस-शास्त्र में 'चमत्कार' 'अनूठी बात' का पर्याय नहीं है, प्रत्युत वह रसानुभूति की प्रकृति का व्यंजक पद है जिसे विश्वनाथ ने 'लोकोत्तर-चमत्कार-प्राणः' कह कर व्यक्त किया है और जिसे वृत्ति में यह कह कर समझाया है—

'अत एवाहुः—विलक्षण एवायं कृति-ज्ञप्ति-भेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद् व्यापारः इति। अत एव हि रसनास्वादन-चमत्करणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशा इति।'[३४]

—'रसानुभव कार्य तथा ज्ञाप्य से विलक्षण (भिन्न) अनिवर्चनीय 'स्वादन' नामक व्यापार है जो रस का साक्षात्कार कराता है। अतएव, इस प्रसंग में रसन, आस्वादन, चमत्करण प्रभृति पदों का प्रयोग भी विलक्षण (सामान्य से भिन्न) होता है।'

अर्थात्, शुक्ल जी ने प्रस्तुत संदर्भ में 'चमत्कार' शब्द का जो ग्रहण 'अनूठी बात' के अर्थ में किया है, वह सर्वथा भ्रामक तथा भ्रान्तिजन्य है। रस का 'चमत्कार' 'असाधारणत्व' के आश्रित नहीं है।

तथापि जिसे 'असाधारणत्व' उन्होंने समझा-समझाया है, उसके विषय में उनकी मान्यता पूर्णतः युक्तिसंगत है। वे मानते हैं कि भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए काव्य में कहीं-कहीं 'असाधारणत्व' अवश्य अपेक्षित होता है, किन्तु सर्वत्र नहीं। 'प्रसंग-प्राप्त' असाधारण वस्तुओं का वर्णन ग्राह्य है, किन्तु वे सावधान करते हैं कि 'काव्य-क्षेत्र अजायबखाना या नुमाइशगाह नहीं है।'

काव्य और कल्पना—आ० शुक्ल कविता में भाव-तत्त्व के परिपोष-हेतु कल्पना का उपयोग वांछनीय समझते हैं। इसी कारण, उन्होंने कवियों की उस चमत्कार-प्रवण प्रवृत्ति की निन्दा की है जिससे अनुप्राणित होकर, वे नारी की जाँघों के लिए हाथी की सूंड़, उसकी कटि की क्षीणता के व्यंजनार्थ सिंह-सिंहनी की कमर इत्यादि जैसी भावशून्य कल्पनाओं का आश्रयण करते हैं। शुक्ल जी काव्य में 'रस' को ही 'आत्मभूत' मानते हैं। प्राक्तन आचार्यों के समान, वे कल्पना द्वारा आनीत अलंकार-विधान को रसादि का उपकारक मानते हैं क्योंकि ऐसे सन्दर्भों में कल्पना को 'कवि की अनुभूति के आदेश' का पालन करना पड़ता है। इस सन्दर्भ में उन्होंने रीति-कवियों की उपमा, उत्प्रेक्षादि की अनूठी, 'अद्भुत-अद्भुत उक्तियों द्वारा' 'बाजीगर का तमाशा' खड़ा करने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की है।

साम्यमूलक अलंकारों की योजना के सम्बन्ध में आ० शुक्ल ने तीन प्रकार के साम्यों का उल्लेख किया है: सादृश्य (रूप की समानता), साधर्म्य (धर्म

---

३४. साहित्य दर्पण (मोतीलाल), पृ० ५१।

अर्थात् गुण-क्रिया आदि की समानता) और शब्द-साम्य। इनमें से शब्द-साम्य का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः अनुप्रास, यमकादि शब्दालंकारों से है। शुक्ल जी ने इस विषय में केशव जैसे 'चमत्कारवादी' कवियों का उदाहरण दिया है। 'सादृश्य' के सम्बन्ध में उन्होंने ठीक ही कहा है कि काव्य में उसकी योजना 'बोध या जानकारी' कराने के लिए नहीं की जाती, बल्कि 'सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता इत्यादि की भावना जगाने' के लिए की जाती है। अधिकांश कवियों ने रूप-रंग की समानता के आधार पर ही 'कुछ भद्दे उपमान' नियोजित किये हैं। उदाहरणतः, केवल 'पतलापन' को लेकर किसी सुन्दरी तरुणी की कमर को सिंहिनी की कमर अथवा भिड़ की कमर से उपमित करना श्लाघ्य नहीं समझा जाना चाहिए। शुक्ल जी की इस सम्बन्ध में टिप्पणी उल्लेखनीय है—"× × × यह न सोचा कि भिड़ की कमर का चित्र कल्पना में आने से किसी प्रकार की सौन्दर्य-भावना मन में न आएगी और सिंहिनी के सामने आ जाने पर तो जो कुछ सौन्दर्य-भावना पहले से जगी भी होगी, वह भी भाग खड़ी होगी।" 'साधर्म्य' के विषय में भी उक्त न्याय-ही प्रसक्त होता है। आ० शुक्ल के इस कथन में पर्याप्त सार है कि काव्य में नियोजनीय अप्रस्तुत अथवा उपमान सौन्दर्य-माधुर्य इत्यादि की भावना में 'कुछ वृद्धि' करने के उद्देश्य से ही लाये जाने चाहिए। इसी कारण उन्होंने उपमानों के चयन में 'प्रभाव-साम्य' पर बल दिया है और पन्त तथा प्रसाद की कुछ अप्रस्तुत-योजना की प्रशंसा की है।[३५]

(झ)

अलंकार-योजना का लक्ष्य—आ० शुक्ल पुराने आचार्यों के समान, अलंकारों को वर्णन की प्रणालियाँ मानते हैं। उनका कथन है—"सूक्ष्म दृष्टि वालों ने काव्यों के सुन्दर-सुन्दर स्थल चुने और उनकी रमणीयता के कारणों की खोज करने लगे। वर्णन-शैली या कथन की पद्धति में ऐसे लोगों को जो-जो विशेषताएँ मालूम होती गईं, उनका वे नामकरण करते गये।" ऐसे ही नाना अलंकारों का निरूपण होता गया। आ० शुक्ल मानते हैं कि काव्यों में अब भी अनेक रमणीय स्थलों की खोज की जा सकती है और उसके आधार पर अन्य नये अलंकार भी निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।[३६]

उनकी निश्चित मान्यता है कि 'अप्रस्तुत वस्तु-योजना' के रूप में आने वाले अलंकार यथा—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि; 'वाक्य-वक्रता' के रूप में आने वाले अलंकार, यथा—अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति इत्यादि; और 'वर्ण-

---

३५. साहित्य दर्पण (मोतीलाल), पृ० २४०-४१।

३६. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १४८।

विन्यास' के रूप में आने वाले अलंकार, यथा—अनुप्रास आदि—इन सभी का लक्ष्य है—'भाव या भावना का उत्कर्ष-साधन।' 'सादृश्य' अथवा 'साधर्म्य' का जो कथन ऊपर हो चुका है, उसके सम्बन्ध में भी वे स्पष्ट कहते हैं कि सादृश्य या साधर्म्य दिखाना उपमा, उत्प्रेक्षा इत्यादि का 'प्रकृत लक्ष्य नहीं है।' उपमानों की योजना का वास्तविक लक्ष्य वक्तव्य 'अर्थ' के सौन्दर्य अथवा उत्कर्ष की भावना बढ़ाना ही है। जयदेव के प्रसिद्ध श्लोक, 'अंगीकरोति यः काव्यं इत्यादि' का उन्होने उपहास किया है।[37] वर्ण्य-वस्तु और वर्णन-प्रणाली को वे अलग-अलग वस्तु मानते हैं। अतः अलंकार वर्ण्य नहीं, अपितु वर्णन की पद्धतियाँ हैं; वे 'काव्य-शोभाकर' अथवा 'शोभातिशायी' ही कहे जा सकते हैं जैसा प्राचीनों ने कहा है।

इस प्रसंग में आचार्य शुक्ल ने निर्देश किया है कि 'स्वभावोक्ति', 'उदात्त' तथा 'अत्युक्ति' वस्तुतः अलंकार नहीं हैं। 'स्वभावोक्ति' की चर्चा करते हुए, उन्होंने मम्मट, राजानक रुय्यक तथा दण्डी की परिभाषाएँ उद्धृत की हैं और यह दिखाया है कि उसका ठीक-ठीक लक्षण-निरूपण हो नहीं सका है। उनके मतानुसार "वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं, रस-व्यवस्था का विषय है।" 'स्वभावोक्ति' का प्रकृत विषयवस्तु-निर्देश ही माना गया है जो अलंकार का धर्म नहीं है। मम्मट के अनुसार, यदि यह भी मान लिया जाय कि 'बालकों आदि की निज कीं क्रिया या रूप का वर्णन स्वाभावोक्ति है', तौभी स्थिति यह उपपन्न होती है कि वात्सल्य में 'बालक के रूप आदि का वर्णन आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत और उसकी चेष्टाओं का वर्णन उद्दीपन-विभाव के अन्तर्गत' उपन्यस्त होगा। अर्थात् वह सब 'वस्तुनिर्देश' ही होगा—बालक के रूप तथा क्रिया आदि का वर्णन। अतएव शुक्लजी की टिप्पणी है कि "प्रस्तुत वस्तु की रूप-क्रिया आदि के वर्णन को रस क्षेत्र से घसीटकर, अलंकार-क्षेत्र में हम कभी नहीं ले जा सकते।"

निष्कर्ष रूप में वे कहते हैं कि 'स्वाभावोक्ति' 'अलंकारों के भीतर आ-ही नहीं सकती।'[38] हमें भी ऐसा ही मान्य है।

रहस्यवादी कल्पना के चार क्षेत्र—रहस्यवाद के परीक्षण-प्रसंग में आचार्य शुक्ल ने कल्पना के चार क्षेत्रों का निर्देश किया है। रहस्यवादी रचनाओं में उपलब्ध 'अज्ञात की लालसा' का विरोध करते हुए, उन्होंने कहा है कि मनुष्य अधिकाधिक परिमाण में सुख तथा सौन्दर्य की उपलब्धि करना चाहता है। इस

---

३७. 'अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णम् ज्वलनंकृती ॥'

३८. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १४६-४७।

'पूर्णता' की उपलब्धि के लिए भावना या कल्पना को चार क्षेत्र मिल सकते हैं—

(१) इस भूलोक के बाहर, पर व्यक्त जगत् के भीतर ही किसी अन्य लोक में। (२) इस भूलोक के भीतर ही, पर अतीत के क्षेत्र में। (३) इस भूलोक के भीतर ही, पर भविष्य के गर्भ में। (४) इस गोचर जगत् के परे और अव्यक्त के क्षेत्र में। इन्हीं क्षेत्रों के भीतर मनुष्य अपने साथ सुख-सौन्दर्य और मंगल की भावना को पूर्णता अथवा पराकाष्ठा तक पहुँचाने का न्यूनाधिक प्रयास करता रहा है। शुक्लजी ने बड़ी सफाई के साथ इन चतुर्विध क्षेत्रों में मानवी लालसा के संक्रमण करने और अभीष्ट प्राप्त करने की प्रवृत्ति का निरूपण किया है।

पहले क्षेत्र का चुनाव सबसे पहले मनुष्य ने किया। इसी पृथ्वी पर रहते हुए भी, उसने व्यक्त जगत् की अनन्तता का अनुभव किया और आकाश में दृश्यमान् नक्षत्रों के रूप में अनेक लोकों की अवस्थिति का उसे सहज में भीतरी बोध हुआ। उन्हीं में उसे स्वर्ग आदि के स्थित होने की भावना हुई जहाँ अनन्त भाव-सौन्दर्य तथा अमिश्रित, अनाविल आनन्द की विद्यमानता की उसे प्रतीति हुई। धर्म और काव्य, दोनों में इस भावना का उपयोग हुआ। मानवी कल्पना के विचरण का दूसरा क्षेत्र इसी पृथ्वी पर खोजा गया, किन्तु अतीत के गर्भ में। इस प्रकार, प्राचीन आख्यानों, इतिहासों तथा पुराणों मे वर्णित कथाओं के आलोक में मनुष्य ने अतीत जीवन के सुख-सौन्दर्य के स्वर्णिम चित्र-फलकों की भावना की, जिसका निबन्धन साहित्य में बहुधा हुआ है। इन दो क्षेत्रों में सुख तथा आनन्द की पूर्णता की खोज को शुक्लजी स्वाभाविक मानते हैं। इस भू-लोक के भीतर ही, किन्तु भविष्य के गर्भ में सुख-सौन्दर्य तथा मंगल-क्षेम की खोज की। तीसरी प्रवृत्ति को वे आधुनिक युग की सृष्टि मानते हैं। धर्म, राजनीति इत्यादि के कारण मानव-जाति में व्याप्त विषमता, उत्पीड़न आदि के परिहार की भावना तथा प्रयत्न के साथ आशा एवं उत्साह का वर्णन करने की प्रेरणा कवियों को भी हुई और उन्होने अनागत भविष्य की सुन्दर, सुखद कल्पना में अपनी स्फूर्तिमयी वाणी का विनियोग किया। आचार्य शुक्ल सामान्यत: इस काव्य-प्रवृत्ति का अनुमोदन करते हैं, किन्तु जब यह प्रवृत्ति अतिरंजनापूर्ण होकर 'भविष्य की उपासना या भविष्य का प्रेम' का आयाम ग्रहण कर लेती है, तब वे इसे हितावह नहीं मानते।

अतीत तथा भविष्य, इनके प्रति मनुष्य के लगाव अथवा 'राग' के विषय में शुक्लजी ने स्पष्ट निरूपण किया है कि अतीत का अनुराग मानव स्वभाव का सहज गुण है क्योकि 'अतीत का और हमारा साहचर्य बहुत पुराना है।' किन्तु, भविष्य के 'राग' के प्रति उनकी अभिवृत्ति सहानुभूतिपूर्ण नहीं है। अतीत को हम इसलिए प्यार करते हैं कि हम उसे जानते हैं। लेकिन 'भविष्य को

हम नहीं जानते, उसकी हमारी जान-पहचान तक नहीं। उसके साथ प्रेम कैसा ? परिचय के बिना प्रेम हम नहीं मानते। प्रेम के लिए परिचय चाहिए—'चाहे पूरा चाहे अधूरा।'[३९] शुक्लजी के इस निरूपण में पर्याप्त बल है। उन्होंने पहले ही कहा है कि उपयोगिता वा अनुपयोगिता का विचार छोड़कर, वे 'शुद्धकला की दृष्टि से' मनुष्य की 'रागात्मिकता प्रकृति के स्वरूप' का विचार कर रहे हैं, 'मनुष्य का हृदय वास्तव में जैसा है, वैसा मानकर हम चल रहे हैं।'[४०]

इस कथन की व्यंजना स्पष्ट है : हमारा हृदय निसर्गतः अतीत से अनुराग करता है क्योंकि अतीत हमें लुभावना तथा आकर्षक दिखायी देता है, और भविष्य के प्रति हमारा नैसर्गिक आकर्षण नहीं होता क्योंकि वह अज्ञात होता है। किन्तु हमारे विचार से मनुष्य का यह भी स्वभाव है कि वह वर्तमान से ऊब-कर, अतीत के ज्ञात मंगल के आधार पर, सुखमय भविष्य की भी कल्पना करता है और उस कल्पना में स्फूर्ति तथा आनन्द का अनुभव करता है। उसके स्वभाव के इस पक्ष की भी एकान्त उपेक्षा नहीं की जा सकती। हाँ, यदि यह 'भविष्य उपासना' हमें निष्क्रिय बना दे, तब अवश्य वह चिन्त्य स्थिति होगी, लेकिन निष्क्रियता वाली आपत्ति तो 'अतीत-राग' के विषय में भी उठायी जा सकती है। फिर भी, ऐसा लगता है कि अतीत के चित्रण से हमें, भविष्य के चित्रण की अपेक्षा अधिक स्फूर्ति तथा विश्वास की उपलब्धि हो सकती है क्योंकि वंशानुगत दीर्घ परिचय के कारण, उसका एक मूर्त्त बिम्ब हमारे मानस-पटल पर अंकित हो गया है।

आचार्य शुक्ल ने अन्त में इस गोचर जगत् के परे अभौतिक तथा अज्ञात के क्षेत्र में विचरणशील कल्पना का सविस्तार विवेचन किया है और इसी क्षेत्र में रमनेवाली कल्पना से अपरिहार्यतया संलग्न 'रहस्यवाद' की भूरिशः आलोचना की है।

इस प्रसंग में आचार्य शुक्ल की एक टिप्पणी बड़े महत्व की बन पड़ी है। उनका कथन है कि भविष्य का प्रेम "वास्तव में प्रस्तुत जीवन का प्रेम है जो आशा का संचरण करा के कवि को भविष्य के सुख-सौन्दर्य के चित्रण में प्रवृत्त करता है।" अव्यक्त, अज्ञात लोक का प्रेम भी इसी तरह का प्रेम है। "वास्तव में यह इसी जगत् के सुख-सौन्दर्य की आसक्ति या प्रेम है जो संचारी के रूप में आशा या अभिलाष का उन्मेष करके, इस सुख-सौन्दर्य को किसी अज्ञात या अव्यक्त क्षेत्र में ले जाकर पूर्ण करने की ओर प्रवृत्त करता है।" अतः

---

३९. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ८२-८५।
४०. वही, पृ० ८४।

वे मनोविज्ञान तथा साहित्य की दृष्टि से, 'अज्ञात की लालसा' को कोई भाव नहीं मानते। "वह केवल ज्ञात की लालसा है जो भाषा की छिपाने वाली वृत्ति के सहारे 'अज्ञात की लालसा' कही जाती है।"[४१]

उदारतावादी दृष्टि—आचार्य शुक्ल जीवन में मर्यादा के पक्षधर हैं। प्रकृति के व्यापारों से 'मार्मिक दृष्टि' वाले कवियों की गूढ़तर व्यंजनाएँ ग्रहण करने की क्षमता को रेखांकित करते हुए, उन्होंने नदी का दृष्टान्त लिया है। हरियाली तथा प्रफुल्लता का विधान करने के लिए नदी का वर्षाकालीन विप्लवशीलता का परित्याग कर कुछ काल तक 'एक बँधी हुई मर्यादा के भीतर' बहती रहना आवश्यक होता है। लोक-जीवन की धारा, इसी प्रकार जब कुछ काल तक 'एक बँधे मार्ग' पर चलती रहती है, तभी सभ्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास सम्भव होता है। अभिप्राय यह है कि शुक्लजी जैसे जीवन में वैसे काव्य मे भी संयम तथा मर्यादा के पोषक हैं।

तथापि यह समझना भ्रामक होगा कि वे एकान्त पुरातनवादी हैं। वे ज्ञानक्षेत्र के वर्तमान विकास के प्रति जागरूक हैं और नव्य-नवीन तथ्यों के काव्य में चित्रण के प्रति उदार तथा सहानुभूतिशील हैं। उनका एक ही प्रतिबन्ध है—यह कि उन नवोन तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का 'मूर्त और सजीव चित्रण' काव्य में इस प्रकार सम्पादित हो कि वे 'हमारे किसी भाव के आलम्बन' बन सकें। प्रत्यक्ष है कि शुक्लजो कविता में भाव के उद्बोधन को वरीयता प्रदान करते हैं जिसके निमित्त 'विभाव' प्राचीन, नवीन कुछ भी हो सकते हैं।

(ञ)

वाच्यार्थ और रमणीयता—वर्तमान गवेषणा हम इस परीक्षा से समाप्त करना चाहते हैं कि आचार्य शुक्ल 'काव्य की रमणीयता' की स्थिति कहाँ मानते हैं—वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में ? उनका 'बेधड़क उत्तर यही है कि वाच्यार्थ में, चाहे वह योग्य और उपपन्न हों, अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। वे अपने कथन को 'सोलह आने ठीक' समझते हैं। विषय महत्त्वपूर्ण है और स्थिर विमर्श की अपेक्षा रखता है।[४२]

स्थिति कुछ उलझ जाती है जब हम देखते हैं कि शुक्लजी वर्तमान प्रसंग में 'काव्यत्व', 'रमणीयता', 'रसात्मक', 'वैचित्र्य' और 'चमत्कार' जैसे शब्दों का प्रयोग लगभग, अपितु पूर्णतः समान अर्थ में करते हैं। आप भी देखें—'कोई **रसात्मक या चमत्कार** विधायक उक्ति लीजिए।' 'वाच्यार्थ में ही काव्यत्व

---

४१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ८४-८५।

४२. वही, पृ० १८२।

या **रमणीयता** होगी।' 'जो कुछ **वैचित्र्य** या **चमत्कार** है, वह × × × वाच्यार्थ में ही है।'[४३] इस प्रकार, सभी काले शब्द यहाँ पर्यायवाची बन गये हैं।

अब शुक्लजी के पूरे काव्य-निरूपण के परिप्रेक्ष्य में यह स्थिति प्रथमदृष्ट्या उलझावपूर्ण बन जाती है। उन्होंने 'वैचित्र्य' अथवा 'चमत्कार' का बराबर उपहास किया है। पंडितराज की परिभाषा 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के प्रति भी उनकी प्रशंसात्मक अभिवृत्ति नहीं रही है। 'वक्रोक्तिवाद', जिसका मूल तत्त्व 'वाग्विच्छित्ति' अथवा 'वैचित्र्य' है, उनका प्रत्यक्ष अनुमोदन नहीं प्राप्त कर पाया है। उदाहरणार्थं, निम्नस्थ वाक्य देखें—

'इसमें जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं, वे यदि कविता में **चमत्कार** ही ढूंढ़ा करें, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। × × × चमत्कार से हमारा तात्पर्य **उक्ति के चमत्कार** से है।'[४४] 'कविता की रमानेवाली शक्ति को देखकर जगन्नाथ पंडितराज ने **रमणीयता का पल्ला पकड़ा** और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया।[४५] 'जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, **रचना-वैचित्र्य**, **चमत्कार**, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति (काव्य नहीं)।'[४६] 'आनन्द' शब्द ने जिस प्रकार काव्य की नीयत को बदनाम किया है, उसी प्रकार '**चमत्कार**' शब्द ने उसके रूप को बहुत कुछ बिगाड़ा है। × × × 'अनूठी बात' सुनने की उत्कण्ठा रखनेवाले अपने को काव्य-रसिक समझने लगे। काव्य का प्रकृत स्वरूप लोगों की आँखों से ओझल हो गया। यहाँ तक कि नारायण पंडित को सर्वत्र अद्भुत रस ही दिखाई देने लगा—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।'[४७]

उपर्युद्धृत अवतरणों में शुक्लजी ने प्रत्यक्षतः 'चमत्कार', 'रमणीयता' प्रभृति शब्दों की खिल्ली उड़ायी है और उनसे ग्राह्य अर्थ-तत्त्व का उपहास किया है। इस पृष्ठभूमि में देखने पर उनके द्वारा 'चमत्कार', 'रमणीयता', 'वैचित्र्य' जैसे शब्दों का प्रयोग, 'काव्य की रमणीयता' की अवस्थिति वाच्यार्थ में मानने के प्रसंग में सचमुच पाठकों या विद्वानों को भी हैरानी में डाल देता है। अतएव डॉ० नगेन्द्र की यह टिप्पणी पूर्णतः स्वाभाविक प्रतीत होती है—"ऐसा

---

४३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १८२।
४४. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १३४।
४५. वही, पृ० १३०।
४६. वही, पृ० १३७।
४७. रस मीमांसा, पृ० १०१-०२।

लगता है मानो जीवन-भर चमत्कार का उग्र विरोध करने के उपरान्त अन्त में आचार्य ने उससे समझौता कर लिया हो।"[४८]

लेकिन वास्तविकता यह है कि आचार्य शुक्ल ने कभी 'समझौता' किया ही नहीं। उनका सम्पूर्ण आलोचना-साहित्य इसका प्रमाण है। वस्तुतः 'चमत्कार', वैचित्र्य' जैसे शब्दों का प्रयोग उन्होंने उस प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया में किया हैं जो कविता को भावतत्त्व से काटकर कोरे मनोविनोद अथवा वाक्-चातुर्य की वस्तु समझने लगी थी, अथवा आज भी समझती है। अन्यथा, किसी भी काव्य-समीक्षक के लिए इन पदों के विनियोग से बचना प्रायः, और लगभग, असम्भव है या रहा है। 'भावप्रेरित वक्रता' का शुक्लजी ने सदा सम्मान किया है।[४९] रीति-कवि देव के एक सवैये, 'दोऊ आनन्द सों आँगन माँझ, बिराजै असाढ़ की साँझ सुहाई', में समाविष्ट 'चमत्कार' या 'अनूठेपन' की उन्होंने निर्व्याज प्रशंसा की है जबकि बिहारी की, विरहिणी के शरीर-ताप से शीशी के गुलाब जल के सूख जाने का कथन करनेवाली जैसी अत्युक्तियों की उन्होंने निन्दा की है।[५०] अतएव, यह समझना कि शुक्लजी कविता में 'चमत्कार' के विरोधी हैं; युक्तिसंगत नहीं होगा। वास्तव में, वे वैसे चमत्कार के पोषक हैं जिसमें रसात्मकता अथवा भाव-प्रेरकता वर्तमान है।

अब उनकी चमत्कार-विषयक सही स्थिति समझने के बाद, हम उनके पूर्वोक्त विवेच्य कथन की जाँच कर सकते हैं। प्रश्न महत्त्वपूर्ण है—'काव्यत्व' की स्थिति 'वाच्यार्थ' में है अथवा 'व्यंग्यार्थ' में ? रामदहिन मिश्र ने पांडित्य-पूर्वक यह निरूपित किया है कि काव्यत्व वाच्यार्थ में नहीं, व्यंग्यार्थ में है। डॉ० नगेन्द्र ने शुक्लजी की 'बुद्धि और अनुभूति' की दाद देते हुए और 'रमणीयता' की परीक्षा करते हुए, उनके प्रस्तुत विवेचन को 'एक हलका-सा दिशान्तर-भ्रमण' माना है।[५१] अतएव प्रश्न को स्वतन्त्र रूप से जाँचने-परखने की वांछनीयता उत्पन्न होती है।

डॉ० नगेन्द्रजी ने उपयुक्त प्रश्न उठाया है—"किसी रसात्मक वाक्य को पढ़कर हमें जो आनन्दानुभूति होती है, उसके लिए उस वाक्य का कौन-सा तत्त्व उत्तरदायी है ?"[५२] हम इस प्रश्न का उत्तर आचार्य शुक्ल द्वारा दिये गये

---

४८. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल (सम्पादक, गुलाबराय और विजयेन्द्र स्नातक, १९६२), पृ० १०१।

४९. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १३९।

५०. वही, पृ० १३८।

५१. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०३।

५२. वही, पृ० १०१।

उद्धरणों को छोड़कर पहले अन्य उदाहरण में खोजने की कोशिश करेंगे।
'कामायनी' की निम्न पंक्तियाँ लें—

> 'पगली ! हाँ सम्हाल ले कैसे
> छूट पड़ा तेरा अंचल;
> देख बिखरती है मणिराजी,
> अरी ! उठा बेसुध चंचल।
> फटा हुआ था नील वसन क्या,
> ओ यौवन की मतवाली !
> देख, अकिंचन जगत लूटता
> तेरी छवि भोली-भाली।' (आशा)

प्रस्तुत अवतरण रसात्मक है, पूरी रमणीयता से संसिक्त है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। इसमें चित्रित 'भाव' मोहक है, अतः रम्य-रमणीय है, किसी 'रस' की पूर्ण 'शास्त्रीय' निष्पत्ति होती हो अथवा नहीं। ('जी कर हाय पतंग मरे क्या', शुक्लजी के इस उदाहरण में भी रस निष्पत्ति नहीं है) तब, इस उद्धरण की रमणीयता कहाँ छिपी है ? हमारा उत्तर होगा, उस 'बिम्ब' में जो इन पंक्तियों के पढ़ने से हमारे मानस-पटल पर अंकित होता है। अब यह बिम्ब कैसे अंकित हुआ, कैसे हमारे मानस-पट पर छलक पड़ा ? इस प्रश्न का भी सीधा उतर है, स्वयं उन पंक्तियों से, अर्थात् 'वाच्यार्थ' से। सुतराम्, इस मोहक बिम्ब-सृष्टि के लिए किसी 'व्यंग्यार्थ' की आवश्यकता नहीं पड़ी। तब यदि प्रस्तुत उद्धरण के वाच्यार्थ में रमणीयता उतर आयी है, तो 'काव्यत्व' का अधिवास इस वाच्यार्थ में नहीं मानने का कोई समीचीन कारण नहीं है। नगेन्द्र जी इन पंक्तियों के रमणीयत्व से कदापि इन्कार नहीं करेंगे—ऐसा हमारा विश्वास है।

बिहारी से दूसरा उदाहरण लीजिये—

> 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
> अली कली ही सों बिंध्यौ, आगै कौन हवाल॥'

दोहे में रमणीयता है, चमत्कार है। 'अली' और 'कली' में 'लक्ष्यार्थ' है क्योंकि वाच्यार्थ अयोग्य तथा अनुपपन्न है। 'व्यंग्यार्थ' भी खोजा जा सकता है : 'नायिका जब पूर्ण यौवन-सम्पदा को प्राप्त कर लेगी, तब नायक एकदम उसके मादक सौन्दर्य के उपभोग में डूब कर जीवन के अन्य दायित्वों का विस्मरण कर देगा' इसमें भी आगे बढ़ कर, 'कान्तासम्मिततया' उपदेश-योजना भी उपलब्ध है।

अब विचार करें, रमणीयता कहाँ से हमें पकड़ती है। 'न पराग है, न मधुर मधु है, न अभी इस कली में पूर्ण विकास है'—इस वाच्यार्थ को अधिगत

करते ही, हम दोहे की सौन्दर्य-माया में उलझने लगते हैं और 'कली सौं बिंध्यो' तक मनसा पहुँचते-पहुँचते रमणीयता की धारा में निमग्न हो जाते हैं। व्यंग्यार्थ जो ऊपर खोजा गया है, वह हमें चमत्कृत नहीं करता। वह तो 'व्यभिचारिणी बुद्धि' (मेडलिंग इण्टेलेक्ट) की उपज है। जैसा शुक्ल जी ने अपने संक्षिप्त विवेचन में संकेत किया है, वह पंडितों की बौद्धिक तुष्टि का कारण बनता है। प्रस्तुत दोहे से भी एक बिम्ब बनता है, अल्पविकसित अथवा अविकसित कली में भ्रमर के फँस जाने का, यद्यपि वह 'कामायनी' वाली पंक्तियों से बने बिम्ब की तुलना में अधिक सूक्ष्म है। विवक्षित यह है कि यहाँ वाच्यार्थ में ही मोहकता है, चमत्कार है, व्यंग्यार्थ तो हमें 'कवित्व' की माया से निकाल कर 'गद्य' के साधारण्य में लाकर पटक देता है। एक बात अवश्य यहाँ ध्यातव्य है, वह यह कि 'अली कली' से लिपटे लक्ष्यार्थ की सद्यः प्रतीति हो जाती है, किन्तु चमत्कार का मूल उत्स तो 'अली' और 'कली' और 'बिंध्यौ' जैसे पद ही हैं। अतः, 'काव्यत्व' अथवा 'चमत्कार' अथवा 'रमणीयता' की जन्मभूमि यहाँ 'वाच्यार्थ' ही है।

अब शुक्ल जी द्वारा प्रदत्त 'साकेत' के दोनों उदाहरणों पर विचार किया जा सकता है।

'जीकर हाय ! पतंग मरे क्या ?'

इस उक्ति में 'लक्षणा' स्पष्ट है। 'व्यंग्यार्थ' है उर्मिला की 'रतिजन्य व्यग्रता' जैसा डॉ० नगेन्द्र ने कहा है। अब प्रश्न है, इस पंक्ति की 'रमणीयता' कहाँ है ? शुक्ल जी कहते हैं, 'जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है, वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थ में ही है।'[३] 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग अवश्य यहाँ कुछ हल्के अर्थ में हुआ हैं। लेकिन है वह 'भाव-प्रेरिता-वक्रता' का परिचायक। यह भाव यही 'रति-जन्य व्यग्रता' है। किन्तु, इस उक्ति में भी हम अनुपपन्न वाच्यार्थ के चमत्कार से ही मनसा आकर्षित होते हैं और रति-जन्य व्यग्रता वाले व्यंग्यार्थ की उपपत्ति तक पहुँचते-पहुँचते, हम एक 'वस्तु-सत्य' की गद्यात्मक भूमि में उतर आते हैं जहाँ प्रारम्भिक चमत्कार या रमणीयता का तत्त्व विलुप्त-सा हो जाता है। 'जीकर' पतंग 'मरे' इस उक्ति में विरोधाभास-जन्य चमत्कार ही हमें मूलतः पकड़ता है। यह हमारे भीतर कोई 'सूक्ष्म या गहरी आनन्दानुभूति' अवश्य उत्पन्न नहीं करता जैसा नगेन्द्र जी कहते हैं। किन्तु शुक्ल जी कब, कहाँ दावा करते हैं कि इस वाक्य में गहरी आनन्दानुभूति उत्पन्न करने की शक्ति है ? रचनाएँ अथवा पंक्तियाँ अनेक स्तरों की होती हैं। उनमें तुलनात्मकतया रमणीयता का नैयून्याधिक्य अथवा

---

३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १८२।

तारतम्य (तर-तम भाव) खोजा जा सकता है। किन्तु उस चमत्कार अथवा 'चारुत्व' की उत्स-भूमि तो अभिधेयार्थ ही ठहरती है।

शुक्ल जी का दूसरा उदाहरण यह है—

'आप अवधि बन सकूँ कहाँ तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ।'

उर्मिला की यह उक्ति वियोग-जन्य वेदना एवं प्रियमिलन की आतुरता की व्यंजक है। किन्तु सोचें, इसमें सन्निहित चारुत्व या चमत्कार की जननी कौन है? उर्मिला स्वयं लक्ष्मण के वन-प्रवास की 'अवधि' बनना चाहेगी, तब वह उस 'आप' रूपी अवधि को मिटा देगी जिससे प्रिय के लौटाने की उसकी व्यग्रतापूर्ण कामना फलीभूत हो सके। अब सोचें, जब वह स्वयं मिट जायेगी तब लक्ष्मण को जाकर लौटा लाने की उसकी अभिलाषा ही अर्थहीन बन जायेगी। तब चमत्कार या रमणीयता निश्चित ही वाच्यार्थ में छिपा है जो विरोधाभास-युक्त चारुत्व से उत्पन्न होती है। शुक्ल जी की यह टिप्पणी, अतएव पूर्णतः युक्तिसंगत है—'पर सारा रस, सारी रमणीयता, इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है; इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में नहीं कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है।'[५४] हम पुनः कहना चाहेंगे, इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति 'गद्यात्मक' है, क्योंकि वह वस्तु-सत्य से सम्बन्धित है। आप कहेंगे, इस प्रतीति 'में ही' रसात्मकता है। हमारा उत्तर होगा, 'में-ही' रसात्मकता नहीं है, 'में भी' रसात्मकता हो सकती है, अथवा है भी। लेकिन, व्यंग्यार्थवाली रसात्मकता उस रसगुल्ले की रसात्मकता है जो सूख चुका है और जिसमें संस्कार-वश कुछ रस की आर्द्रता अवशेष रह गयी है। अतएव विवेच्य उक्ति की रसात्मकता की जननी तो मूलतः कवि द्वारा निबद्ध पदावली ही है, अर्थात् अभिधेयार्थ है।

नगेन्द्र जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'अपने को आप' मिटा देने के इस लक्ष्यार्थ, 'बड़े-सा-बड़ा कष्ट भोगना या बड़े-से-बड़ा बलिदान करना', में कोई चमत्कार नहीं रह जाता। किन्तु तब वे फिर आगे बढ़ कर कहते हैं कि उर्मिला के औत्सुक्य की व्यंजना, व्यंग्यार्थ में रमणीयता निहित है।[५५] यह केवल 'रसध्वनि' से उनकी प्रतिबद्धता का परिणाम है जिसमें आनन्दवर्धन ने ध्वन्यर्थ किंवा व्यंग्यार्थ को महत्त्व दिया है। प्रमाण-रूप में उसी सन्दर्भ में कथित, उनकी यह टिप्पणी प्रस्तुत की जा सकती है, "रमणीयता का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रस के साथ है और रस कवित्त नहीं हो सकता, व्यंजित ही

---

५४. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १८३।
५५. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०२।

हो सकता है।" वे सही कहते हैं कि रमणीयता का अर्थ है 'हृदय को रमाने की योग्यता', लेकिन लगता है वाच्यार्थ के महत्त्व से बचने के लिए वे हृदय से 'भाव' का सम्बन्ध और 'भाव' से 'रमणीयता' का सम्बन्ध सद्यः जोड़कर, अपनी व्यंग्यार्थवाली मान्यता की पुष्टि करते हैं। तथापि उसी साँस में वे कह जाते हैं—"अतएव वही उक्ति वास्तव में रमणीय हो सकती है जो हृदय में कोई रम्य भाव उद्‌बुद्ध करे, और यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं इसी प्रकार के भाव की वाहिका हो।"[५६] अब आप देखें, वास्तव में 'उक्ति' ही रमणीयता की जननी है और वह प्रत्यक्षतः वाच्यार्थ ही है। जब परोक्षरूपेण हम भाव-तत्त्व को ग्रहण करते हैं, तब केवल एक बौद्धिक प्रतीति होती है, और वह प्रतीति या तो बिल्कुल 'ज्ञानात्मक' होती है अथवा यदि उसमें यत्किंचित् रस्यमानता का लवलेश होता है, तो उसका कारण यह होता है कि वह बुद्धि-ग्राह्य प्रतीति उस उक्ति या कथन की रसनीयता के क्षीण संस्कार से लिपटी रहती है।

'शुक्ल जी पर क्रोचे का जादू चल गया', डॉ० नगेन्द्र की यह टिप्पणी अ-युक्त है,[५७] क्योंकि शुक्ल जी ने कभी, जैसा पहले कहा है, न किसी मतवाद से 'समझौता' किया और न उन पर किसी काव्यशास्त्री का 'जादू' चला। शुक्ल जी क्रोचे के विपरीत अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का अलग-अलग महत्त्व स्वीकार करते हैं, किन्तु काव्य की रमणीयता का अधिवास वाच्यार्थ में ही मानते हैं।

आचार्य शुक्ल द्वारा उद्‌धृत दोनों उदाहरणों में किसी प्रत्यक्ष 'बिम्ब' का अवतरण नहीं होता। हम अपने द्वारा दिये पहले दो उद्धरणों के प्रसंग में दिखा चुके हैं कि उनमें बिम्ब प्रत्यक्षतः उभरते हैं और हमें चमत्कृत करते हैं। किन्तु उन बिम्बों का आश्रय वे सम्बद्ध पंक्तियाँ हैं, उन पंक्तियों को हटा देने पर, मिटा देने पर, बिम्ब लुप्त हो जाते हैं और सभी चारुत्व समाप्त हो जाता है। विवक्षा यह है कि काव्य से मिलनेवाली रमणीयता अथवा रसात्मकता की प्रतीति सर्वदा बिम्बात्मक होती है—ये बिम्ब कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष, कभी स्पष्ट, कभी सूक्ष्म हो सकते हैं। शुक्ल जी के उदाहरणों में भी सूक्ष्म तथा परोक्ष बिम्ब उभरते हैं—'पतंग के जी कर मरने का' और 'विरहिणी उर्मिला की अपने आपको मिटा देने की तत्परता का।' पहले बिम्ब की तुलना में दूसरा विशुद्ध मानसिक अथवा मनोग्राह्य है।

अब हम यह कहना चाहेंगे कि बिम्बों की हृदयग्राहिता के अनुपात में

---

५६. आलोचक रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १०३।

५७. वही, पृ० १०२।

उनकी धारक पंक्तियों का चमत्कार या रमणीयत्व निखरता है। (स्मरणीय है, 'बिम्ब' 'व्यंग्यार्थ' का समस्थानीय नहीं होता।) हमारे द्वारा उद्धृत पद्यांशों के बिम्ब लगभग समानतः हृदयग्राही हैं, अतः उन पद्यांशों की पद-संघटना, अर्थात् वाच्यार्थ, लगभग समानतः रमणीय है। शुक्ल जी द्वारा उद्धृत उदाहरणों में से पहले का बिम्ब दूसरे के बिम्ब की तुलना में तनिक स्थूल कहा जा सकता है। किन्तु हृदयग्राहिता दूसरे सूक्ष्म बिम्ब में ही अधिक है, कारण कि पहले में जीवित हुए भी पतंग (उर्मिला) की म्रियमाण स्थिति का बोध होता है जबकि दूसरे में विरहिणी के पूर्ण आत्मोत्सर्ग की उतावली का। यहाँ यह न समझा जाय कि हम अन्ततः व्यंग्यार्थ की ही वकालत कर रहे हैं। हमारा अभिप्राय उस प्राथमिक अर्थप्रतीति से ही है जो अभिधा से उपपन्न है। यह भिन्न बात है कि कवि का मूल आशय इन दोनों उद्धरणों में वाच्यार्थ को अतिक्रान्त कर व्यंग्यार्थ से संलग्न है। किन्तु यह व्यंग्यार्थ अपने में रमणीय नहीं है, रमणीयता तो उतर आयी है सबद्ध वाच्यार्थ में, जो अपने गर्भ में उस व्यंग्यार्थ अथवा योग्य एवं उपपन्न अर्थ को छिपाये हुए है। दूसरे शब्दों में, अभिधेयार्थ योग्य अथवा अयोग्य और उपपन्न अथवा अनुपपन्न हो, उससे उसकी चारुता व रमणीयता बाधित नहीं होती। आखिर कविता 'शब्द-विधान' ही तो है, 'वाङ्मयी' अभिव्यक्ति ही तो है। 'भ्रमरगीत' की वक्रोक्तियों के रसास्वादन के लिए हमें कभी उनके व्यंग्यार्थ की ऊहापोह में पड़ने की आवश्यकता नहीं होती। वे भावप्रेरित हैं, अतः वे हमारे मनस्तत्त्व को पकड़ लेती हैं और उसे रमाये रखती हैं। हम कह दें, उनमें पर्याप्त चारुत्व एवं चमत्कार है। जब शुक्ल जी वैचित्र्य या चमत्कार की बात विवेच्य सन्दर्भ में करते हैं तब उनका साफ अभिप्राय भावप्रेरकता से ही है, कोरे वाग्वैदग्ध्य से नहीं।

'रसदशा' को महत्त्व देनेवाले आचार्य के मुख से वाच्यार्थ की प्रमुखता का कथन सुनकर हम स्वभावतः चकित होते हैं, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'रसादि-ध्वनि' अभिधामूलक ही मानी गयी है। उसी 'अभिधा' को ही शुक्ल जी ने अपनी अनुभूति के आलोक में उजागर कर दिया है। अतएव काव्यत्व अथवा रमणीयत्व का अधिवास 'वाच्यार्थ' ही है, 'व्यंग्यार्थ' नहीं। 'वाच्यातिशायो व्यंग्यार्थ' में 'ध्वनि' अवश्य रहती है, पुराने आचार्य भले ही उसे उत्तम काव्य मानें[५८], लेकिन रमणीयता का अधिष्ठान तो वाच्यार्थ ही है।[५९]

---

५८. 'वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।'

—साहित्यदर्पण, ४।१

५९. 'अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना लीन।
अधम व्यंजना रस बिरस, उलटी कहत नवोन॥'

(८)

कविता और सभ्यता—आचार्य शुक्ल मानते हैं कि अनेक प्रकार के भावों के माध्यम से मनुष्य-जाति जगत् के साथ 'तादात्म्य' का अनुभव करती रही है। 'जिन रूपों तथा व्यापारों' से मनुष्य आदिम युगों से ही परिचित है, उनसे हमारे भावों का मूल तथा सीधा सम्बन्ध वे रेखांकित करते हैं। गूढ़ातिगूढ़ तथ्यों को 'भावों के विषय या आलम्बन बनाने के लिए' जगत् के इन्हीं 'मूल रूपों और व्यापारों' का आश्रय ग्रहण करना काव्यकार का कर्त्तव्य है। वन, पर्वत, नदी, नाले, चट्टान, वृक्ष, लता, पशु-पक्षी, आकाश, बादल, बिजली, हल, चौपाये इत्यादि कतिपय ऐसे रूप हैं जिनसे मानव-जाति का बहुत पुराना संबंध है। 'वंशानुगत वासना की दीर्घ-परम्परा के प्रभाव से' इन आदिम रूपों तथा व्यापारों में 'भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति' वर्तमान है और इसीलिए, इनके द्वारा 'रस-परिपाक' की सम्भावना पुष्ट रहती है। इसके विपरीत, आधुनिक जीवन में आगन्तुक, अपेक्षाकृत नवीन उपकरणों—यथा कल-कारखाने, रेल, हवाई जहाज इत्यादि—से न भावों के उद्रेचन और न ही रसोद्रेक की सम्भावना प्रशस्त मानी जा सकती है। इस दृष्टि से शुक्ल जी काव्य-वस्तु के विषय में प्रायः पुरातनवादी कहे जा सकते हैं। वस्तुतः 'चिर-साहचर्य' उनका अत्यन्त प्रिय सिद्धान्त है।[६०]

वे मानते हैं कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता गया, वैसे-वैसे मनुष्यों के व्यापार 'बहुरूपी और जटिल' होते गये और मानवी आचरण के मूल रूप आच्छन्न होते गये। बुद्धि के विकास से वासनाजन्य मूल व्यापारों के अतिरिक्त बुद्धि-प्रेरित व्यापारों का जाल बढ़ता गया और क्रोध, घृणा, लोभ इत्यादि आदिम भावों के विषय भी बदलते गये। तथापि, शुक्ल जी का कथन है, भावों का सम्बन्ध 'मूल विषयों और मूल व्यापारों' से भीतर-भीतर बना रह गया है और बना रहेगा। सभ्यता के विकास से मनुष्य के आचरण का मूल स्वरूप प्रच्छन्न हो गया है। आ० शुक्ल इस 'प्रच्छन्नता का उद्घाटन कवि-कर्म का एक मुख्य अंग' मानते हैं। अतः उनके अनुसार, 'ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों कवियों के लिए यह काम बढ़ता जायगा।'[६१] यहाँ मिल्टन के इस कथन का अनायास स्मरण हो जाता है कि सभ्यता जैसे जैसे विकसित होती जाती है, वैसे-वैसे कविता का ह्रास होने लगता है। वास्तव में मिल्टन और शुक्ल जी, दोनों का एक ही मन्तव्य है। सभ्यता, यांत्रिक सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य के आचरणों का स्वरूप बदलता जाता है जिसके फलस्वरूप

---

६०. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११४।
६१. वही, पृ० ११५।

मानव-स्वभाव की वास्तविक पहचान भी पर्याच्छन्न बनती जाती है। मिल्टन की धारणा है कि सामान्य कविजन सभ्यता के मोटे आवरणों को चीर कर, मानव-स्वभाव का उन्मीलन करने में असमर्थ होंगे जिसका परिणाम होगा, कविता का ह्रास अथवा पतन। शुक्ल जी इसी को लक्ष्य कर कहते हैं कि सभ्यता के उत्तरोत्तर विकसित होने के कारण कवियों का दायित्व गहन होता जायेगा और इसी से उनकी मान्यता है कि मनुष्य-निसर्ग के मौलिक स्वरूप का चित्रण तथा उन्मीलन सच्चे कवि का लक्ष्य होना चाहिए।

कविता की भाषा

(क)

आ० शुक्ल कविता में 'अर्थ-ग्रहण' से आगे बढ़ कर 'बिम्ब-ग्रहण' कराने की सामर्थ्य का होना आवश्यक मानते हैं। 'कविता में कही गयी बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चाहिए'—इस कथन में उन्होंने प्रकारान्तर से 'बिम्ब-ग्रहण' वाली बात ही दुहरायी है। इसी कारण वे कविता में 'गोचर-रूपों' के अधिक विधान पर बल देते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने कविता-भाषा की कतिपय विशेषताएँ निर्दिष्ट की हैं।

(ख)

लाक्षणिक प्रयोग—कविता अगोचर बातों या वस्तुओं को भी यथासंभव स्थूल, गोचररूप में रखने का प्रयास करती है। इसके निमित्त लाक्षणिक प्रयोगों का समावेश आवश्यक तथा उपादेय होता है। उदाहरणतः, 'समय बीता जाता है' के बदले 'समय भागा जाता है' का कथन अधिक काव्योपयोगी है। आ० शुक्ल ने इस प्रसंग में तुलसी आदि से कतिपय अन्य उदाहरण दिये हैं। किसी तथ्य या वस्तु के प्रत्यक्षीकरण के लिए अथवा किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति के निरूपण के लिए भाषा की 'लक्षणा-शक्ति' बहुत महत्वपूर्ण है—ऐसा वे मानते हैं।[६२]

विशेष-सूचक शब्दों का बाहुल्य—भावना के मूर्तीकरण के लिए कविता-गत भाषा की दूसरी विशेषता है, 'जाति-सकेतक' शब्दों की तुलना में 'विशेष-रूप-व्यापार-सूचक' शब्दों की अधिकता। बहुत से शब्द ऐसे होते हैं—आ० शुक्ल अपनी बात समझाते हैं– जिनसे किसी एक 'विशेष' का नहीं, अपितु बहुत-से 'रूपों या व्यापारों का एक साथ चलता-सा अर्थ-ग्रहण' होता है। ऐसे शब्द 'जाति' का संकेत करते हैं, 'व्यक्ति' या 'विशेष' का नहीं। उदाहरणतः, यदि यह कहा जाय कि अधिकारी जनता पर बड़ा 'अत्याचार' कर रहे हैं, तो यहाँ 'अत्याचार' जाति-संकेतक प्रयोग होगा जिसमें मारना, पीटना इत्यादि अनेक तथ्यों का समाहार होगा। किन्तु शुक्लजी के मतानुसार ऐसे प्रयोग

---

६२. चिन्तामणि, पहला भाग, १९७१, पृ० १४०।

पाठक पर मार्मिक प्रभाव नहीं उत्पन्न करेंगे। इसके विपरीत यदि 'अत्याचार' की व्यंजना अभीष्ट है, तो कवि 'कुछ निरपराध व्यक्तियों के वध, भीषण यंत्रणा, स्त्री-बच्चों पर निष्ठुर प्रहार' आदि उद्वेगकर दृश्य प्रस्तुत करेगा। इससे 'अत्याचार' की भावना का पाठक के मानस पर मूर्त अंकन हो सकेगा। अतः कविता 'व्यापक अर्थ-संकेतों' की बजाय, विशेष-सूचक शब्दावली का प्रयोग करती है।

पारिभाषिक पदों का प्रयोग कविता में इसी कारण आ० शुक्ल उचित नहीं समझते। उल्टे वे यह मानते हैं कि शास्त्र के भीतर निरूपित तथ्य भी जब कविता में वर्ण्य होंगे, तब कवि पारिभाषिक तथा अधिक व्याप्ति वाले जाति-संकेतक शब्दों को त्याग कर, उस तथ्य को व्यंजित करने वाले कुछ विशिष्ट मार्मिक रूपों तथा व्यापारों का ही चित्रण करेगा। इस प्रसंग में तुलसी का निम्न कथन सुन्दर उदाहरण है—

'डासत ही गई बीति निसा सब,
कबहुँ न नाथ ! नींद भर सोयो।'

प्रस्तुत कथन में व्यंजना स्पष्ट है; हम जीवन-पर्यन्त प्रयत्न करते रहते हैं, किन्तु वास्तविक सुख-शान्ति उपलब्ध नहीं होती।

नाद-सुष्ठु वर्ण-विन्यास—कवितागत भाषा की तीसरी विशेषता है, नाद-मधुर वर्ण-विन्यास। हमारी पंडित-परम्परा में 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' के 'नीरस-तरुरिह विलसति पुरतः' द्वारा प्रतिस्थापित होने का प्रवाद प्रचलित ही है। शुक्लजी भी इसी विचार के पोषक हैं और यह मानते हैं कि 'नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है।' तथापि वे इसके निमित्त अनावश्यक, भाव-शून्य अनुप्रास-योजना की कदर्थना करते हैं।

रूप-गुण-बोधक शब्द-योजना—काव्य-भाषा की चौथी विशेषता है, व्यक्ति-नामों की जगह व्यक्ति के रूप, गुण अथवा किसी कार्य के बोधक शब्दों का प्रयोग। उदाहरणतः, प्रसंग के अनुकूल 'कृष्ण' के बदले 'गिरिधर', 'मुरारी', 'मुरलीधर' प्रभृति पदों का प्रयोग कविता में अधिक सार्थकता का वहन करता है।[६३] किन्तु प्रसंग की अनुरूपता का ध्यान आवश्यक है।

(ग)

आ० शुक्ल ने यही चार विशेषताएँ काव्य-भाषा की बतायी हैं। स्पष्ट है, उनका प्रस्तुत निरूपण सामान्य तथा चलते ढंग का है। आज काव्य-भाषा का अधिक गहराई से अध्ययन किया जा रहा है। शुक्लजी चाहते तो 'वक्रोक्ति' तथा 'रीति' सिद्धान्तों के आलोक में अपने निरूपण को अधिक सूक्ष्म तथा

---

६३. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १४१-१४२।

व्यापक बना सकते थे। किन्तु, उनकी मानसिकता की रचना में रीति-काव्य-सुलभ 'चमत्कार' के विरोध का तत्त्व अनावश्यक आयाम ग्रहण कर गया था। इसी कारण, उन्हें 'अभिव्यंजना' नाम से ही एक प्रकार की चिढ़ हो गयी थी और उसी के प्रभाव में 'वक्रोक्तिवाद' जैसे सिद्धान्त, उन्हें अमिश्र बाह्याडंबर प्रतीत होते थे। हमारा विश्वास है कि रीति-वक्रोक्ति तथा अलंकार सिद्धान्तों के आलोक में काव्य-भाषा का अधिक मार्मिक तथा विश्वसनीय प्रतिपादन हो सकता है। अधुना पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन में 'रीति-विज्ञान' 'स्टाइ-लिस्टिक्स' अथवा 'लिंग्वो-स्टाइलिस्टिक्स' का जो प्राधान्य होता जा रहा है, वह काव्य-भाषा का ही अध्ययन है। और हमारी जहाँ तक जानकारी है, यह 'रीति-विज्ञान' अथवा 'शैली-विज्ञान' उपर्युक्त भारतीय काव्य-सिद्धान्तों के सम्मिश्रण का ज्ञात-अज्ञात प्रतिफलन है।

(३) काव्य और प्रकृति

(क)

शुक्लजी का प्रकृति-प्रेम—शुक्लजी स्वभाव से ही प्रकृति के प्रेमी थे। उनका यह कथन उल्लेखनीय है—"मैं मिर्जापुर की एक-एक झाड़ी, एक-एक टीले से परिचित हूँ। उसके टीले पर चढ़ा हूँ, बचपन मेरा इन्हीं झाड़ियों की छाया में पला है। मैं इसे कैसे भूल सकता हूँ? लोगों की ऐसी कामना रहती है कि वे काशी में मोक्ष-लाभ करें, किन्तु मेरी अन्तिम कामना यही है कि अन्तिम समय मेरे सामने मिर्जापुर का वही प्रकृति का दिव्य-खण्ड हो जो मेरे मन में भीतर-बाहर बसा हुआ है।" (शिवनाथ-कृत 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' पुस्तक से उद्धृत)।

आ० शुक्ल ने प्रकृति को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया है। प्रकृति के अनन्त रूप हमें दिखाई पड़ते हैं, "कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में, कहीं बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में।" शुक्लजी का कथन है कि सच्चे कवि का हृदय इन सब रूपों में लीन होता है क्योंकि उसके अनुराग का कारण व्यक्तिगत सुख-भोग नहीं, अपितु 'चिर-साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।' (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११८)

'दृश्य' से अभिप्राय—आ० शुक्ल 'दृश्य' शब्द के अन्तर्गत केवल नेत्रों के ही विषय नहीं, अपितु अन्य ज्ञानेन्द्रियों, यथा—कान, नाक इत्यादि के विषयों को भी ग्रहण करते हैं। "बाह्यकरणों (ज्ञानेन्द्रियों) के सब विषय अन्तःकरण में 'चित्र' रूप से प्रतिबिम्बित हो सकते हैं।" इसी प्रतिबिम्ब को 'दृश्य' कहा

जाता है।[1] काव्य में 'अर्थ-ग्रहण' से आगे बढ़कर 'बिम्ब-ग्रहण' आवश्यक होता है। शुक्लजी का तात्पर्य यह है कि इन सभी ज्ञानेन्द्रियों के विषयों का वर्णन इस प्रकार होना चाहिए जिससे पाठक के अन्तःकरण में उनका स्पष्ट 'बिम्ब' छलक उठे, वह उनकी मानसी भावना में निमग्न हो जाय।

(ख)

प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन—आ० शुक्ल इस बात से क्षुब्ध हैं कि हमारे प्राचीन साहित्याचार्यों ने वन, उपवन, ऋतु इत्यादि को केवल शृङ्गार के 'उद्दीपन' रूप में ग्रहण किया है जिस कारण ही, इन प्राकृतिक दृश्यों के काव्य में 'बिम्ब-ग्रहण' को उन्होंने कोई महत्व नहीं दिया है। इस सन्दर्भ में शुक्लजी ने वाल्मीकीय 'रामायण' को 'आर्य-काव्य का आदर्श' माना है क्योंकि उसमें राम के रूप, गुण, शील इत्यादि के साथ रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार का भी वर्णन उपलब्ध होता है और साथ-ही अयोध्या, चित्रकूट, दण्डकारण्य आदि का 'पूरे ब्यौरे के साथ' चित्रण भी वहाँ सम्पादित हुआ है जिसमें हाट, बाट, नदी, निर्झर, वन, पर्वत, ग्राम, जनपद प्रभृति अनेक 'पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण' होता हैं। कालिदास ने भी केवल उद्दीपन-रूप में ही प्रकृति का वर्णन नहीं किया है। इन महाकवियों के प्रकृति-चित्रण का वैशिष्ट्य यह है कि ऐसे वर्णन "प्रसंग-प्राप्त हैं, अर्थात् आलम्बन की परिस्थिति को अंकित करने वाले हैं।" 'कुमार-सम्भव' के प्रारम्भ में प्राप्त हिमालय-वर्णन उद्दीपन-रूप में नहीं, प्रत्युत् कथ्यवस्तु की पूरी पीठिका और वर्ण्य पात्रों की परिस्थिति का सम्यक् बोध कराने के निमित्त निबद्ध हुआ है। उसी प्रकार 'रामायण' में उपलब्ध प्रकृति-वर्णन भी राम और लक्ष्मण के वनवास की पूरी प्राकृतिक परिस्थिति का प्रत्यक्षीकरण कराते हैं। साथ-ही, इस परिचित परिस्थिति या परिवेश में राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य का अनुभव करते हैं।

प्रसंग-प्राप्त वर्णनों के अतिरिक्त, प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन बिलकुल स्वतंत्र रूप में भी हमारे भावों के आलम्बन होते हैं। शुक्ल जी इसका कारण यह बताते हैं कि इन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वजों ने जीवन-यापन किया है और आज भी मानव-जाति का अधिकांश—जो गाँवों में बसा हुआ है—इन दृश्यों के बीच अपना जीवन व्यतीत करता है जिसके फलस्वरूप, हमारे अन्तःकरण में प्रकृति के इन उपादानों के प्रति प्रेम-भाव पूर्व-साहचर्य-जन्य संस्कार या वासना के रूप में सन्निहित है। काले मेघों, हरे-भरे जंगलों, चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हिरनों, नाचते हुए मयूरों इत्यादि को देख

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १।

कर हमें हर्ष होता है। 'हर्ष' एक संचारी भाव है, और शुक्लजी इस कारण मानते हैं कि उसके मूल में रति-भाव वर्तमान है जो इन प्राकृतिक दृश्यों अथवा पदार्थों के प्रति ही माना जायेगा।[२] उनका कथन है कि रीति-ग्रन्थों की बदौलत हमारी रस-दृष्टि परिमित हो गयी और इस कारण, कतिपय प्राकृतिक रूप व व्यापार 'उद्दीपन' के अन्तर्गत समाविष्ट कर दिये गये अथच कतिपय को 'भाव-क्षेत्र' से ही बहिष्कृत कर 'अलंकार के हाते' में डाल दिया गया। इसी व्यवस्था के कारण, "वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया—जैसे लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटक कर झपटना, हाथी का गण्डस्थल रगड़ना इत्यादि।" आ० शुक्ल अपनी स्थिति एकदम स्पष्ट कर देते हैं। वे इन्हें 'प्रस्तुत विषय' मानते हैं जिनपर उत्प्रेक्षादि द्वारा अप्रस्तुत विषयों का आरोप हो सकता है। इसी कारण उनकी दृष्टि में 'स्वभावोक्ति' को कोई अलंकार नहीं माना जाना चाहिए।[३]

(ग)

प्रेम की प्रतिष्ठा के दो प्रकार—आ० शुक्ल प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से मानते हैं—(१) सुन्दर रूप के अनुभाव द्वारा और (२) साहचर्य द्वारा। सुन्दर रूप के आधार पर जो प्रेम उत्पन्न या विकसित होता है, उसे वे 'लोभ' मानते हैं, और साहचर्य के आधार पर जो प्रेम विकसित एवम् पल्लवित होता है, उसे सच्चा तथा स्वाभाविक प्रेम मानते हैं क्योंकि यह 'हेतु-ज्ञान-शून्य' होता है जबकि पहला सहेतुक होता है। इसी कारण किसान का अपनी झोपड़ी के प्रति प्रेम, सामने के नीम के पेड़ के प्रति प्रेम इत्यादि सच्चा और वास्तविक प्रेम माना जायेगा। इसके विपरीत, सभ्यता के पाश में बँधे जो व्यक्ति लाल-पीले फूलों, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन इत्यादि के प्रति 'अहा-हा', 'वाह-वाह' जैसे सारहीन उद्‌गारों से प्रेम प्रदर्शित करते हैं, वे प्रकृति के 'उपासक' नहीं, सच्चे 'सहृदय' नहीं, अपितु 'तमाशबीन' हैं। उनके विषय में यही कहना पड़ेगा कि उनके भीतर "करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आनेवाली अन्तस्-संज्ञा-वर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गई जिसे वासना या संस्कार कहते हैं।"[४]

(घ)

प्रकृति का संश्लिष्ट चित्रण—शुक्लजी काव्य में प्रकृति के संश्लिष्ट वर्णन को महत्व प्रदान करते हैं। 'संश्लिष्ट' चित्रण से उनका अभिप्राय है, प्राकृतिक

---

२. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ४-५।
३. वही, पृ० ५।
४. वही, पृ० ७।

दृश्यों का ऐसा वर्णन जिसमें सम्बद्ध स्थल (अथवा रूप व व्यापार) के सूक्ष्म 'ब्यौरे' इस प्रकार अंकित हैं, जिससे 'एक भरा-पूरा चित्र' सामने उपस्थित हो जाय। इसी प्रकार के संश्लिष्ट चित्रण में कल्पना सहयोग करती है। इसे ही कविता का 'बिम्ब-ग्रहण' कराना कहा है, जैसा पूर्व कथित है।

इस प्रसंग में शुक्लजी ने वाल्मीकि, कालिदास तथा भवभूति के प्रकृति-चित्रों को उद्धृत किया है और उनकी प्रशंसा की है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कवि प्रकृति के रूपों तथा व्यापारों को 'अपने तत्कालीन भावों के रंग में भी चित्रित करता है', और इस विषय में भी वे 'आदिकवि' की सराहना करते हैं। माघ इत्यादि संस्कृत के उत्तरकालीन कवियों के प्रकृति-वर्णन की उन्होंने आलोचना की है जिससे वस्तुओं की रूप-व्यंजना में हास्यास्पद उपमाएँ इत्यादि नियोजित होने लगी थी। शुक्लजी का कथन है कि अपने उत्थान-काल में हिन्दी कविता को इन्हीं उत्तरवर्ती संस्कृत कवियों की विरासत मिली, जिस कारण उसमें प्रकृति के सूक्ष्म-संश्लिष्ट चित्रण की प्रकृति का ह्रास हो गया और प्रकृति का उद्दीपन-रूप में वर्णन ही प्राधान्य प्राप्त कर गया। भारतेन्दु के प्रकृति-चित्रण में भी वे किसी नये 'संस्कार' का प्रवेश नहीं देखते।

आ० शुक्ल ने इस तथ्य को भी रेखांकित किया है कि प्रकृति के रूपों का तथ्यों के वस्तुगत चित्रण से आगे बढ़ कर कवि-गण कभी-कभी उनके भीतर निहित 'व्यंजना' पर भी दृष्टिपात करते हैं। वे मानते हैं कि प्रकृति के नाना वस्तु-व्यापार कुछ 'भावों, तथ्यों और अन्तर्दशाओं की व्यंजना' भी करते हैं—जो नितान्त 'अगूढ़' तो नहीं होतीं किन्तु ऐसी अवश्य होती हैं कि उसका 'निदर्शन करने पर सहृदय या भावुक मात्र उसका अनुमोदन करें।'

आ० शुक्ल अपना मन्तव्य नितरां स्पष्ट करते हैं—"यदि हम खिली कुमुदिनी को हँसती हुई कहें, मंजरियों से लदे आम को माता और फूले अंगों न समाता समझें, × × × कड़कड़ाती धूप से तपते किसी बड़े मैदान के अकेले ऊँचे पेड़ को धूप में चलते प्राणियों को विश्राम के लिए बुलाता हुआ कहें, × × × गिरि-शिखर से स्पष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य में पृथ्वी और आकाश का उमंग-भरा, शीतल, सरस और छायावृत्त आलिंगन देखें, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेंगे।[५]

प्रकृति की व्यंजनाएँ— शुक्लजी मानते हैं कि प्रकृति के रूप तथा व्यापार अपनी कुछ 'व्यंजनाएँ' भी करते हैं, कुछ-न-कुछ 'अभिव्यक्त' भी करते हैं, और उस अभिव्यक्तियों अथवा व्यंजनाओं का चित्रण काव्य में हो सकता है, होना चाहिए क्योंकि उससे भी हमारा रागात्मक सम्बन्ध पुष्ट होता है। इसी

५. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ६७।

दृष्टि से उन्होंने प्रकृति की 'सच्ची व्यंजनाओं' को लेकर की गयी मर्मस्पर्शिणी 'अन्योक्तियों' का भी अनुमोदन किया है।[६]

प्रकृति की 'ठीक और सच्ची व्यंजना' वाली बात आपाततः तनिक उलझाव-पूर्ण प्रतीत होती है। यह व्यंजना निरपेक्ष नहीं, अपितु व्यक्ति-सापेक्ष होगी। सम्भव है, हम प्रकृति के एक रूप या व्यापार में एक प्रकार की व्यंजना देखें और दूसरा व्यक्ति उसमें दूसरे प्रकार की व्यंजना देखे। तथापि हम आ० शुक्ल की इस बात से सहमत हैं कि इन व्यंजनाओं में एक प्रकार की स्वाभाविकता होनी चाहिए जो अधिकाधिक सहृदयों के समीप आसानी से ग्राह्य तथा स्वीकार्य बन सके। उन्होंने उपर्युद्धृत अवतरण में प्रकृति की जिन कतिपय व्यंजनाओं की चर्चा की है, उनसे असहमत होना कठिन जान पड़ता है। ऐसी ही व्यंजनाएँ उनके चिन्तन में 'प्रकृति की ठीक और सच्ची' व्यंजनाएँ मानी जायेंगी। इन सहज-सुलभ व्यंजनाओं से आगे बढ़कर यदि कवि अलोकसहज व्यंजनाएँ प्रकृति में खोजता और पाता है, तो वह लोक की सामान्य भाव-भूमि से कट जाता है और उसकी कविता व्यर्थ का आडम्बर अथवा अलंकार मात्र रह जायेगी। "चाहे हम कोई उपदेश निकालें, चाहे सादृश्य या साधर्म्य के सहारे कोई नैतिक या आध्यात्मिक तथ्य उपस्थित करें, चाहे कल्पना या भावना का मूर्त विधान करें, वह उपदेश, तथ्य या विधान प्रकृति के किसी वास्तविक मर्म का उद्घाटन न होगा। (साथ ही—हमारे) अन्तःकरण की किसी अनुभूति का उद्घाटन भी वह तभी होगा जब किसी सच्चे भाव से प्रेरित और सम्बद्ध जान पड़ेगा।"

प्रकृति की सही और सच्ची 'व्यंजना' तभी मानी जा सकती है जब उसमें उसके किसी वास्तविक मर्म की विवृत्ति हुई हो अथवा हमारे अन्तःकरण की किसी अनुभूति की व्यंजना उसमें झाँकती हो—यही आ० शुक्ल की स्थिति है। इससे असहमत होने का हम कोई कारण नहीं देखते।

(४) काव्य और रहस्यवाद

ब्रह्म की व्यक्त-अव्यक्त सत्ता—आ० शुक्ल कविता में रहस्यवाद के अनुप्रवेश के विरोधी हैं। उनका कथन है—"कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है; अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है; काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।"[७] इस प्रकार, अव्यक्त तथा अज्ञात के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करने और उस प्रेम में 'आँसुओं की

६. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ६८।
७. वहीं, पृ० ५८-५९।

आकाश-गंगा में तैरने, हृदय की नसों का सितार बजाने, प्रियतम असीम के संग नग्न प्रलय-सा ताण्डव करने या मुंदे नयन-पलकों के भीतर किसी रहस्य का सुखमय चित्र देखने' में कृतकामना का अनुभव करने वाली कविता असली कविता नहीं है।[८] अज्ञात की 'जिज्ञासा' का तो शुक्लजी अनुमोदन कर सकते हैं, किन्तु उसकी 'लालसा या प्रेम' का प्रदर्शन वे उचित नहीं मानते। उनकी व्यक्तिगत रुचि भी इस स्थिति का अनुमोदन नहीं कर पाती कि मनुष्य 'चर-अचर प्राणियों के बीच' न विचरण कर, 'अकेले' अपने सुख-दुख, आशाओं-आकांक्षाओं के गीत गाया करे, 'हमारे राम भी हमें मन्दाकिनी या गोदावरी के किनारे बैठे जितने अच्छे लगते हैं, उतने अयोध्या की राज-सभा में नहीं।' शुक्लजी ईमानदारी के साथ कहते हैं—'अपनी-अपनी रुचि है।'[९] निष्कर्ष यह निकला कि वे लोक की सामान्य भावभूमि और व्यक्त जगत् के भीतर ही काव्य की सार्थकता स्वीकार करते हैं।

अभिव्यक्तिवाद-सामंजस्यवाद—इस सन्दर्भ में शुक्लजी ने कहा है कि वे काव्य में 'वादों' का बाहर से आना ठीक नहीं मानते। किन्तु यदि 'वादों' के भीतर उन्हें अपना पक्ष प्रस्तुत करना हो तो वे अपने पक्ष को 'अभिव्यक्ति-वाद' और 'सामंजस्यवाद' कहना पसन्द करेंगे। 'अभिव्यक्तिवाद' से उनका अभिप्राय है गोचर जगत् के तथ्यों का प्रत्यक्षीकरण; क्योंकि उनके मतानुसार, "जगत् का यह व्यक्त प्रसार ही भाव के संचरण का वास्तविक क्षेत्र है।"[९-क] और 'सामंजस्यवाद' से उनका अभिप्राय है, आदर्श के मधुर स्वप्नों के साथ लोकप्राप्त उत्पीड़न एवम् अत्याचार के दमन हेतु उत्साहपूर्वक प्रयत्न का समन्वयन। वे स्पष्ट कहते हैं—"यह स्वप्न सुन्दर अवश्य है, पर जागरण उससे कम सुन्दर नहीं है। स्वप्न और जागरण दोनों काव्य के पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों का सामंजस्य काव्य का चरम उत्कर्ष है।"[९-ख] स्मर्तव्य है कि यह कथन शुक्लजी ने टालस्टाय के अनुगामी आदर्शवादियों की स्वप्न-प्रवणता की आलोचना के प्रसंग में किया है।

रहस्यवादी कल्पना—आ० शुक्ल ने रहस्यवादियों की अतिशय कल्पना-प्रवणता की आलोचना की है। कल्पना के सहारे वे प्रकृति के कतिपय रूपों में 'अज्ञात' प्रिय का साक्षात्कार करते हैं और उन्हीं काल्पनिक रूपों के प्रति अपनी रागात्मिका प्रकृति की सम्पूर्ण आर्द्रता समर्पित करते हैं। कल्पना के लोक को वे नित्य शाश्वत लोक मानते हैं जिनमें नित्य और पारमार्थिक सत्ताएँ

---

८. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ६१।
९. वही, पृ० ६६।
९-क. वही, पृ० १४०।
९-ख. वही, पृ० ५४-५५।

निवास करती हैं। प्रकृतिरूपी दर्पण में इन्हीं शाश्वत सत्ताओं का प्रतिबिम्ब झलकता है। यह रहस्यवादियों का सैद्धान्तिक-साम्प्रदायिक पक्ष है जिससे शुक्लजी सहमत नहीं हैं।

उनका कथन है कि रहस्यवादी कवि द्वारा जो सुन्दर, रमणीय अथवा भव्य रूप-योजना कल्पना के आश्रयण से की जाती है, उसकी प्रेरणा उसे प्रकृति के बाह्य रूपों से ही उपलब्ध होती है जिनसे वह वास्तव में प्रेम करता होगा, नहीं भी करता होगा। लेकिन वह पाठकों में यह भ्रान्ति उत्पन्न करता है कि उसके द्वारा प्रदर्शित भाव इन 'छायात्मक रूपों के प्रति' बिल्कुल न होकर, उस अगोचर तथा अव्यक्त 'पारमार्थिक सत्ता' के प्रति है जो इनके परे हैं।[१०]

रहस्यवादी कविता के दो दोष—रहस्यवादियों की रचनाओं में शुक्लजी दो प्रमुख दोष मानते हैं - पहला, भावों में सच्चाई का अभाव और दूसरा, व्यंजना की कृत्रिमता।[११]

यदि भावों में सच्चाई होगी, तो अभिव्यंजना में भी सच्चाई तथा स्वाभाविकता का अनुप्रवेश होगा। रहस्यवादी कविताओं में इन दोनों का अभाव होता है। इसी कारण, अधिकांश पाठक रचना में व्यंजित भाव के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। आ० शुक्ल ने अपना परिचित दृष्टिकोण पुनः दोहराया है—"मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है। उसकी अपनी सत्ता का ज्ञान लोकबद्ध है। लोक के भीतर-ही कविता क्या किसी कला का प्रयोजन और विकास होता है। एक की अनुभूति को दूसरे के हृदय तक पहुँचाना, यही कला का लक्ष्य होता है।" रहस्यवादी कविताएँ इस दृष्टि से न लोक-सम्मत भावभूमि का आधार ग्रहण करती हैं और न-हो उनमें अनुभूति को संवेद्य बनाने के 'उपयुक्त भाषा-कौशल' ही रहता है।[१२]

शुक्ल जी ने इस सन्दर्भ में भारतीय भक्ति-काव्य की यह कहकर सराहना की है कि उसमें 'व्यक्ताव्यक्त, मूर्त्तामूर्त्त-ब्रह्म के इन दो रूपों या पक्षों में से' व्यक्त और मूर्त्त रूप की ही प्रतिष्ठा हुई है जिसका 'हृदय के साथ सीधा लगाव' है और इसी कारण, इसमें 'अनुभूति की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति' का विकास हुआ है।[१३] 'स्वाभाविक रहस्य-भावना' की मधुरता एवम् 'रमणीयता' की दाद देते हुए आ० शुक्ल ने अनेक आंग्ल-कवियों—शेली, वर्ड्सवर्थ इत्यादि - की कतिपय रहस्यानुप्राणित कविताओं की प्रशंसा की है।

---

१०. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १२८।
११. वही, पृ० १३३।
१२. वही, पृ० १३४।
१३. वही, पृ० १४०-४१।

इस सन्दर्भ में उन्होंने लय की रक्षा के साथ छन्द की आवश्यकता पर भी बलाघात किया है और हिन्दी के 'छायावाद' को 'विलायती चीजों का मुरब्बा' बताया है।[१४] लेकिन साथ ही उन्होंने 'छायावाद' के भीतर लिखी जाने वाली ऐसी कविताओं की स्तवना भी की है जिनका स्वरूप 'विलायती' नहीं होता, जिनमें अपनी भाषा की प्रकृति का अनुसरण करने वाली लाक्षणिकता भी होती है और 'भावुकता और रमणीयता' का मनोरम सामंजस्य भी सम्पादित हुआ होता है। उनकी टिप्पणी है कि कबीर आदि निर्गुणपंथियों और जायसी आदि सूफी प्रेम-मार्गियों ने 'रहस्यवाद' की जो व्यंजना की है, वह 'भारतीय भाव-भंगी और शब्द-भंगी' के ही आश्रयण से।[१५] अतएव स्पष्ट है कि वे 'रहस्यवाद' के एकान्त विरोधी नहीं हैं।

शुक्लजी की उदार दृष्टि— शुक्लजी का स्पष्ट कथन है कि हमारा काव्य-क्षेत्र देव, मतिराम प्रभृति 'कवियों के घेरे के भीतर' सिमटा नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत उसे 'विश्व की नित्य और अनन्त विभूति में स्वच्छन्दतापूर्वक अपनी आँखें खोलकर' विचरण करना श्रेयस्कर होगा। इसके निमित्त हमारा 'अन्तर्दृष्टि को आच्छन्न करनेवाले' परदों का हटना और 'हमारे विचारों में बल' का आना आवश्यक है। वे चाहते हैं कि अन्धानुकरण की प्रवृत्ति का परित्याग कर हम बाहरी 'वादों' और 'प्रवादों' की 'अपने विचार के परीक्षालय' में पूरी जाँच करें। इस सन्दर्भ में उन्होंने 'इस परीक्षालय की नूतन प्रतिष्ठा' के लिए, रसनिरूपण की पद्धति के, आधुनिक मनोविज्ञान आदि की सहायता से और नये-नये अनुभवों के अनुसार, नव-निर्वचन की आवश्यकता रेखांकित की है।[१६]

(ग)

आ० शुक्ल की आलोचना का औचित्य— आ० शुक्ल द्वारा 'रहस्यवाद' की कीगयी आलोचना, जहाँ तक वह विदेशी अनुकरण से सम्बन्धित है, अधिकांशतः साधार समझी जायेगी। रहस्यवादी कवियों की अनुभूति की सचाई के विषय में हममें से बहुतों का उनसे वैमत्य हो सकता है। तथापि प्रस्तुत लेखक को छायावादियों के अतिरंजित 'वेदना-वाद' में अनुभूति की सचाई का दर्शन नहीं होता। आ० शुक्ल 'वेदना की आधुनिक विवृत्ति' को 'काव्य-शिष्टता के विरुद्ध' समझते हैं। क्योंकि वे 'प्रेम को व्याधि के रूप में देखने की अपेक्षा × × × संजीवनी शक्ति के रूप में देखना अधिक पसन्द करते हैं।'[१७] आंग्ल

१४. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १६२।
१५. वही, पृ० १६४।
१६. वही, पृ० १७-१७२।
१७. वही, पृ० ११०।

कवि शेली ने तो इतना ही कहा था कि हमारे मधुरतम गीत वही हैं जो परम विषादमय भावनाओं अथवा विचारों की व्यंजना करते हैं। किन्तु कोमल कल्पना वाले पन्त ने विश्लेष-वेदना को कविता की गंगोत्री ही बना दिया—'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान' छायावादी कवियों ने नाना भाव से वेदना एवं निराशा की तन्त्रियाँ खनखनायी हैं। हमें तो लगता है "जैसे उन्होंने व्यर्थ के आँसू बहाने का कोई फैशन निकाल लिया हो अथवा कविता की दूकान खोलकर, व्यावसायिक रीति से दूकानदारी चलाने के लिए, वेदना के गीत बेंचने लग गये हों।"[१८]

१८. काव्य-चिन्ता (लेखक-कृत), पृ० ११८।

(आ) भाव-निरूपण

५. भाव का सामान्य विवेचन
६. भावों का वर्गीकरण
७. असम्बद्ध भावों का रसवत् ग्रहण

(५) भाव का सामान्य विवेचन

(क)

भाव का परिभाषण—आ० शुक्ल का भाव-निरूपण मूलतः प्राचीन आचार्यों के समान 'रस-दृष्टि' से ही सम्बद्ध है। उसकी विशेषता यह है कि आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में उन्होंने भावों को समझाने का प्रयत्न किया है। हमारी आचार्य-परम्परा मानती चली आयी है कि भाव 'वासना' अथवा 'संस्कार' के रूप में, 'दीर्घ वंश-परम्परा' के फलस्वरूप, मनुष्य-चित्त में अवस्थित होता है। शुक्लजी ने इस सूत्र को ग्रहण कर, मनोविज्ञान की आधुनिक उपपत्तियों से भाव-निरूपण को जोड़ दिया है। प्राणियों के चेतना-विकास की दृष्टि से उन्होंने तीन स्तरों की पहचान की है—प्रथम, इन्द्रिय-संवेदन; द्वितीय, प्रवृत्ति-मूलक वासना; और तृतीय, भाव। तीनों का अन्तर बताते हुए वे कहते हैं—'इन्द्रिय संवेदन वेदना-प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है और भाव वेद्य-प्रधान होता है।'[1] (ध्यातव्य है कि यहाँ 'वेदना' का अर्थ 'कष्ट' नहीं है, अपितु शुद्ध 'संवेदन', अर्थात् प्रारम्भिक प्रतिक्रिया मात्र है।) शुक्लजी का कथन है कि भाव का वैशिष्ट्य यही है कि उसमें 'वेद्य' अर्थात् आलम्बन का बोध स्पष्टतया होता रहता है। भाव के मूल में 'वासनात्मक प्रवृत्ति बनी रहती है और भाव से उस प्रवृत्ति को उत्तेजना मिलती है।'[2] स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रतिपादन में आधुनिक मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण की गवेषणाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव है।

---

१. रस-मीमांसा, पृ० १६१-६२।
२. वही, पृ० १६३।

भाव के विश्लेषण में उन्होंने उसके भीतर तीन अंग निर्दिष्ट किये हैं—

(१) पहला जो प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में 'अन्तस्संज्ञा' में रहता है।

(२) दूसरा जो 'विषय-बिम्ब' के रूप में चेतना में विद्यमान रहता है।

(३) तीसरा जो 'आकृति या आचरण में' अभिव्यक्त होता है।

इस प्रकार उक्त विश्लेषण से रस-सिद्धान्त के जानकार पाठकों को यह समझने में देर नहीं लगती कि यहाँ आ० शुक्ल ने क्रमशः 'वासना', 'आलंबनादि' तथा 'अनुभाव' एवं अन्य सम्बद्ध व्यापारों का निर्वचन मनोविज्ञान के आलोक में किया है।[३] उनका यह परिभाषण पूर्णतः वैज्ञानिक है—"प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेग-युक्त प्रवृत्ति, इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम 'भाव' है।"[४] भाव की यह परिभाषा आज भी प्रायः यथावत् रूप से बनी हुई है। रस की उत्पत्ति का जो सूत्र भरत ने उपनिबद्ध किया है—'विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्तिः'—उसके तीनों अवयवों की पहचान इस परिभाषा में उतरती है। 'प्रत्यय-बोध' विभाव है, 'अनुभूति' व्यभिचारियों के साथ प्रकृत भाव का व्यंजक है और 'वेग-युक्त प्रवृत्ति' में अनुभावादि क्रियाएँ समावेश्य हैं।

'भाव' की उपर्युक्त परिभाषा में केवल एक बिन्दु स्पष्ट उल्लेख से छूट गया है, यह कि भाव की अवस्था में, शरीर के भीतर श्वास-क्रिया में, स्नायु-मंडल में और ग्रन्थियों की रसन-क्रिया में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, अथवा मानसिक दृष्टि से भाव-बोध एक प्रकार की उत्तेजना अथवा उद्वेग की स्थिति का द्योतक है—जैसा जेम्स ड्रेवर इत्यादि आधुनिक मनःशास्त्री मानते हैं। (द्रष्टव्य 'ए डिक्शनरी ऑफ साइकोलोजी', १९६०, पृ० ८०)

तथापि इस अभाव से आ० शुक्ल का भाव-परिभाषण क्षतिग्रस्त नहीं होता।

यहाँ एक तथ्य की ओर हमारा ध्यानाकर्षण होता है। रससिद्धान्त मानता है कि अनुभाव भाव के अनुगन्ता होते हैं और उसके उदय की सूचना देते हैं। अद्यतन मनोविज्ञान में एतद्विषयक दो भिन्न-भिन्न मत वर्तमान हैं—पहला यह कि उत्तेजन के सम्पर्क में भाव का उदय होता है और तदनन्तर कोई क्रिया प्रवर्तित होती है, दूसरा यह कि उत्तेजन के सम्पर्क से पहले ही क्रिया घटित होती है और उसके बाद भाव का उदय होता है। पहले मत के पोषक स्टाउट, मैक्डुगल प्रभृति मनःशास्त्री हैं और दूसरे मत के पोषक जेम्स-लैंग आदि मनोविज्ञानी हैं। प्रत्यक्ष है कि रसवाद पहले मत में विश्वास करता है और शुक्लजी भी इसी मत के पोषक हैं।

---

३. रस-मीमांसा, पृ० १६४।

४. वही, पृ० १६८।

(ख)

भाव और भाव-कोश—भावों का द्विधात्मक वर्गीकरण मनोविज्ञान में सामान्यतः स्वीकृत हुआ है—मौलिक और व्युत्पन्न, 'प्राइमरी' और 'डिराइव्ड'। शुक्लजी ने इन्हें 'मूल' और 'तद्भव' कहा है। क्रोध, भय, हर्ष, शोक, घृणा, आश्चर्य और जिज्ञासा—ये मूल भाव हैं। दया (करुणा), कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि तद्भव भाव हैं।[५]

इन भावों के उल्लेख के बाद, आ० शुक्ल ने विगत शताब्दी के प्रसिद्ध मनोविज्ञान वेत्ता शैण्ड के आधार पर यह निरूपित किया है कि अन्तःकरण-वृत्तियों का विधान एक 'शासन-व्यवस्था' के रूप में होता है। इस नियम के अनुसार भावों की स्थिति भी 'भाव-कोशों' के भीतर होती है। 'भाव-कोश' से अभिप्राय: ऐसी अन्तर्व्यवस्था से है जिसमें अन्तश्चित्त में एक स्थिर प्रणाली की प्रतिष्ठा हो जाती है जिसके भीतर समय-समय पर कई भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। यही स्थिर प्रणाली 'भाव-कोश' है। शुक्लजी का कथन है कि इस निरूपण के अनुसार, 'प्रीति' और 'बैर' भी 'भाव' नहीं, 'भाव-कोश' हैं जिनके भीतर स्थिति-भेद से अनेक भाव प्रकट होते हैं। 'रति' भाव-कोश है जिसके भीतर हर्ष, शोक, क्रोध आदि कई भाव स्थिति के अनुसार उद्भूत हो सकते हैं। 'प्रीति' को ही 'रति' कहा गया है। इसी प्रकार 'बैर' भी एक 'भाव-कोश' ही है।

स्मरणीय है कि 'भाव-कोश' भावों का 'मिश्रण' नहीं, अपितु एक स्थिर आन्तरिक प्रणाली है जिसके शासन में भिन्न-भिन्न भावों का उदय और विलय हुआ करता है। शुक्लजी के मतानुसार, मनुष्य में 'शील' अथवा 'आचरण' की प्रतिष्ठा इसी स्थिर भाव-पद्धति के अनुरूप होती है। अतः 'भाव-विधान' से उच्चतर है 'भाव-कोश', जिसका विकास परवर्ती माना जाना चाहिए।[६]

(ग)

स्थायीभाव का लक्षण—आ० शुक्ल ने प्राचीन आचार्यों के नव भावों—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, आश्चर्य, जुगुप्सा और निर्वेद—का उल्लेख किया है और उन्हें 'स्थायी' माना है। 'स्थायी' का मुख्य लक्षण उन्हें वही मान्य है जो पुराने साहित्य-शास्त्रियों द्वारा निरूपित है—"किसी एक भाव का एक ही अवसर पर इस आधिपत्य के साथ बना रहना कि उसके उपस्थिति-काल में अन्य भाव अथवा मनोवेग उसके शासन के भीतर प्रकट हों और वह ज्यों-के-त्यों बना रहे", स्थायीभाव कहा जाता है।[७] यह लक्षण प्रत्यक्षतः

५. रस-मीमांसा, पृ० १६८।
६. वही, पृ० १७१।
७. वही, पृ० १७२।

पुराने आचार्यों के मतानुसार है—इस सूक्ष्म भेद के साथ कि प्राचीनों ने 'संचारियों' को मूलतः स्थायी का 'पोषक' माना है जबकि आ० शुक्ल, शैण्ड की शब्दावली को ग्रहण कर, उस स्थायी के 'शासन' के भीतर अन्य भावों तथा मनोवेगों का उदय मानते हैं। 'पोषण' और 'शासन' में बारीक भेद प्रसक्त हो जाता है—पहले में, व्यभिचारी इत्यादि उन्मग्न और निमग्न होकर स्थायी की परिपुष्टि करते हैं, दूसरे में, वे स्थायी द्वारा अधिशासित होते हैं। स्थिति बदल जाती है। उदाहरण के लिए 'रति' को लीजिए। प्रत्यक्ष है कि हर्ष, व्रीडा, औत्सुक्य, आवेग इत्यादि संचारियों से 'रति' की प्रवृद्धि होती है और परिस्फुट होकर वह भावित होती है। अतः ये संचारी रति का उपचय करते और उसे भाव्यमान बनाते हैं। यदि यह कहें कि ये व्यभिचारी 'रति' के 'शासन' में प्रकट होते रहते हैं, तो इसका यह अर्थ होगा कि जब रति-भाव चाहे, तब अथवा तभी, कोई संचारी उदित अथवा विलीन होगा। स्पष्ट ही, 'स्थायी' का ऐसा लक्षण-निरूपण युक्ति-संगत नहीं होगा।

'स्थायित्व' से 'आचार्यों का उपर्युक्त अभिप्राय' बताते हुए भी शुक्लजी ने 'रति' को शेष आठ भावों से पृथक् कर दिया है क्योंकि उनके मतानुसार, 'रति' में इस जाति के स्थायित्व के अतिरिक्त, एक अन्य प्रकार का स्थायित्व भी मिलता है जो 'आधुनिक मनोविज्ञान' की दृष्टि से भी स्थायी है।' वह भिन्न स्थायित्व यों परिभाषित हुआ है—"किसी मानसिक स्थिति का इतने दिनों तक बना रहना कि उसके कारण भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न भाव प्रकट होते रहें।" रति में यह स्थिति अवश्य बनी रहती है, किन्तु काव्य-चित्रित रस-प्रसंग में इसे क्या महत्व मिलेगा, यह संदिग्ध है। यहाँ आ० शुक्ल ने एक टिप्पणी की है जिस ओर बरबस ध्यान खिंच जाता है—"जान पड़ता है कि भोज आदि कुछ साहित्य-मीमांसकों का ध्यान 'रति' के इस स्थायित्व की ओर गया था। उन्हें कुछ इस प्रकार भासित हुआ होगा कि रति ही एकमात्र स्थायी है। तब तो उन्होंने कहा कि श्रृङ्गार ही एकमात्र रस है।"[८]

आज हम जानते हैं कि भोज ने 'श्रृङ्गार' को एकमात्र रस कैसे कहा। उनके निरूपण का मूल आधार उनकी यह मौलिक मान्यता है कि 'रस' को 'अभिमान', 'अहंकार' तथा 'श्रृङ्गार' कहा जाता है और इसी रस के संसर्ग से काव्य में कमनीयता आती है—

'रसोऽभिमानोऽहङ्कारः श्रृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थः तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥'

(सरस्वती-कण्ठाभरण)

अर्थात्, रस = अभिमान = अहंकार = श्रृङ्गार। भोज ने जो 'श्रृङ्गार' को

८. रस-मीमांसा, पृ० १७२-७३।

एकमात्र 'रस' कहा है, उसका कारण यह है कि वे 'अहंकार' (अस्मिता) को ही 'शृङ्गार' मानते हैं और काव्य में यही 'अस्मिता' प्रतिफलित होती है। साहित्य में जिसे 'शृङ्गार' कहा गया है, उसे भोज ने 'माध्यमिक' अवस्था वाला शृङ्गार कहा है, जैसे हास्य, रौद्र आदि अन्य रस हैं। सुतराम् भोज का 'शृङ्गार' जिसे वे एकमात्र 'रस' वा 'पारमार्थिक' रस मानते हैं, साहित्य-शास्त्रियों का परिचित एवं बहुचर्चित शृङ्गार नहीं, अपितु अहंकार-अभिमान का सूचक मौलिक शृङ्गार है। आ० शुक्ल इस स्थिति से प्रत्यक्षतया अनभिज्ञ हैं, जैसे संस्कृत साहित्य-शास्त्र के प्रायः सभी विद्वान, डॉ० राघवन के शोध-प्रबन्ध, 'भोज का शृङ्गार-प्रकाश' (अँग्रेजी), के प्रकाशन (१९६३ ई०) तक, भोज के 'अहंकार-शृङ्गार' के विषय में भ्रान्तिजन्य धारणाएँ बनाये हुए थे।

(घ)

राग और रति—जैसा अभी कहा है, रति कोई एक भाव नहीं, अपितु एक 'भाव-कोश' है। आ० शुक्ल कहते हैं कि प्रीति 'भाव-कोश' का मूल कोई एक भाव अवश्य है जिसकी स्थिर, स्थायी दशा 'रति' कहलाती है। इस प्रकार प्रत्येक भाव-प्रणाली अथवा 'भाव-कोश' के भीतर, उसकी नींव के रूप में, कोई एक मूल संस्थापक भाव अवश्य वर्तमान होता है। 'रति' की स्थिर व स्थायी प्रणाली के भीतर विद्यमान रहने वाले मूल भाव को उन्होंने 'राग' कहा है। उनके मतानुसार, 'प्रत्येक भाव उस स्थायी अन्तर्हित दशा को प्राप्त हो सकता है जिसे 'भाव-कोश' या स्थायी कहते हैं।' उनकी टिप्पणी है कि शैण्ड इत्यादि ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया। उनके अनुसार, 'क्रोध' की स्थायी दशा 'बैर' है। अतः 'क्रोध' वस्तुतः 'स्थायी' भाव नहीं है, स्थायी भाव है 'बैर'। इसी से तुलसी ने 'प्रीति' के मुकाबले में 'बैर' का ही नाम लिया है, यथा—'बैर प्रीति नहिं दुरत दुराए।'[९]

उपर्युक्त मान्यतानुसार आ० शुक्ल ने स्थापित किया है कि प्रत्येक भाव 'स्थायी दशा' को प्राप्त हो सकता है—यद्यपि सब भावों की स्थायी दशा 'समान रूप से परिस्फुट' नहीं होती। उन्होंने राग, हास, आश्चर्य, शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा—ये सात भाव तथा इन सातों में से 'हास' तथा 'आश्चर्य' को छोड़कर पाँच की स्थायी दशाएँ 'रति', 'संताप', 'बैर' आदि निर्दिष्ट की हैं। 'हास' तथा 'आश्चर्य' की स्थायी दशाएँ इतनी सुव्यक्त नहीं कि इनके अलग नाम रखे जा सकें।[१०]

'राग' की स्थायी दशा 'रति' के समान, आ० शुक्ल का कथन है, 'क्रोध'

---

९. रस-मीमांसा, पृ० १७५-७६।
१०. वही, पृ० १७९।

की स्थायी दशा 'बैर' का भी इस प्रकार का परिस्फुटन किया जा सकता है कि उसके अन्तर्गत सभी रति-सुलभ संचारी—सुखात्मक अथवा दुःखात्मक—समाविष्ट हो जायँ। काव्यों में 'बैर' के अन्तर्गत ऐसे संचारियों के उदाहरण उपलब्ध हो जायेंगे—ऐसा उनका कथन है। जैसे किसी 'भाव' के प्रतीति-काल में त्रास, अमर्ष इत्यादि जैसी अंतर्दशाएँ संचारी-रूप में आती हुई कही गयी हैं, वैसे ही मूल भाव अपनी स्थायी दशा का संचारी होकर बराबर आता रहता है।[११]

आ० शुक्ल ने 'भाव' की स्थायी दशा को ही 'भाव-कोश' कहा है। 'भाव' में सामान्य संचारियों को वे संचारी मानते हैं और उसकी स्थायी दशा, अर्थात्, 'भाव-कोश' के चित्रण में उसके मूल संस्थापक भाव को उसका संचारी मानते हैं। यहाँ उनका स्वतंत्र, शास्त्रनिरपेक्ष चिन्तन दृष्टि-गोचर होता है। किन्तु जब प्रायः प्रत्येक भाव की 'स्थायी दशा' हो सकती है, तब काव्य में स्वीकृत स्थायीभाव, शुक्ल जी के अनुसार, केवल 'भाव' हैं, 'स्थायी' नहीं।

भाव-दशा और स्थायी-दशा— किसी भाव की 'भाव-दशा' और उसकी 'स्थायी दशा' की पहचान के लिए आ० शुक्ल संचारियों को प्रमाण मानते हैं। भाव-दशा में संबद्ध संचारी उस भाव की प्रकृति के अनुसार सुखात्मक वा दुःखात्मक होंगे, लेकिन स्थायी दशा में सुखात्मक तथा दुःखात्मक दोनों प्रकार के संचारी हो सकते हैं—'पर स्थायी दशा को प्राप्त होने पर यह बात नहीं रहती।'[१२]

उपर्युक्त टिप्पणी के अनुक्रम में शुक्लजी ने 'साहित्य-दर्पण' से स्थायी भाव का यह लक्षण उद्धृत किया है: 'अविरुद्ध अथवा विरुद्ध कोई भी भाव मूल स्थायी को तिरोहित करने में असमर्थ होता है।'[१३] 'पर स्थायी दशा × × ×' वाले उपर्युक्त कथन के ठीक बाद, उसी सातत्य में, जिस ढंग से विश्वनाथ की यह परिभाषा उद्धृत की गयी है, उससे प्रतीत होता है कि शुक्लजी 'स्थायी दशा' का यह लक्षण स्वीकार करते हैं। क्रोध की स्थायी दशा 'बैर' के संदर्भ में वे कह चुके हैं कि उसमें भी 'रति' के समान सभी प्रकार के संचारी समाविष्ट हो सकते हैं। अतएव जब वे 'साहित्य-

---

११. रस-मीमांसा, पृ० १८१।

१२. वही, पृ० १८२।

१३. 'अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुर-कन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः।'

(सा० द०, ३।१७४)

दर्पण' से स्थायी का वर्तमान लक्षण उद्धृत करते हैं, तब इसमें सन्देह का अवकाश नहीं रहता कि उन्हें स्थायी दशा का यही लक्षण मान्य है। लेकिन, इस लक्षण को देने के बाद, वे तुरन्त इसकी अपूर्णता का कथन करते हैं: 'स्थायी का यह लक्षण ग्रंथों में स्वीकार किया गया है, पर 'रति' को छोड़ (जो राग की स्थायी दशा है) क्रोध आदि भावों में यह लक्षण नहीं घटता। सुखात्मक भावों से निष्पन्न हास्य, वीर और अद्भुत रसों के संचारियों में कोई दुःखात्मक भाव या चित्त-विकार न मिलेगा; इसी प्रकार दुःखात्मक भावों से निष्पन्न करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स रसों के संचारियों में हर्ष आदि सुखात्मक भाव या चित्त-विकार न मिलेंगे।'[१४]

यहाँ आ० शुक्ल ने अपनी स्थिति स्वयं उलझा दी है। भाव की 'स्थायी दशा' के विषय में वे कह चुके हैं और 'रति' के अतिरिक्त 'क्रोध' की स्थायी दशा 'बैर' के संदर्भ में (भी) दिखा चुके हैं कि 'स्थायी दशा' में सभी जाति के संचारियों का सन्निवेश हो सकता है। किन्तु यहाँ वे विश्वनाथ के स्थायी-लक्षण को खंडित भी करते हैं। अतः उनकी वास्तविक स्थिति उलझ जाती है। असलियत यह है कि उनके मन में स्व-निरूपित प्रत्येक भाव की 'स्थायी दशा' और पुराने आचार्यों का 'स्थायी भाव' (जो उनकी 'स्थायी दशा' से प्रत्यक्षतः भिन्न है) ये दोनों बातें एक साथ विद्यमान हैं और वही स्थिति उन्हें उलझा देती है। यह उलझन किसी नवीन सिद्धान्त-निरूपण में बाधक बन जाती हैं।

जहाँ तक विश्वनाथ के स्थायी-लक्षण का प्रश्न है, शुक्लजी का उक्त अपलाप एकांगी है। वास्तव में अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार के मनोभाव स्थायी भाव को तिरोहित नहीं कर सकते—यह कथन किसी पूरी कविता अथवा पूरे प्रबन्ध को ध्यान में रखकर किया गया है। विश्वनाथ ने स्वयं इस विषय में प्रबन्धों के उदाहरण दिये हैं। जैसे 'मालती माधव' में 'रति' की, 'लटकमेलक' में 'हास' की, 'रामायण' में 'शोक' की और 'महाभारत' में 'शम' की प्रधानता है, अर्थात् ये भाव उन काव्यों के क्रमशः 'स्थायी' हैं। अन्य काव्यों में भी यही स्थिति होती है—'एवम् अन्यत्रापि।' उसी सातत्य में विश्वनाथ कहते हैं कि "एते हि एतेषु अन्तरा उत्पद्यमानैः तैः विरुद्धैः अविरुद्धैः च भावैः अनुच्छिन्नाः प्रत्युत परिपुष्टा इव सहृदयानुभव-सिद्धाः।"[१५]

विश्वनाथ ने जिन काव्यों को उदाहृत किया है, उनके विषय में सभी सहृदयों का अनुभव यही है कि उदाहरणतः 'महाभारत' में-हो, बाच-

१४. रस-मीमांसा, पृ० १८२।

१५. साहित्य-दर्पण, (मोतीलाल बनारसीदास), पृ० १०५।

बीच में रति, हास, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि अनेक भाव वर्णित हैं, किन्तु फिर भी, उसमें आदि से अन्त तक 'शम' की अविच्छिन्नत्वेन विद्यमानता अनुभूयमान है। उल्लेखनीय है कि जब इन काव्यों में निबंधित मूल स्थायी संचारी-रूप में आये हुए अन्य स्थायी भावों से खंडित नहीं होता, तब विशुद्ध 'संचारी' संबद्ध स्थायी का तिरोधान सम्पादित करने में क्योंकर समर्थ हो सकते हैं ? विश्वनाथ ने अपनी परिभाषा में, स्मरणीय है, 'संचारी' का नाम नहीं लिया है, प्रत्युत 'भाव' मात्र का कथन किया है।

'दर्पण'-कार ने 'संचारी' का जो परिभाषण किया है, उस पर इस संदर्भ में ध्यान देना आवश्यक है—

'विशेषादभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्न-निमग्नाः त्रयस्त्रिंशत् च तद्भिदाः।'

—"स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायिभाव में उन्मग्न तथा निमग्न, अर्थात्, आविर्भूत तथा तिरोभूत, होकर निर्वेदादि संचारी अनुकूलता से (आभिमुख्येन) प्राप्त होते हैं। अर्थात् विशेष रीति से अनुकूलतापूर्वक संचरण करने के कारण, ये 'व्यभिचारी' कहलाते हैं।"

वृत्ति में ग्रंथकार ने स्वयमेव इसे स्पष्ट कर दिया है—"स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भाव-तिरोभावाभ्याम् आभिमुख्येन चरणात् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते।"[१६]

इस परिभाषा में दो बिन्दु ध्यातव्य हैं—(१) 'स्थायी' तो स्थिरतापूर्वक वर्तमान होते हैं और 'व्यभिचारी' उन्हीं के, प्रत्यक्षतः वा परोक्षतः, परिपोष में उन्मग्न अथवा निमग्न होते रहते हैं; (२) ये संचारी 'अभिमुख' अर्थात् अनुकूल रीति से-ही समाविष्ट होते हैं। अतएव विश्वनाथ की स्थिति स्पष्ट है : संचारी आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते हैं और प्रत्येक दशा में, वे स्थायी की अनुकूलता (उसके परिपोष) में-ही चित्रित होते हैं। अन्य शब्दों में, विश्वनाथ यह नहीं कहते कि सभी 'संचारी' सभी स्थायियों की परिपुष्ट करते हैं और इस प्रकार स्थायी को खंडित नहीं करते। स्थायी की 'स्थिरता' और व्यभिचारी की 'आभिमुख्येन' संचरणशीलता—ये दोनों बिन्दु एक साथ महत्त्व ग्रहण करते हैं।

सुतराम्, यह स्पष्ट हो जाता है कि आ० शुक्ल ने विश्वनाथ को गलत ढंग से उद्धृत किया है। पुनः उनके मानस में दो भ्रान्तिमूलक धारणाएँ काम कर रही हैं : पहली यह कि आचार्य-परम्परा में प्रतिष्ठित 'स्थायी' और उनकी 'स्थायी दशा' दोनों 'पूर्णतः' एक ही हैं, दूसरी यह कि पारिभाषिक 'संचारी' और मूल स्थायी के निबंधन के बीच-बीच में चित्रित अन्य

१६. साहित्य-दर्पण, पृ० ८५।

स्थायी-रूप संचारी दोनों एक-ही हैं। यदि उसके चिन्तन में हमारी कथित भ्रान्तियाँ नहीं भी हैं, तोभी प्रस्तुत प्रसंग में उन्होंने अपने कथनों द्वारा भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। वास्तविकता यह है कि वे नव्य-चिन्तन के अनुरागी हैं, नवीन निरूपणों के अभिलाषी हैं, किन्तु स्थिर सिद्धान्त-प्रतिपादन में उनकी मानसिक पकड़ या तो शिथिल हो जाती है अथवा वे तत्कालीन काव्यालोचन की दुर्बल स्थिति के बोध से अनुप्राणित होकर, अपनी सहज गम्भीर चिन्तन-भंगी से स्खलित हो जाते और कोई असंगतिपूर्ण कथन कर बैठते हैं जिसकी तात्त्विकता अथवा प्रामाणिकता में उन्हें स्वतः पूर्ण विश्वास रहता है।

(ङ)

भाव की शील-दशा—स्थायित्व-विवेचन में ऊपर उन्होंने अभावात्मक 'निर्वेद' के अलावा 'उत्साह' को भी छोड़ दिया था। 'उत्साह' की 'स्थायी दशा' के अनुसंधान में वे एक 'दूसरी ही कोटि का स्थायित्व' पाते हैं जिससे 'मनुष्य के स्वभाव का निर्माण होता है।'[१७] इस प्रसंग में उन्होंने बताया है कि जब कोई भाव 'प्रकृतिस्थ' हो जाता है, अर्थात् मनुष्य की प्रकृति का अविच्छेद्य अंग बन जाता है, तब वह उसका स्थायी 'स्वभाव' हो जाता है। ऐसी अवस्था में उस भाव का आलंबन एक नहीं, अनेक व्यक्ति होते हैं। भाव के इस प्रकार 'प्रकृतिस्थ' होने की अवस्था को शुक्लजी ने 'शील-दशा' कहा है और कतिपय भावों की 'भाव-दशा', 'स्थायी-दशा' तथा 'शील-दशा' की सारिणी भी प्रस्तुत की है।[१८]

'उत्साह' की विशेष स्थिति—'उत्साह' का अर्थ वे 'साहस की उमंग' बताते हैं जो 'किसी कठिन कर्म की ओर प्रवृत्त करती है।'[१९] यहाँ पुराने आचार्यों की परिभाषाएँ भी अवलोक्य बन जाती हैं।

भरत कहते हैं—'उत्साह' उत्तम प्रकृति के नायकों में होता है और अविषाद, शक्ति, धैर्य, शौर्य, त्याग आदि कारणों से उत्पन्न होता है।[२०] विश्वनाथ का कथन है—किसी कार्य के करने में स्थिर-तर तथा उत्कट औत्सुक्य अथवा आवेश (संरम्भ) को 'उत्साह' कहते हैं।[२१] जगन्नाथ की परिभाषा है—दूसरे के पराक्रम, दान आदि के स्मरण से प्रादुर्भूत 'औन्नत्य' नामक चित्तवृत्ति 'उत्साह' है।[२२]

---

१७. रस-मीमांसा, पृ० १८२-८३।
१८. वही, पृ० १८६।
१९. वही, पृ० १८३।
२०. नाट्यशास्त्र (चौखंबा), पृ० ८३।
२१. साहित्य-दर्पण, ३/१७८।
२२. रस-गङ्गाधर (चौखंबा), प्रथम आनन, पृ० १४४।

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि शुक्लजी की परिभाषा में पुराने आचार्यों की परिभाषाओं का ही नयी अभिधावली में आपात हुआ है। शुक्लजी एक आपातिक नवीनता अथवा भिन्नता यह कथित करते हैं कि 'उत्साह' के आलम्बन शास्त्र-वर्णित प्रति-मल्ल, दानपात्र या दयापात्र आदि नहीं होते, अपितु युद्ध, दान, दया आदि के कर्म ही आलम्बन होते हैं। अतएव उनका कथन है कि 'उत्साह', स्थायित्व ग्रहण करने पर, 'शील-दशा' को ही प्राप्त होगा, सामान्य भावों की 'स्थायी दशा' को नहीं।[२३] यहाँ अवधेय है कि भरत ने 'उत्साह' के उत्पादक-रूप में व्यक्तियों का नहीं, प्रत्युत उल्लास, शक्ति, धैर्य, शौर्य, त्याग आदि के 'कर्मों' का ही कथन किया है। इस प्रकार शुक्लजी का युद्ध, दान, दया इत्यादि के कर्मों का कथन वस्तुतः कोई नया नहीं है। यद्यपि वे इसे नया समझते प्रतीत होते हैं। भाव 'आलम्बन-प्रधान' होता है, इसे वे पहले ही कह चुके हैं और प्रस्तुत सन्दर्भ में भी दुहराते हैं। यतः भाव एक ही आलम्बन के प्रति स्थायी-दशा को प्राप्त हो सकता है, और यतः 'उत्साह' में यह बात नहीं घटती, अतः मनोविज्ञानियों ने 'उत्साह' को प्रधान भावों में परिगणित नहीं किया है—शुक्लजी की यह तर्कणा है। भारतीय आचार्यों द्वारा, तथापि 'उत्साह' के स्थायीभावों में ग्रहण का कारण वे बताते हैं—उसके परिपोष से दर्शकों अथवा श्रोताओं में उत्पन्न होने वाला 'विविक्त रसानुभव' है।[२४] शुक्लजी की रसज्ञता पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता और उनकी यह टिप्पणी कि 'रस-दृष्टि' से ही प्राचीनों ने भाव-निरूपण किया है, सर्वथा सत्य है। लेकिन उनकी उपर्युक्त विवेचना से यह प्रत्यक्ष है कि 'उत्साह' जब भी मुख्यत्वेन काव्य में वर्णित होगा तब वहाँ उसकी 'शील-दशा' ही प्रसक्त होगी, सामान्य भावों वाली 'स्थायी दशा' नहीं।

(च)

दयावीर और 'करुणा'—'उत्साह' के प्रसंग में आ० शुक्ल ने 'दयावीर' का विवेचन किया है। सामान्य पाठक जानते हैं कि साहित्यशास्त्रियों ने वीर-रस का 'युद्धवीर', 'धर्मवीर', 'दानवीर' तथा 'दयावीर' नाम से चतुर्धा विभाजन किया है। शुक्लजी के कथनानुसार 'दयावीर, एक 'संकर भाव' है जिसमें प्रधानता तो रहती है 'दया' अथवा 'करुणा' की, किन्तु सहयोगी भाव रहता है 'उत्साह' का। उनका यह कथन तथ्यसंगत तो है तथापि हम यह कहना चाहेंगे कि 'करुणा' वहाँ प्रेरक बनती है अवश्य, किन्तु अन्तिम विश्लेषण में 'उत्साह' ही स्थिर मनोदशा बन जाता है। यहाँ उन्होंने स्वतः यह प्रश्न उत्थापित किया है कि 'दयावीर' को उत्साह या वीररस के अन्तर्गत क्यों रखा

---

२३. रस-मीमांसा, पृ० १८४।

२४. वही, पृ० १८०।

गया; 'दया' को ही प्रधान भावों में क्यों नहीं गृहीत किया गया ? उनका सीधा उत्तर है 'रस की दृष्टि से।'

किन्तु शुक्लजी का यह समाधान पुनः उलझाव उत्पन्न करता है। वे कहते हैं कि "आश्रय द्वारा व्यक्त किया हुआ भाव साधारणीकरण के प्रभाव से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की रस-रूप में अनुभूति उत्पन्न करता है।" तात्पर्य यह है कि काव्यार्पित भाव साधारणीभूत होकर प्रमाता में रसरूपेण अनुभूयमान होते हैं। इस शास्त्रीय मान्यता से हमें कोई उलझन उत्पन्न नहीं होती। किन्तु जब वे 'दया' के प्रधान-भाव नहीं माने जाने का कारण यह बताते प्रतीत होते हैं कि 'दया' पहले से ही 'साधारणीकृत भाव' है जिस कारण रसीकरण के लिए उसका पुनः साधारणीकरण अर्थहीन है,[२५] तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'साधारणीकृत' होने से उनका क्या अभिप्राय है ? सभी भाव सहृदय-सामान्य होते हैं। फिर भी काव्य में आश्रय-विशेष में चित्रित होकर जब वे व्यक्तिबद्ध बन जाते हैं, तब 'विभावन' व्यापार द्वारा उनका साधारणीकरण पुनः सम्पादित होता है। इस दृष्टि से 'करुणा' भी शेष सभी भावों की समकक्ष बन जाती है। अतः प्रधान भावों की गणना में उसके परित्याग का यह आधार कैसे बन सकता है ? हमारी समझ में 'दया' या 'करुणा' स्वतः कोई मौलिक भाव नहीं है, इस कारण कि उसका उदय हमारे भीतर किसी अन्य भाव के उदय के बाद अथवा उसके साथ-साथ होता है। उदाहरणतः, किसी को दुःख में देखकर पहले हममें दुःख ही उत्पन्न होता है और तब उसके अनन्तर या साथ-साथ करुणा का भाव जागरित होता है। इसी कारण आचार्यों ने 'करुणा' को मूल नहीं, 'व्युत्पन्न' भाव माना है; "रौद्रात्तु करुणो रसः।" भरत का अभिप्राय स्पष्ट है। कोई उत्पीड़क जब किसी निर्बल अथवा निर-पराध को सताता है, तब उसके प्रति क्रोध और उत्पीड्यमान व्यक्ति के प्रति उस क्रोध के सहचारी-रूप में 'करुणा' उत्पन्न होती है। सुतराम् 'करुणा' मूल या प्रधान भाव नहीं मानी गयी। इस प्रत्यक्ष समाधान को शुक्लजी ने उलझा दिया है।

आ० शुक्ल का इस विषय में किया गया एक अन्य कथन भी विचारणीय बन जाता है—"आश्रय के शोक या दुःख का अनुभव श्रोता या दर्शक के हृदय में परदुःख-जन्य दुःख अर्थात् दया या करुणा के रूप में होगा।"[२६] स्मरणीय है कि तात्कालिक प्रसंग है—'दयावीर' का वीररस के अन्तर्गत रखा जाना। उसी के स्पष्टीकरण-प्रसंग में प्रस्तुत कथन आया है 'आश्रय के शोक या दुःख' के 'अनुभव' के सन्दर्भण से 'करुणरस' की व्यंजना होती समझी जायेगी।

---

२५. रस-मीमांसा, पृ० १८५-८६।

२६. वही, पृष्ठ १८५।

तब यही माना जा सकता है कि 'दयावीर' की 'दया' और करुणरस की 'दया' दोनों के समान होने के कारण ही पूर्वोक्त कथन आया है। किन्तु ऐसा मान लेने पर (और यही माना ही जा सकता है), 'आश्रय' शब्द गड़बड़ी उत्पन्न करता है। जीमूतवाहन वाले प्रसंग में जिसे 'दयावीर' का उदाहरण आचार्यों द्वारा बताया गया है, उस सम्बन्धित उक्ति, 'शिरामुखैः स्यन्दत्' इत्यादि का वक्ता जीमूतवाहन है।[२७] वही नायक है, और वही 'आश्रय' है। किन्तु, जीमूतवाहन यहाँ दुःख या शक्ति नहीं व्यक्त कर रहा है, अपितु शंखचूड़ के प्रति उसके हृदय में जो दया उमड़ी है, उसके फल-स्वरूप वह आत्मोत्सर्ग का अदम्य उत्साह प्रदर्शित कर रहा है। अतः यहाँ आश्रय के शोक या दुःख का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता जिसका अनुभव श्रोता या दर्शक के हृदय में दया या करुणा उत्पन्न करे। इसके विपरीत प्रमाता नायक के करुणा-प्रेरित उत्कट, धैर्यपूर्ण तथा अविचलायमान उत्साह की अनुभूति से अभिभूत हो जाता है जो वीररस का लक्षण है।

पूर्वोद्धृत कथन के वाक्यांश 'आश्रय के शोक या दुःख का अनुभव' का दूसरा अर्थ करुणरस के 'आश्रय' से लिया जा सकता है। उदाहरणतः, 'उत्तर-रामचरित' में नायक राम का हृदय-विदारक 'शोक' भी करुणरस में परिणत हो गया है। वही उस शोक या दुःख के 'आश्रय' हैं। नाटक के श्रोता या दर्शक के हृदय में राम की अपरिमेय वेदना उनके प्रति करुणा का गहरा श्रोत उन्मीलित कर देती है और वह करुणरस के अनुभव में निमग्न हो जाता है। इसी कारण शारदातनय ने करुणरस की 'प्रेक्षोपलब्धि' के रूप में 'करुणा' को स्वीकार किया है—"करु क्लेशः इति ख्यातः; क्लेशं न सहते यतः यस्य धीः करुणा, सा स्यात् तद्रसः करुणो भवेत्।" (भावप्रकाश)। यहाँ 'धीः' का अभिप्राय 'प्रेक्षोपलब्धि' अर्थात् नाटक के प्रेक्षण से दर्शक को मिलने वाली उपलब्धि है जो करुणा ही होती है।[२८]

स्पष्ट है कि आ० शुक्ल ने 'दयावीर' के 'वीरत्व'-स्थापन के लिए जो तर्क-सारणी प्रस्तुत की है, वह उलझी हुई है। "आश्रय द्वारा व्यक्त किया हुआ भाव साधारणीकरण के प्रभाव से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की रस-रूप में अनुभूति उत्पन्न करता है"—यह कथन और उसी से बाद यह दूसरा कथन कि "आश्रय के शोक या दुःख का अनुभव श्रोता या दर्शक के हृदय में परदुःख-जन्य दुःख अर्थात् दया या करुणा के रूप में होगा"—ये दोनों यौगपदिक कथन आपाततः स्थिति को उलझाव-पूर्ण बना देते हैं। मूल बात है,

---

२७. साहित्य-दर्पण (मोतीलाल), पृ० ११६।

२८. "बुद्धिर्मनीषाधिषणाधीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः।
प्रेक्षोपलब्धिः चित् संवित् प्रतिपत् ज्ञप्ति चेतना।" (अमरकोश, १।५।१)

जैसा शारदातनय ने संकेत किया है, सामाजिक की प्रेक्षणोपलब्धि (अथवा पठनोपलब्धि)। भरत के इस कथन का कि स्थायीभाव ही रसत्व ग्रहण करते हैं, इस 'प्रेक्षोपलब्धि' से कोई तात्त्विक विरोध नहीं है। आखिर 'करुण' का स्थायी 'शोक' ही तो रसत्व को प्राप्त करता है, भले ही उसकी अन्तिम परिणति 'करुणा' में हो जाती है। इसी प्रकार 'दयावीर' की 'दया' सद्यः नायक के 'उत्साह' में परिणत हो जाती है और तब वही 'उत्साह' उसकी स्थिर, स्थायी प्रेरणा बन कर उसके सम्पूर्ण क्रिया-कलाप को संचालित करता है—"कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयान् उत्साह उच्यते।" अतएव जहाँ कोई तात्त्विक विसंगति नहीं है, वहाँ विसंगति की उद्भावना कर और तदनन्तर उससे समाधान का प्रयत्न कर, पूरा 'गड़बड़झाला' उत्पन्न कर दिया गया है।

(छ)

शील-दशा और रसोत्पत्ति—आ० शुक्ल के 'शील-दशा' वाले निरूपण का तनिक पृथक् परीक्षण वांछनीय प्रतीत होता है। शुक्लजी के अनुसार, 'शील-दशा' का व्यवच्छेदक गुण है, सम्बन्धित भाव का एक ही आलम्बन से बद्ध न होकर 'समय-समय पर भिन्न-भिन्न आलम्बन ग्रहण' करना। उन्होंने इस प्रसंग में रति, क्रोध, शोक प्रभृति भावों की शील-दशापत्ति का निरूपण भी किया है।[२९]

इस विषय में कई प्रश्न उत्पन्न होते हैं। पहला—'राग' की स्थायी दशा 'रति' का वर्णन तो रस का उद्रेक करेगा, किन्तु 'क्रोध' की स्थायी दशा 'बैर' का वर्णन भी क्या उसी प्रकार की रस-सृष्टि करेगा? दूसरा—ऐसे ही, शोक, भय तथा जुगुप्सा की 'स्थायी दशा' भी क्या रस उत्पन्न करेगी? तीसरा—क्या इन सभी भावों की 'शील-दशा' का वर्णन भी प्रमाता में रस का संचार करेगी? चौथा—जब 'उत्साह' की 'शील-दशा' ही काव्य में वर्णित होती है, तब क्या उसके 'विविक्त रसानुभव' और अन्य भावों के रसानुभव में (जो प्रायः 'शील-दशा' से व्यतिरिक्त, अपने मूल स्वरूप में ही काव्य में चित्रित होते हैं) कोई तात्त्विक अन्तर किया जा सकता है? शुक्लजी स्वयं मानते हैं कि प्रबन्धों में, मुक्तकों में नहीं, 'शील-दशा' का निबन्धन होता है और "आलम्बन का स्वरूप संघटित करने में उपादान-रूप होकर 'शील-दशा' रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है।"[३०] यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्लजी का 'रस' सामान्य काव्य-रसों से आगे बढ़ जाता है और वह अन्ततोगत्वा 'भाव' का 'रस' नहीं, 'शील' अथवा 'चरित्र' का 'रस' बन गया है।

---

२९. रस-मीमांसा, पृ० १८२-८३।
३०. वही, पृ० १८९।

आ० शुक्ल इस प्रसंग में किसी सन्देह का अवकाश नहीं रहने देते। वे गोस्वामी तुलसीदास द्वारा किये गये राम के 'शील-स्वभाव' के वर्णन का विशद उदाहरण देते हैं—

'सिसुपन ते पितु मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाउ।'[31] इत्यादि।

('विनयपत्रिका')

हम व्यक्तिगत रूप में इस 'शील' गत रसानुभव का अनुमोदन कर सकते हैं। तथापि यह प्रश्न तो उत्पन्न होता ही है कि क्या राम जैसे उदात्त चरित्रों के अतिरिक्त, अन्य सभी प्रकार की शील-दशाओं के धारकों अथवा आश्रयों का वर्णन भी उसी प्रकार के रस की सृष्टि करेगा ?

(६) भावों का वर्गीकरण

(क)

सुखात्मक-दुःखात्मक—आठ स्थायीभावों को आ० शुक्ल ने दो वर्गों, सुखात्मक तथा दुःखात्मक में विभाजित किया है। राग, हास, उत्साह तथा आश्चर्य को पहले और क्रोध, शोक, भय तथा जुगुप्सा को दूसरे वर्ग में रखा है। यद्यपि उनका कथन है, आधुनिक मनोविज्ञानियों ने क्रोध, भय तथा शोक के साथ आनन्द को भी मूल भाव माना है, तथापि साहित्य के भावों में आनन्द को गृहीत नहीं किया गया है। इसका कारण शुक्लजी के कथनानुसार यह है कि दूसरों के दुःख में आँसू बहाना स्वाभाविक है, किन्तु दूसरों के सुख वा आनन्द में आनन्दित होने का नियम उतना व्यापक नहीं है। इसी से प्राचीन आचार्यों ने आनन्द को रस के 'प्रधान प्रवर्तक भावों में' स्थान न देकर, 'हर्ष' को केवल संचारी-रूप में स्वीकार किया है। ईर्ष्या के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। मनोविज्ञान में 'विषयोन्मुख' होने के कारण ईर्ष्या भी भाव है। तथापि आश्रय द्वारा किसी व्यक्ति के प्रति प्रदर्शित ईर्ष्या का अनुभव द्रष्टा को 'रस-रूप' में नहीं होगा। इसी कारण उसे साहित्य के प्रधान भावों में ग्रहण नहीं किया गया। आ० शुक्ल ने बार-बार दुहराया है कि भावों का निरूपण आचार्यों ने रस-दृष्टि से किया है और वे भी सामान्यतः रस-व्यंजना को अपने निरूपणों में प्रमुखता प्रदान करते हैं।[1] किन्तु आनन्द के प्रधान भाव नहीं माने जाने का जो कारण वे निर्दिष्ट करते हैं, वह युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। यदि दूसरों के सुख में सुखी होने का नियम सार्वभौम या सार्वलौकिक नहीं है,

३१. रस-मीमांसा, पृ० १८०।

१. 'रस-मीमांसा', पृ० १८१-८२।

तो दूसरों के क्रोध में क्रुद्ध होने का नियम भी सार्वभौम नहीं है। भाव तो सभी प्रायः 'सामान्य-गुण-योग' वाले होते हैं, अर्थात् सभी लोग न्यूनाधिक परिमाण में भावों का अनुभव करते हैं। किन्तु इन्हें रस-दशा तक पहुँचाना काव्य अथवा नाट्य में आवश्यक माना गया है। हमारा अनुभव बताता है कि दूसरों के 'आनन्दोत्सव' में हम भी यदि सात्त्विक भावापन्न हुए तो आनन्द से प्रफुल्ल हो जाते हैं। वास्तविकता यह है कि किसी भी भाव की अनुभूति की व्यापकता अपरिमित नहीं, अपितु सीमित एवम् सापेक्षिक है। अतएव आनन्द के प्रधान भाव नहीं माने जाने का कारण अन्यथा अन्वेष्य है। वस्तुतः 'आनन्द' शब्द की व्यंजना भारतीय चिन्तन में अन्य भावों की अपेक्षा गम्भीर-तर रही है। वह कोई मौलिक भाव भी नहीं है, प्रत्युक्त उसमें आन्तरिक तुष्टि एवम् हर्ष और मनोविश्राम की भावनाओं का सामंजस्य है। प्राक्तन आचार्यों ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आनन्द को प्रधान भाव नहीं माना है। पुनः यह भी स्मरणीय है कि प्रत्येक प्रधान (स्थायी) भाव का रसीकरण उनकी रस-योजना में आनन्द-पर्यवसायी है। अतः आनन्द प्रत्येक भाव की आभ्यन्तरिक अनुभूति का, उनके मतानुसार, आवश्यक अंग है। इन्हीं कारणों से आनन्द को मूल प्रवर्तक भावों में हमारे साहित्य की परिनिष्ठित परम्परा में स्थान नहीं मिला है। उल्लेखनीय है कि प्रधान (स्थायी) भावों की तरह अन्य संचारियों की प्रकृति भी सुखात्मक अथवा दुःखात्मक होती है।

(ख)

स्थायी-संचारी व्यवस्था— उपर्युक्त वर्गीकरण के बाद, आ० शुक्ल ने रस-शास्त्र में प्रचलित स्थायी-संचारी विभाजन पर विशद, गम्भीर विचार किया है। उस विवेचन की विशेषता यह है कि उन्होंने मनोविज्ञान की आधुनिक गवेषणाओं के परिप्रेक्ष्य में शास्त्रीय निरूपणों का परीक्षण किया है। शैण्ड उनके प्रिय, विश्वसनीय पथप्रदर्शक हैं, यद्यपि वे शैण्ड से प्रतिबद्ध नहीं हैं। परिभाषाएँ उन्होंने 'साहित्य-दर्पण' से गृहीत की हैं और उनकी यथार्थता का प्रतिपादन स्वतन्त्र चिन्तन तथा स्वतन्त्र रीति से किया है।

शैण्ड को उद्धृत करते हुए आ० शुक्ल ने पुनः बताया है कि "प्रत्येक भाव एक प्रकार का व्यवस्था-चक्र है जिसके साथ शेष भावों का सम्बन्ध भी अव्यक्त रूप में लगा रहता है।" इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, उन्होंने मनोविज्ञानियों के 'मूल या जनक' भाव और साहित्य के प्रधान या स्थायीभाव में यह अन्तर बताया है कि पहला "स्व-प्रवर्तित अन्य भाव के उदय के समय अपना स्वरूप विसर्जित कर देता है" जबकि साहित्य-गत मूलभाव अन्य सहचारी भावों द्वारा दबाये नहीं जाते। उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रेम को लिया है। प्रिय अथवा प्रेमास्पद के उत्पीड़क के प्रति जब क्रोध का उदय होगा,

तब रति-भाव की अनुभूति दब जायेगी और क्रोध ही प्रमुख कारण बन जायेगा। लेकिन साहित्य में ऐसा नहीं होता। सञ्चारी (संचारी) भावों के 'प्रतीति-काल' में भी रति-भाव का 'आभास' बना रहेगा। इस प्रसंग में उन्होंने मानवती नायिका का उदाहरण लिया है और कहा है कि मान-समय में उसके द्वारा प्रदर्शित क्रोध ऐसा 'बलवान्' नहीं होगा कि रति-भाव सर्वथा निराकृत हो जाय।

इस सन्दर्भ में शुक्लजी ने जो उदाहरण दिये हैं वे विचारणीय बन जाते हैं। प्रिय के उत्पीड़न से जन्य क्रोध और मानवती प्रेयसी के क्रोध में प्रत्यक्षतः अन्तर है। यदि काव्य में प्रेमास्पद के अन्य द्वारा उत्पीड़न का चित्रण हो, तो यह कहना कठिन होगा कि दर्शक अथवा श्रोता की मानसिकता रति-भाव की अनुभूति से अथवा क्रोध के आविर्भाव से, मुख्यतः प्रभावित होगी। वस्तुतः शुक्लजी इस शास्त्रीय विधान को रेखांकित कर रहे हैं कि स्थायी भावों का स्वरूप 'स्व-प्रवर्तित आगन्तुक भावों' के समावेश से 'सर्वथा तिरोहित नहीं होता।'[२] इस तथ्य को वे मनोविज्ञान के आलोक में परखना चाहते हैं और तब मूल भाव के स्व-प्रवर्तक अन्य भावों के द्वारा दब जाने के शैण्ड के कथन को उद्धृत करने से, वे असंगतिपूर्ण तर्कणा में फँस जाते हैं। यह कहना भी अ-युक्त होगा कि प्रिय के उत्पीड़क के प्रति आविर्भूत क्रोध में रति-भाव सर्वथैव तिरोहित हो जायेगा।

साहित्यगत स्थायी के सर्वथा तिरोहित न होने का कारण आ० शुक्ल यह बताते हैं कि उसके चित्रण में आलम्बन स्थिर रहता है—इसके बावजूद कि संचारियों का आलम्बन प्रधान भाव के आलम्बन से भिन्न भी रह सकता है। काव्य अथवा नाट्य में हमारा ध्यान मूल आलम्बन पर ही केन्द्रित रहता है। "इसी आलम्बन की स्थिरता के आधार पर भारतीय साहित्यिकों ने 'भाव' की अविचलता या स्थायित्व को खड़ा किया है। आलम्बन ही वह कील है जिससे प्रधान भाव हटने नहीं पाता" यह उनकी साधिकार घोषणा है।[३] स्थायीभाव की यह पहचान उनके स्वतन्त्र चिन्तन का प्रतिफलन है जिसकी ओर प्राचीन आचार्यों ने मौखर्येण ध्यान नहीं दिया है। यह शुक्लजी की नवीन दृष्टि है। स्थायी तथा संचारियों में राजा-सेवक या गुरु-शिष्य सम्बन्ध का भरत द्वारा जो उपमान उद्धृत किया गया है,[४] अथवा विश्वनाथ द्वारा संचारियों के स्थायी में उन्मग्न या निमग्न होने का जो कथन किया गया है,[५] उसमें आलम्बन के स्थैर्य

२. रस-मीमांसा, पृ० १९९।
३. वही, पृ० १९९।
४. नाट्यशास्त्र, ७/८।
५. साहित्य-दर्पण ३-१४०।

की परोक्ष व्यंजना निहित है। किन्तु यतः आचार्यों का मूल प्रतिपाद्य स्थायी भावों की रसीकरण योग्यता पर बलाघात करना रहा है, अतः आलम्बन की स्थिरता का बिन्दु उनकी विचारणा में प्रत्यक्षत्वेन प्रवेश नहीं कर सका। शुक्ल जी ने नये सिरे से नवीन दृष्टि से विचार किया है और यह उनके 'आचार्यत्व' का द्योतन करता है।

संचारियों का चतुर्धा विभाजन—आ० शुक्ल ने विरोध अविरोध के विचार से संचारियों के चार भेद किये हैं—सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन। गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, भेद, चपलता आदि सुखात्मक और लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, चिन्ता आदि दुःखात्मक बताये गये हैं।

यह निर्धारण सामान्यतः स्वीकार्य है। किन्तु 'लज्जा' को दुःखात्मक बताना, अर्थात् यह बताना कि लज्जा प्रत्येक अवस्था में क्लेशकर होती है, तर्क-प्रतिष्ठित नहीं है। जिसकी हमने बुराई की है, उसके सामने आने से जो लज्जा उत्पन्न होगी, वह अवश्य दुःखात्मक होगी। लेकिन प्रिय के साक्षात्कार से तरुणी में आविर्भूत लज्जा निश्चिततया सुखात्मक होगी। 'शून्य वासगृहं विलोक्य' वाले पद्य में नवबाला का, उसके चुम्बन के फलस्वरूप प्रिय की गंड-स्थली में उत्पन्न पुलक या रोमांच देखकर, लज्जा का अनुभव कथमपि दुःखात्मक नहीं कहा जायेगा —

> 'लज्जा-नम्रमुखी प्रियेण
> हसता बाला चिरं चुम्बिता।'

आवेग, स्मृति, दैन्य, जड़ता आदि को 'उभयात्मक' और मति, वितर्क, श्रम, निद्रा तथा विबोध को शुक्लजी ने 'उदासीन' बताया है। सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी और दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी परस्पर अविरुद्ध होंगे। इसी प्रकार सुखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक संचारी और दुःखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होंगे। उभयात्मक संचारी, स्पष्ट है, दोनों प्रकार के हो सकते हैं। विरोध-अविरोध सम्बन्ध का यह निरूपण प्रत्यक्ष ही सजातीय-विजातीय आधार पर किया गया है और इसे प्राचीन आचार्यों का भी परोक्ष समर्थन प्राप्त है। 'इसके अतिरिक्त, अपश्रय-गत और विषय-गत विरोध जिस भाव या वेग से होगा, वह संचारी हो ही नहीं सकता' आ० शुक्ल का विश्वस्त कथन है।[६]

लेकिन शुक्लजी की प्रस्तुत टिप्पणी तनिक उलझन उत्पन्न करती है। क्रोध के बीच में शंका आदि के आ जाने और युद्धोत्साह के बीच में त्रास आदि के आ जाने से मूल भाव के उपहत होने का दृष्टान्त उनके द्वारा यहाँ प्रस्तुत किया

६. रस-मीमांसा, पृ० २००।

गया है। हमने इसी प्रकरण में आगे, इस कथन की अ-यौक्तिकता का प्रदर्शन किया है। 'सारांश' रूप में किया गया उनका कथन सर्वथा माननीय है कि "किसी भाव को पुष्ट करने वाला मनोविकार ही संचारी हो सकता है और पुष्ट करने वाला मनोविकार वही होगा जो भाव के लक्ष्य और प्रवृत्ति से हटाने वाला न होगा।"[७]

यहाँ यद्यपि आ० शुक्ल ने मूल भाव के 'लक्ष्य और प्रवृत्ति' से नहीं 'हटाने वाला' का कथन कर, सजातीय-विजातीय विरोध के आधार को परोक्षतया दुहराया है, तथापि विवक्षित भाव की पुष्टि के उल्लेख में, अनजाने जातीय विरोध का बिन्दु उपहृत हो गया है। वस्तुतः प्रधान भाव का परिपोष-ही साहित्य में मौलिक महत्व का आस्पद बनता है और यदि उस परिपोष में आपाततः विरोधी संचारी भी आ जाते हैं, तो कोई आपत्ति नहीं खड़ी की जानी चाहिए। यह भी नहीं कहा जा सकता कि विरुद्ध समझे जाने वाले संचारी 'सर्वदा' प्रधान भाव के उपलालन में बाधक सिद्ध होंगे।

राग और रति—आ० शुक्ल पहले कह चुके हैं कि कभी-कभी मूल भाव स्थायी-दशा को प्राप्त हो जाया करता है और उस स्थायी दशा के बीच में भाव का मूल स्वरूप भी अवसर या उत्तेजन पाकर उदित हुआ करता है। उन्होंने वर्तमान प्रसंग में इस पूर्व कथन को दुहराया है और यह टिप्पणी की है कि भाव के मूल स्वरूप के उदय-काल में 'केवल अविरुद्ध संचारी ही प्रकट हो सकते हैं।' अतः वे आगे कहते हैं—'जहाँ विरुद्ध संचारी हों, वहाँ चट, बिना किसी सोच-विचार के, स्थायी दशा समझ लेनी चाहिए।'[८] (स्मरणीय है कि शुक्ल जी की यह 'स्थायी दशा' भारतीय आचार्यों के 'स्थायीभाव' से भिन्न हैं, इसी कारण, उन्होंने पिछली कोटि के 'स्थायीभाव' को 'प्रधान भाव' कहना अधिक पसन्द किया है।) अपनी मान्यता को उदाहृत करते हुए, वे कहते हैं कि नायक के प्रति 'राग' (मूलभाव) जब स्थायी दशा प्राप्त कर 'रति' बन जाता है, तब उस 'रति' दशा में हर्ष, अमर्ष आदि अविरुद्ध-विरुद्ध सभी प्रकार के संचारी आ सकते हैं। आचार्य-वर का आत्म-विश्वास तो अडिग तथा श्लाघनीय है। लेकिन, प्रश्न उत्पन्न होता ही है—'रति' की तथोक्त मूल भाव-दशा 'राग' में क्या विरुद्ध संचारी सचमुच उदित नहीं होंगे? हमारा काव्यानुभव इस स्थापना के प्रतिकूल पड़ता है। सबसे पहली बात तो यहाँ यही प्रसक्त होती है कि 'राग' तथा 'रति' का भेदीकरण कितना तात्विक अथवा यथार्थ है? कोषकार ने 'राग' तथा 'रति' के अर्थों में भेद नहीं किया है। यद्यपि दोनों की व्युत्पत्ति में भिन्नता है। दोनों ही पदों के अर्थ अनुराग, प्रीति,

७. रस-मीमांसा, पृ० २०१।
८. वही, पृ० २०१।

हर्ष, आनन्द, मैथुन इत्यादि बताये गये हैं—यद्यपि 'रति' का एक विशिष्ट अर्थ 'काम क्रीड़ा' या 'सम्भोग' कहा गया है जिस अर्थ में वह 'रत' का पर्याय है।[९] इस प्रकार साहित्य में 'राग' और 'रति' एक ही माने गये हैं। इसका अनुमोदन इस तथ्य से भी प्राप्त होता है कि 'दाम्पत्य-रति' के साथ 'अपत्य-रति' और 'दैव-रति' का भी विधान स्वीकृत हुआ है। शृङ्गार में दर्शनादि से 'पूर्वराग' का आविर्भाव बताया गया है और उसकी 'नीली राग' इत्यादि एकाधिक अवस्थाएँ निर्दिष्ट की गयी है।[९-क] जो प्रारम्भिक रति-भाव की विकसित दशाएँ हैं। इस दृष्टि से तो आ० शुक्ल के 'राग' (मूलभाव) का आपातिक अनुमोदन किया जा सकता है। किन्तु यह कथन कि मूल भाव-दशा में विरुद्ध संचारी नहीं आते, कथमपि अनुमोदनीय नहीं है। नीचे 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' से एक श्लोक उद्धृत किया जा रहा है जो वर्तमान मान्यता का प्रत्याख्यान करता है—

> "चलापाङ्गां दृष्टिः स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
> रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
> करौ व्याधुन्वत्याः पिबासि रतिसर्वस्वमधरं
> वयं तत्त्वान्वेषात् मधुकर हताः त्वं खलु कृती ॥" (१/२२)

—'हे भ्रमर ! तुम सचमुच परम भाग्यशाली हो। हम तो तत्त्व अर्थात् सच्चाई की खोज में मारे गये और तुम उसकी चंचल चितवन से देखे जाते हुए, इस काँपती हुई बाला को बार-बार छूते जा रहे हो। उसके कानों के पास जा कर तुम धीरे-धीरे ऐसे गुनगुना रहे हो जैसे कोई रहस्य की बात उसे सुनाना चाहते हो। इसी कारण, बार-बार उसके हाथों से झटके जाने पर भी, तुम उसके रसीले अधरों को पीते जा रहे हो।'

दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रथम दर्शन पर प्रस्तुत उद्गार विचारणीय है। आ० शुक्ल के शब्दों में, यह 'राग' की मूल भाव-दशा है जो 'रति' को स्थायित्व नहीं प्राप्त कर सकी है। तथापि इस मूल दशा में भी विरुद्ध (विजातीय) संचारी सन्निविष्ट हो गये हैं। हर्ष, औत्सुक्य आदि सुखात्मक भावों के तथा मति, वितर्क जैसे 'उदासीन' भावों के अतिरिक्त, भ्रमर के प्रति 'असूया' का भाव प्रत्यक्ष है जो दुःखात्मक मनोविकार है। दैन्य (नैराश्य), चिन्ता एवं अलसता के विरोधी संचारी भी ध्वनित हैं। 'पूर्वराग' की ही अवस्था को चित्रित करने वाले सूर के पचासों पदों में अनेक विरुद्ध व्यभिचारियों का

---

९. 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ', चतुर्थ संस्करण

९-क. 'पूर्वराग' की तीन कोटियाँ हैं—नीलीराग, कुसुंभराग और मञ्जिष्ठाराग। देखिए, साहित्यदर्पण, ३/१९५-९७।

गुम्फन उपलब्ध है। अतः आ० शुक्ल की प्रस्तुत मान्यता धराशायी हो जाती है।

एक अन्य तथ्य भी लक्षणीय है। प्रेम-काव्यों में तथोक्त 'राग' के 'रति' में परिणत होने के लिए, किसी विशेष समयान्तराल की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार, स्थिरता-जन्य 'स्थायी-दशा' अर्थहीन बन जाती है। दुष्यन्त की मनोवृत्तियाँ पहले अंक में क्रमशः बदलती गयी हैं और शकुन्तला-विषयिणी उसकी प्राथमिक अनुरक्ति गाढ़तर होती गयी है।[१०] कब, कहाँ, यह अनुराग शुक्लजी की 'रति' स्थायी-दशा में परिणत हो गया—यह बताना कठिन है।

इस प्रसंग में शकुन्तला का पक्ष भी विचारणीय है। दुष्यन्त को देखते ही, वह कह उठती है—'किं न खलु इमं जनं प्रेक्ष्य तपोवन-विरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता।'

यह प्रथम मनोविकार है। अनसूया के दुष्यन्त से तपोवन-आगमन का कारण पूछने पर, शकुन्तला कहती है—"हृदय, मा उत्ताम्य। एषा त्वया चिन्तितानि अनसूया मन्त्रयते।"[११]

ये कथन शुक्लजी के अनुसार, अवश्य ही 'राग' के द्योतक हैं, 'रति' के नहीं। लेकिन फिर भी इनमें हर्ष, औत्सुक्य आदि सुखात्मक भावों के अतिरिक्त चिन्ता, अवहित्था, शंका आदि दुःखात्मक संचारी भाव भी साफ झलक रहे हैं।

अतः उपर्युक्त उदाहरणों से प्रत्यक्ष है कि शुक्लजी की 'राग' वाली भाव-दशा में भी विरोधी व्यभिचारी आते हैं। सबसे बड़ी असंगति यह हुई है कि उन्होंने 'राग' की 'रति' स्थायी दशा में हर्ष, अमर्ष आदि विरुद्ध-अविरुद्ध संचारियों के आने का कथन कर, यह कहा है कि 'राग' की मूल 'भाव-दशा' में उसकी 'अपनी निज की प्रवृत्ति' के अनुरूप 'आलिंगन चुम्बन' इत्यादि व्यापार घटित होते हैं। तो क्या इससे यह अभिप्राय ग्रहण किया जाय कि 'राग' की 'रति' दशा में ये अनुभाव बहिष्कृत हो जायेंगे ?

उन्होंने स्वयमेव 'शून्यं वास-गृहं विलोक्य' वाला अमरुक का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत कर,[१२] यह बताया है कि "स्पर्श, चुम्बन, आलिंगन इत्यादि व्यक्तिगत

---

१०. अभिज्ञान-शाकुन्तल, १/२४, १/२६, १/२८ इत्यादि।

११. "हे हृदय ! उतावले मत बनो। अनसूया तुम्हारी-ही मन-चाही बात पूछ रही है।"

१२. "शून्यं वास-गृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
निद्रा-व्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विस्तब्धं परिचुम्ब्य जात पुलकाम् आलोक्य गंडस्थलीं,
लज्जा-नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता॥"

रति-भाव की बँधी हुई प्रवृत्तियाँ हैं।"[१३] तब 'राग' और 'रति' में तात्त्विक विभाजक रेखा कैसे, कहाँ खींची जा सकती है ?

असलियत यह है कि शैण्ड से अनुप्राणित होकर, आ० शुक्ल ने जो यह भेदीकरण किया है, वह साहित्य-चिन्तन में व्यर्थ की गड़बड़ उत्पन्न करता है।

रसावस्था – आ० शुक्ल ने बार-बार यह दुहराया है कि साहित्य के आचार्यों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से—अर्थात् किसी भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक के हृदय में भी 'उसी भाव की-सी प्रतीति' के विचार से किया गया है। अतएव उनका यह कथन सर्वथा संगत तथा युक्ति-पूर्ण है कि "जो भाव ऐसे हैं जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का-सा अनुभव कर सकते हैं, वे तो प्रधान भावों में रखे गए हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गए हैं।"[१४] यहाँ उन्होंने विश्वनाथ के स्थायी के निर्वचन को सानुमोदन उद्धृत किया है–"रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते।"[१५]

'रसावस्था' का उन्होंने वही अर्थग्रहण करने की सिफारिश की है जो ऊपर कथित है–अर्थात् श्रोता या दर्शक के हृदय में भी आश्रय-गत भाव का-सा भाव आविर्भूत हो जाय। इस प्रसंग में हमने एक बात यह लक्षित की है कि शुक्लजी सर्वदा 'की-सी', 'का-सा' जैसे पदों का प्रयोग करते हैं। अर्थात्, वे कहीं-न-कहीं इस प्रतीति से अनुप्राणित हैं कि काव्यार्पित भावों का यथावत् सटीक उदय अपनी पूर्णता एवं अनाविल में सामाजिक के हृदय में नहीं हो सकता। यह बात उन्हें प्राक्तन आचार्यों से पृथक् कर देती है—जैसे अन्यान्य प्रसंगों में भी वे अपने पूर्ववर्तियों से पृथक् पड़ जाते हैं।

संचारियों के भीतर संचारी—आ० शुक्ल ने वर्तमान संदर्भ में यह प्रतिपादित किया है कि जो संचारी प्रधान या स्वतंत्र रूप से आ सकते हैं, उनके अंतर्गत भी संचारी आयेंगे। उदाहरणतः, लज्जा के अंतर्गत 'अवहित्था' 'असूया' के अंतर्गत 'अमर्ष' संचारी आ सकते हैं। प्रसाद ने 'कामायनी' में लज्जा का जो स्वरूप चित्रित किया है, उसमें अवहित्था के साथ कुतूहल, हर्ष, औत्सुक्य आदि का कथन यथार्थ ठहरता है। उनका यह कथन भी युक्ति-संगत है कि ऐसे चित्रणों में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग के बावजूद विवक्षित संचारी की भावानुभूति सहृदय के हृदय में नहीं होगी, केवल उसका 'पूर्ण स्वरूप-भर' खड़ा हो सकेगा।[१६] यहाँ शुक्लजी पुराने आचार्यों के साथ हैं।

---

१३. रस-मीमांसा, पृ० १७४।
१४. वही, पृ० २०२–२०३।
१५. साहित्य दर्पण (मोतीलाल), पृ० १०४।
१६. रस-मीमांसा, पृ० २०४।

स्थायी-संचारी विभाजन का आधार—आ० शुक्ल के मतानुसार, स्थायी-संचारी विभाजन का आधार 'भावों के स्वरूप के भीतर ही' सन्निहित है। उनका यह कथन सर्वथा युक्तिपूर्ण है। लेकिन जब वे उस 'स्वरूप के भीतर की वस्तु' को आलंबन बताते हैं तब उनका समर्थन कठिन बन जाता है। यहाँ उन्होंने 'सामान्य' तथा 'विशेष' दो प्रकार के आलंबन बता कर स्थिति पुनः उलझा दी है।[१७] काव्य में आलंबन की ऐसी पहचान अ-युक्त है। आलंबन पर रह-रह कर, प्रायः प्रत्येक रसविषयक प्रसंग में उन्होंने जो बलाघात किया है, उसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि कभी-कभी उनका वास्तविक विवक्षार्थ समीक्षकों की दृष्टि से ओझल हो जाता है। उदाहरणतः, साधारणीकरण के विवेचन में आलंबन अथवा 'आलंबनत्व-धर्म' का उनका कथन विद्वानों में उनकी सही स्थिति के संबंध में भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर गया है। वास्तव में भावों के स्वरूप के भीतरवाली वस्तु आलंबन नहीं, प्रत्युत् उस भाव की 'रसीकरणयोग्यता' है जिसे-ही लक्ष्य कर पुराने साहित्य-शास्त्रियों ने स्थायी-संचारी का वर्गीकरण निरूपित किया है। लज्जा, असूया इत्यादि जैसे भाव, पूर्ण स्वरूपण के बावजूद, रस-कोटि तक नहीं पहुँचाये जा सकते, जब तक कि सहृदयों की सामान्य बिरादरी किसी अभिनव जाति के काव्यानुरागियों से प्रतिस्थापित न हो जाय। सुतराम्, स्थायी-संचारी विभाजन का आधार संबद्ध भावों की रसीकरण-योग्यता है जिसे विश्वनाथ ने निर्दिष्ट किया है और जिसे स्वयमेव शुक्लजी पहले उद्धृत भी कर चुके हैं।

संचारियों के पाँच वर्ग—पूर्वोक्त चतुर्विध विभाजन के अतिरिक्त आ० शुक्ल ने संचारियों का पञ्चधा विभाजन भी किया है—(१) स्वतंत्र-विषय-युक्त भाव—जैसे गर्व, लज्जा तथा असूया; (२) मन के वेग, जैसे अमर्ष, आवेग, अवहित्था, औत्सुक्य आदि; (३) अन्य अन्तःकरण-प्रवृत्तियाँ—जैसे शंका, स्मृति, चिन्ता इत्यादि; (४) मानसिक अवस्थाएँ—जैसे दैन्य, मद, जड़ता, उन्माद इत्यादि और (५) शारीरिक अवस्थाएँ—जैसे श्रम, निद्रा, विबोध इत्यादि। इन संचारियों के जो लक्षण बताये गये हैं, वे प्रायः सभी 'साहित्य-दर्पण' से लिये गये हैं—यद्यपि उनके निरूपण में स्वतंत्र चिन्तन तथा स्वतंत्र अभिव्यक्ति अपनायी गयी है। यह उनकी रस-मर्मज्ञता का प्रतीक है कि उन्होंने शंका, मति, वितर्क आदि बुद्धि-संलग्न आन्तरिक वृत्तियों का ग्रहण वहीं तक स्वीकार्य बताया है जहाँ तक वे प्रत्यक्षतः भावों के द्वारा प्रेरित प्रतीत हों।

---

१७. रस-मीमांसा, पृ० २०५।

दैन्य, मद, जड़ता, चपलता, प्रभृति मानसिक अवस्थाओं के विषय में शुक्लजी ने 'प्रकृति-गत' तथा 'आगन्तुक' दो प्रकार का विभाजन किया है। आगन्तुक-रूप वाले संचारी वे हैं जो किसी प्रधान (स्थायी) भाव के कारण उत्पन्न हों। प्रकृतिगत संचारी वे हैं जिनकी 'एक स्थिर प्रणाली' मन में बन जाती है। उसके मूल में कोई एक भाव कारण-रूप में हो सकता है, किन्तु 'अभिव्यक्ति-काल' में वह प्राय: स्वतंत्र-सी दिखायी देती है। इन स्थिर प्रणालियों का रस-व्यंजना में कोई महत्त्व आपातत: नहीं लक्षित होता, किन्तु शुक्लजी के मतानुसार चरित्र-चित्रण में वे 'बड़े मतलब की' सिद्ध होती हैं। वस्तुत: वे 'शीलदशाएँ, हैं जिनसे 'प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को उत्तेजना मिलती है।[१८] स्मरणीय है कि प्रथम अनुच्छेद में ही शुक्लजी ने शैण्ड के अनुसार इन 'शीलदशाओं' की पहचान की है।

मानसिक दशाओं में, उन्होंने 'उग्रता' के समान 'मृदुलता' अथवा 'कोमलता' को भी संचारी माना है जो शृङ्गार तथा करुण रसों में प्रायेण चित्रित उपलब्ध हो सकती है। 'अलसता' को वे संचारी-कोटि में गृहीत नहीं करते। इसका कारण उनकी विशिष्ट सुरुचि-सम्पन्नता है, अन्यथा सामान्य रसिकों के लिए शृङ्गार-संदर्भ में 'आलस्य' का अपना आकर्षण है। 'धृति' को वे 'धैर्य' कहना पसन्द करते हैं और उसके समान 'अधैर्य' को भी संचारी मानते हैं। 'संतोष' के समान 'असंतोष' भी उनकी सम्मति में 'संचारी माना जा सकता है।[१९] वस्तुत: व्यभिचारी अनेक हो सकते हैं और आचार्यों के तैंतीस संचारी उपलक्षण-मात्र समझे जाने चाहिए। शुक्लजी ने सूर के वात्सल्य-वर्णन में 'चकपकाहट' नामक संचारी भी माना है।

संचारियों की प्रधानता—आ० शुक्ल का यह कथन सही है कि नियत संचारी कभी-कभी 'प्रधान' होकर भी आते हैं। यह प्रधानता दो प्रकार की हो सकती है—(१) वह जो प्रधान (स्थायी) भाव के स्फुट न होने पर प्रतीत हो और (२) वह जो प्रधान भाव के परिस्फुट होने पर भी उसके ऊपर लक्षित हो। इस पिछली दशा में प्रधान भाव ही संचारी बन जायेगा।

शुक्ल जी कहते हैं कि संचारी की पहले प्रकार की प्रधानता ही प्राय: साहित्य ग्रन्थों में चित्रित हुई है। उदाहरण रूप में उन्होंने 'कुमारसंभव' के छठें सर्ग से वह श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सप्तर्षियों द्वारा शिव के साथ विवाह-वार्ता चलाये जाने पर, पार्वती हाथ में लिये लीला-कमल के पत्रों को

---

१८. रस-मीमांसा, पृ० २१६।
१९. वही, पृ० २२६, २२७, २२८।

गिनने लगी थीं।[२०] यहाँ पार्वती का रति-भाव प्रस्फुट नहीं है, प्रत्युत् बाह्य चिह्नों (अनुभाव) द्वारा उनकी 'अवहित्था' (मन के भाव को छिपाना) प्रकट हुई है। प्रेम-काव्यों में सचमुच ऐसे चित्र प्राचुर्येण उपलब्ध होते हैं।

आ० शुक्ल ने दूसरे प्रकार की प्रधानता भी निर्दिष्ट की है। उन्होंने वाल्मीकीय रामायण से निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

> "धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रम् अमर्षिता।
> कैलास-शिखराकारात् प्रासादात् अवारोधत ।।
> सा दह्यमाना क्रोधेन मंथरा पापदर्शिनी।
> शयानामेव कैकेयीम् इदं वचनम् अब्रवीत् ।।'
>
> (अयो० कांड, ७।१२-१३)

(राम की) धात्री से उनके यौवराज्य का संवाद सुनकर, पापिनी कुबड़ी मंथरा ईर्ष्या (अमर्ष) से अभिभूत होकर, कैलास के शिखराकार वाले प्रासाद से नीचे उतरी और क्रोध से जलती हुई, सोती हुई कैकेयी के पास जाकर यह वचन बोली।'

यहाँ मंथरा का क्रोध प्रधान भाव नहीं है, अपितु प्रधानता मिली है उसकी 'असूया' को, और क्रोध उस 'संचारी' का 'संचारी' बन गया है यहाँ आ० शुक्ल की टिप्पणी उद्धरणीय है—

'मन्थरा की यह ईर्ष्या विलक्षण है। इसका उद्घाटन आदिकवि की ही प्रतिभा का काम था। ईर्ष्या समकक्ष के प्रति होती है जिसकी बराबरी करना चाहते हैं, पर कर नहीं पाते। राजा से दरिद्रा दासी की क्या ईर्ष्या? इस ईर्ष्या का प्रवर्तक कैकेयी के प्रति मन्थरा का अनन्य रति-भाव है।" [२१]

आ० शुक्ल की यह पहचान स्वयं विलक्षण तथा श्लाघनीय है। उनकी रसज्ञता एवम् सूक्ष्म-दर्शिनी भावक-प्रतिभा पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगाया जा सकता।

काव्य-विशेष का 'स्थायी-भाव'—वर्तमान अनुच्छेद के अन्तिम भाग में, आ० शुक्ल ने प्रधान भावों में से कुछ के अन्य के संचारी-रूप में आने का उल्लेख किया है। वे बताते हैं कि किसी नाटक या काव्य विशेष में 'आदि से अन्त तक' किसी भाव की स्थिति बनी रहती है और बीच-बीच में अन्यान्य भावों के थोड़ी देर के लिए आ जाने से भी, वह स्थिति उच्छिन्न नहीं होती।

---

२०. 'एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीला-कमल-पत्राणि गणयामास पार्वती ।।' ('कुमारसंभव', ६।८४)

२१. रस-मीमांसा पृ० २३५।

वह भाव उस रचना का 'स्थायी भाव' होता है और बीच-बीच में आनेवाले भाव उसके संचारी होते हैं। उदाहरणतः, 'महाभारत' में 'राम' 'मालती-माधव' में 'रति', 'अंधेर नगरी' में 'हास', 'रामायण' में 'शोक', 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में 'शोक'— ये भाव तत्तत् रचनाओं के 'स्थायी भाव' कहे जा सकते हैं। यहाँ आ० शुक्ल प्रत्यक्षतः विश्वनाथ का अनुगमन कर रहे हैं।[२२]

तथापि शुक्ल जी इस प्रकार के स्थायी-संचारी के ग्रहण को अत्यन्त 'स्थूल' मानते हैं— क्योंकि 'इसमें इस बात का विचार नहीं हो सकता कि कौन-कौन भाव या वेग किन-किन प्रधान भावों के संचारी हो सकते हैं।'[२३] इस प्रसंग में शुक्ल जी ने पुनः अपने स्वभाव के अनुकूल एक ऐसी अनर्गल टिप्पणी की है जो हलवे में कंकड़ी जैसी खटकती है। 'चाहे जो भाव ग्रंथ में आदि से अन्त तक पाया जाय, उसे स्थायी और चाहे जो भाव या वेग बीच-बीच में आए हों, उन्हें संचारी हम आँख मूंदकर कह सकते हैं—किसी प्रकार के विवेक की आवश्यकता नहीं। स्थायी-संचारी का यह अत्यन्त स्थूल रूप से ग्रहण है।'[२४]

'स्थूल ग्रहण' की बात थोड़ी देर के लिए मान भी लें, तो भी यह सांकेतिक व्यंजना कि आचार्यों ने इस व्यवस्था में 'विवेक' से काम नहीं लिया है, कथमपि स्वीकार्य नहीं होगी। अन्य आचार्यों की बात तो जाने दें; स्वयं विश्वनाथ ने, जिनका आधार शुक्ल जी ने बहुशः ग्रहण किया है, ऐसे 'स्थायी' का निर्भ्रान्त निरूपण किया है। कौन-कौन स्थायी किस-किस रस में संचारी होते हैं, इसका स्पष्ट विधान उन्होंने दिया है। शृङ्गार और वीर में हास, वीररस में क्रोध और शान्त में जुगुप्सा संचारी भाव होते हैं।[२५] 'मालती-माधव' में रति की, 'लटकमेलक' में हास की, 'रामायण' में शोक की और 'महाभारत' में शम की प्रधानता का निर्देश विश्वनाथ ने किया है। वे स्पष्ट कहते हैं कि इन ग्रन्थों में ये भाव अपने बीच में आये हुए अन्य विरुद्ध तथा अविरुद्ध भावों से उच्छिन्न नहीं होते, अपितु परिपुष्ट होते हैं— यह तथ्य सहृदय जनों के अनुभव से सिद्ध है—'एते हि एतेषु अन्तरा उत्पद्यमानैः तैः तैः विरुद्धैः अविरुद्धैश्च भावैः अनुच्छिन्नः प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभव-सिद्धाः।'[२६]

---

२२. साहित्य-दर्पण (मोती लाल), पृ० १०५।

२३. रस-मीमांसा, पृ० २३८।

२४. वही, पृ० २३८।

२५. साहित्य-दर्पण, ३/१७२-७३।

२६. वही, (मोतीलाल), पृ० १०५।

प्राचीन आचार्यों ने सहृदयों के 'अनुभव' पर बराबर बल दिया है। टीकाकार का कथन है कि 'महाभारत' में यद्यपि रति, हास, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि बहुधा वर्णित हैं, तथापि प्रधानभूत 'शम' भाव अपने क्रोध, रति आदि जैसे विरुद्ध भावों से और जुगुप्सा, भय, विस्मय आदि जैसे अविरुद्ध भावों से विच्छिन्न नहीं होने पाता। ये सब (संवादी-विसंवादी) भाव बीच-बीच में आते हैं और थोड़ी देर तक अपना चमक दिखा कर चलते बनते हैं। अतएव वे संचारी हैं और आद्यंत विद्यमान 'शम' स्थायी है।[२७]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि आदि से अन्त तक वर्तमान भाव को 'स्थायी' मानने में 'विवेक' का परित्याग नहीं, प्रत्युत सहृदयों के अनुभव का प्रामाण्य रहा है। विरोधी-अविरोधी भावों की पहचान की गयी है। किन्तु अंतिम विश्लेषण में, यह तथ्य उभार कर सामने लाया गया है कि यदि रचनाकार समर्थ है तथा अपने केन्द्रीय वक्तव्य की अमिट छाप सहृदयों के मानस पर छोड़ने का अभिलाषी है, तो वह नाना प्रकार के भावों के अन्तर्निवेश के बावजूद, रचना में विवक्षित भाव का निबंधन ऐसे कौशल से करेगा कि अविरुद्ध-विरुद्ध भाव उसे अन्ततोगत्वा तिरोहित नहीं कर सकें। विश्वनाथ ने स्पष्टतः कहा ही है कि—'अविरुद्धा-विरुद्धा वा यं तिरोधातुम् अक्षमाः। आस्वादाङ्कुर—कन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥' (३/१७४)

तात्पर्य यह है कि अन्तिम रूप से आस्वाद्यमान भाव ही किसी प्रबंध का स्थायी भाव है। जैसे माला के अनेक दानों में से एक-ही सूत्र अनुगत रहता है, वैसे-ही अन्य भावों में अनुगत होने वाला, किसी से तिरोहित नहीं होने वाला, प्रत्युत् सब से पुष्ट होने वाला भाव-ही स्थायी होता है।[२८]

आचार्यों की उपर्युक्त व्यवस्था में 'अविवेक' का अनुवेध कहाँ है? पुनः यदि किसी रचना में विवक्षित मूल-भाव का सर्वातिशायी परिपोष नहीं हुआ हो, तो उसे आप उसका स्थायी न मानें—इसमें वह व्यवस्था कहाँ बाधक बनती है? प्राचीनों ने यह तो कहा नहीं कि आप 'शास्त्र-स्थिति-सम्पादन' मात्र को देखकर अपने 'विवेक' को गिरवी रख दें।

(७) असंबद्ध भावों का रसवत् ग्रहण

(क) असंबद्ध प्रधान-भाव

भाव-काव्य—प्रस्तुत प्रकरण में आ० शुक्ल ने मुख्यतः भावोदय भाव-शान्ति इत्यादि उपचारतया कथित रस-दशाओं का संक्षिप्त निरूपण किया

---

२७. साहित्य दर्पण, पृ० १०५-०६।

२८. वही, पृ० १०४-५।

है। 'असंबद्ध भावों' से उनका अभिप्राय है ऐसे भाव, स्थायी अथवा संचारी, जो एक-दूसरे से असंबद्ध होकर काव्य में चित्रित होते हैं। किन्तु यह शीर्षक आपाततः भ्रमक बन गया है क्योंकि काव्य-रस के क्षेत्र में ऐसे एकान्ततः स्वतंत्र भावों का ग्रथन अर्थहीन बन जायेगा।

आ० शुक्ल ने संचारी अथवा अनुभाव से रहित होकर 'प्रधान भाव' के आने का उल्लेख किया है और उसके निबंधन में भी रसात्मकता का संचार माना है। यह कथन सर्वथा शास्त्र-सम्मत है। साहित्य-ग्रंथों में ऐसे चित्रणों को 'भाव-प्रधान' कविता कहा गया है। अर्थात् जहाँ रत्यादि भाव उद्‌बुद्ध-मात्र हों और अनुभव-संचारी के अभाव में रस-दशा को उपनीत न हुए हों, वहाँ 'भाव-काव्य' माना जायेगा।[1] शुक्लजी ने इस शास्त्रीय विधान का शब्दतः उल्लेख नहीं किया है।

(ख) असंबद्ध व्यभिचारी

संचारियों को भी 'असंबद्ध' बताना युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि वे जब एकान्ततः 'स्वतंत्र' होकर आयेंगे, तब काव्य-रस के परिप्रेक्ष्य में उनका उपन्यास अर्थहीन बन जायेगा। इसी संदर्भ में शुक्लजी ने भावोदय, भाव-शान्ति प्रभृति रस-दशाओं का प्रतिपादन किया है।

यहाँ विश्वनाथ की व्यवस्था उल्लेखनीय है। उन्होंने वर्तमान प्रसंग में संचारियों के प्रधानतया प्रतीत होने की बात कही है—'सञ्चारिणः प्रधानानि।"[2] यह कथन सर्वथा युक्तिसंगत है और शुक्लजी के अभिधान की भ्रामकता से मुक्त है। विश्वनाथ ने व्यभिचारियों के प्रधानतया प्रतीयमान होकर आस्वाद्य बनने का 'प्रपानकरस' के न्याय से स्पष्टीकरण किया है।[3] अभिप्राय यह है कि कहीं-कहीं संचारी प्रधानता ग्रहण कर, सहृदय के मन में अपनी आस्वाद्यता की छाप छोड़ देते हैं। मम्मट ने इसे ही यह दृष्टान्त देकर व्यंजित किया है कि जैसे विवाहादि अवसरों पर राजा के भृत्यादि प्रधान बन जाते हैं और वह उनके पीछे-पीछे चलता है, वैसे-ही काव्य में कभी-कभी संचारी मुख्य रस में 'अंगित्व' प्राप्त कर लेते हैं।[4] सुतराम्, स्थायी भाव के पूर्ण परिपोष के अभाव में भी, सहृदयों को संचारियों के निबंधन-मात्र से रस का आस्वाद मिलता है।

भावों की तीन अवस्थाएँ—आ० शुक्ल भावों की तीन अवस्थाएँ मानते

---

१. 'साहित्य-दर्पण,' ३/२६०-६१।
२. वही, ३/२६१-६२।
३. वही, ३/२६१-६२।
४. काव्यप्रकाश (हि० सा० सम्मेलन), पृ० ८०।

हैं— उदय, स्थिति और शान्ति । यहाँ उन्होने 'स्थिति' की बात केवल स्थायी तक सीमित रखी है और जिसे आचार्यों ने 'भाव-प्रधान' काव्य कहा है, उसी में उन्होंने परोक्षत: यह स्थिति-दशा स्वीकार की है। इस प्रकार 'भावों की तीन अवस्थाएँ' का उल्लेख कर, उन्होंने पुन: उलझाव उत्पन्न कर दिया है। सुतथ्यता अथवा सटीकता ('प्रीसिशन') से संबंधित यह असव-धानता खटकती है। यह भ्रम पैदा हो सकता है कि वे संचारी की भी 'स्थिति' मानते हैं जबकि संचरणशीलता-ही संचारी का व्यावर्तक गुण है।

भावोदय—यहाँ यह ध्यान में रखना है कि साहित्य-शास्त्रियों ने 'भावो-दय' इत्यादि की व्यवस्था केवल व्यभिचारियों के लिए की है। प्रधानतया प्रतीयमान व्यभिचारी को 'भाव' कहा-ही गया है।[५]

आ० शुक्ल के अनुसार भाव के 'संचार का आरंभ-मात्र' 'भावोदय' कहलाता है। किन्तु, भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' से उन्होंने जो उदाहरण दिया है, उसमें उन्हीं के शब्दों में, 'राग' का उदय चित्रित है। स्मरणीय है कि 'राग' 'रति' का मूल भाव होने पर भी (जैसा वे मानते हैं), संचारी नहीं है। अतएव शास्त्रीय विधान के अनुसार, यह उदाहरण 'भाव' (स्थायी) का माना जायेगा क्योंकि 'रति' यहाँ उद्‌बुद्ध-मात्र है और पूर्ण रस-दशा को प्राप्त नहीं हो सकी है। 'कामिनी के कटु बैन' वाला दूसरा उदाहरण अवश्य 'विषाद' संचारी का है और शास्त्रीय व्यवस्थानुसार उसे 'भावोदय' का दृष्टान्त माना जायेगा।[६]

भाव-शान्ति—'किसी भाव का दूर होना 'भाव-शान्ति' है।' 'दूर होना' पद, सरलतया कथित होने के कारण खटकता है। शुक्लजी ने निम्न उदाहरण दिया है:—

> ''पाँयनि परि, मृदु बचन कहि, पिय कीन्हीं मनुहारि।
> नेकु तिरीछे चितै तब, दीने अँसुवा ढारि॥'

जैसा सम्पादक महोदय ने स्वयं संकेत किया है, प्रस्तुत दोहा 'साहित्य-दर्पण' में उद्धृत पद्य का रूपान्तर है।[७] 'लेकिन शुक्लजी की इससे संलग्न टिप्पणी विश्वनाथ की टिप्पणी से भिन्न पड़ती है। वे यहाँ 'दृष्टि-पात और अश्रु-पात द्वारा मान या क्रोध की शान्ति' बताते हैं जबकि विश्वनाथ ने

---

५. साहित्य-दर्पण, ३/२६०-६१।

६. 'कामिनी के कटु बैन, सुनत पिय पलटि चल्यो जब।
छाँड़ी तीय उसास, नीर नयनन झलक्यो तब॥'
(रस-मीमांसा, पृ० २४१)।

७. रस-मीमांसा, पृ० २४१; सा० द० (मोती०), पृ० १२८

'ईर्ष्या' संचारी के प्रशम की बात कही है—'अत्र बाष्प-मोचनेन ईर्ष्याख्य-संचारी-भावस्य शमः।''[८] विश्वनाथ की प्रस्तुत टिप्पणी अधिक सुविचारित है। नायिका ने 'मान' किया है—यह असंदिग्ध है। किन्तु उस मान में जिस 'क्रोध' का आभास है, वह वस्तुतः 'क्रोध'-भाव नहीं है, अपितु 'ईर्ष्या-भाव' का व्यंजक है जो अश्रुपातादि के फलस्वरूप भंग अथवा शान्त हो गया है। इस प्रकार यहाँ 'ईर्ष्या' संचारी की-ही शान्ति विवक्षित है 'क्रोध' की नहीं। शुक्लजी की इस टिप्पणी का कारण यही है कि उन्होंने स्थायी अथवा प्रधान भाव को भी भावोदय, भाव-शान्ति आदि की परिधि में समाहृत कर लिया है जो शास्त्रानुकूल नहीं है। 'क्रोध' मुख्यतः प्रधान या स्थायी भाव ही है।

भाव-सन्धि और भाव-शबलता—आ० शुक्ल के कथनानुसार, दो 'परस्पर असंबद्ध' भावों का 'साथ' 'भाव-सन्धि' है और दो से अधिक परस्पर असंबद्ध भावों का 'संघात' 'भाव-शबलता' है। उनका कथन है कि ये भाव परस्पर जितने विरुद्ध होंगे, 'उतना-ही चमत्कार' स्फुट होगा।[९] शुक्लजी का प्रस्तुत कथन पूर्णतः शास्त्र-सम्मत तथा समीचीन है। यहाँ उन्होंने उर्वशी के स्वर्ग चले जाने पर पुरूरवा की विक्षिप्तावस्था का उद्‌गार उद्‌धृत किया है जो 'साहित्यदर्पण' में भी गृहति हुआ है। पुरूरवा कहता है—"कहाँ मेरा यह निषिद्ध आचरण (वेश्यानुराग-उर्वशी अप्सरा थी) और कहाँ मेरा निर्मल चन्द्र-वंश ! क्या वह फिर दीख पड़ेगी ? मैंने तो कामादि दोषों के शमनवाले शास्त्रों का अध्ययन किया है। ओः ! क्रोध में भी उसका वह अतिकमनीय मुख ! भला, मेरे इस आचरण पर निष्कल्मष सुधी-जन क्या कहेंगे ? हाय, अब तो वह स्वप्न में भी दुर्लभ बन गयी। हे चित्त ! धैर्य रखो। न जाने, कौन सौभाग्यशाली व्यक्ति उसके अधरामृत का पान करेगा ?"[१०]

जैसा टीकाकार ने बताया है, उक्त कथन के पहले वाक्य में 'वितर्क', दूसरे से 'उत्कण्ठा', तीसरे में 'मति', चौथे में 'स्मृति', पाँचवें में 'शंका', छठें में 'दैन्य', सातवें में धैर्य' और आठवें में 'चिन्ता' संचारी अभिव्यंजित हुए हैं। इस प्रकार अनेक संचारियों के मिश्रण से यहाँ 'भाव-शबलता' उपपन्न है।

यहाँ आ० शुक्ल ने एक महत्व का प्रश्न उठाया है : वे तमाम संचारी 'करुण बिप्रलंभ रति' के संचारी क्यों न माने जाँय ? उनका स्वयं का उत्तर

---

८. साहित्य-दर्पण (मोतीलाल०) पृ० १२८।

९. रस-मीमांसा, पृ० २४३।

१०. साहित्य-दर्पण (मोतीलाल), पृ० १२८। यह पद्य 'विक्रमोर्वशीय' में उपलब्ध नहीं है।

है—'इसलिए कि करुण विप्रलंभ यहाँ शब्द और अनुभाव द्वारा प्रधानता से व्यंजित नहीं है।'[११] शुक्लजी का यह समाधान सर्वथा युक्तिपूर्ण है—यद्यपि 'शब्द' से व्यंजित होने का तात्पर्य समझ में नहीं आता। क्या वे रस को 'स्वशब्दवाच्य' (भी) मानते हैं? शायद स्थिति ऐसी नहीं है।[१२]

इतना तो प्रत्यक्ष ही है कि पुरुरवा का यह उदगार विप्रलंभ-रति से-ही अनुप्रेरित है। किन्तु उपर्युक्त संचारी इतनी प्रधानता से प्रतीयमान हो रहे हैं कि 'चमत्कार' उनके संघात में ही अवतीर्ण हो गया है और आ० मम्मट के शब्दों में स्थायी भाव, विवाहोत्सव के अवसर पर राजा के समान संचारी-रूप भृत्य का अनुगत बन गया है। उल्लेख्य है कि मम्मट ने भी 'भाव-शबलता' का यही उदाहरण दिया है।[१३] आ० शुक्ल एक सही सवाल का सही जवाब देकर, पुनः बाद को, उसी साँस में यह कथन कर बैठते हैं—'सारांश यह कि असंबद्ध रूप में अलग विचार करने से ये सब भाव मिल कर 'भाव-शबलता' के उदाहरण होंगे और आक्षेप द्वारा रति-भाव से संबद्ध मानने से करुण विप्रलंभ के संचारी होंगे।[१४]

असलियत याद रखने की यह है कि रति-भाव की विद्यमानता तो प्रत्यक्ष ही अनुभूयमान है, उसके 'आक्षेप' की अपेक्षा ही नहीं है। मूल बिन्दु यह है कि उक्त चित्रण में संचारी प्रधानतया प्रतीत होने लगे हैं जिससे चमत्कार उनके समुच्चय में उतर आया है और वही चमत्कार रसात्मकता का संचार करता है। सुतराम्, रति के 'आक्षेप' का प्रश्न प्रसक्त ही नहीं होता, और विवेच्य पद्य 'भाव-शबलता' का ही उदाहरण माना जायगा। गड़बड़ी इस कारण हो गयी है कि शुक्लजी ने 'असंबद्ध' अथवा 'स्वतत्र' को 'प्रधान' अर्थात् प्रधानतया प्रतीत होने का पर्याय मान लिया है। संचारी जब 'प्रधान' भी बनेंगे, तब भी वे 'स्वतंत्र' अथवा 'असंबद्ध' नहीं रहेंगे—आचार्यों की यही विवक्षा रही है।

□ □

११. रस मीमांसा, पृ० २४५।

१२. 'केवल वाच्य द्वारा कथन होने से, ये भाव रस-क्षेत्र-से निकाले नहीं जा जा सकते।'—वही, पृ० २४७।

१३. काव्य-प्रकाश (हि० सा० स०), पृ० ८०।

१४. रस-मीमांसा, पृ० २४६।

(इ) रस-निरूपण

८. साधारणीकरण-विमर्श

९. रस-विमर्श

१०. सौन्दर्य-विमर्श

८. साधारणीकरण-विमर्श

(क)

साधारणीकरण का आधार—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का सम्पूर्ण रसचिन्तन शास्त्रानुप्राणित होते हुए भी स्वतंत्र एवम् व्यक्तिगत वैशिष्ट्य से ओत-प्रोत है। 'साधारणीकरण' रसवाद की प्रधान आधार-शिला है और उन्होंने उस पर भी, पिटी-पिटाई लीक से हटकर, नवीन शैली और नवीन भंगिमा में विचार किया है। उनकी पकड़ उनके निजी अनुभव तथा काव्यानुशीलन से प्रतिफलित है, यद्यपि उनका प्रतिपादन तनिक उलझावपूर्ण तथा इसी कारण तनिक भ्रान्ति-जनक बन गया है। कारण यह है कि सुस्थिर भाव से शास्त्रीय निरूपण करना उनका अभीष्ट नहीं रहा, अपितु अपने काव्य-दर्शन के व्याख्यान में, उन्होंने रसविषयक उपपत्तियों का परीक्षण तथा पुनर्निरूपण किया है।

(ख)

साधारणीकरण का आधार—काव्य-चित्रित रुचियों तथा प्रकृतियों की भिन्नता के बावजूद शुक्लजी का कथन है, कुछ ऐसी अन्तर्भूमियाँ भी मिलती हैं जहाँ अभिन्नता के दर्शन होते हैं : 'वे अन्तर्भूमियाँ नर-समष्टि की रागात्मिका प्रकृति के भीतर हैं। लोक-हृदय की यह सामान्य अन्तर्भूमि परख कर हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई है। यह सामान्य अन्तर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है × × × इसका संबंध हृदय के भीतरी मूल देश से है, उसकी सामान्य वासनात्मक सत्ता से है।'[1] शुक्लजी के सम्पूर्ण विवेचन का आधार उनकी यही मान्यता है जिसमें सामान्यतः छिद्रों का अन्वेषण नहीं किया जा सकता।

साधारणीकरण की परिभाषा—साधारणीकरण की परिभाषा वे यों करते हैं—'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १९१।

वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलंबन हो सके, तब तक उसमें रसोद्-बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ 'साधारणीकरण' कहलाता है।'[2]

प्रस्तुत परिभाषा से ये बिन्दु उपपन्न होते हैं-(१) साधारणीकरण आलम्बन का सामान्य रूप में प्रस्तुतीकरण है। (२) साधारणीकरण प्रमाता में समान अथवा सामान्य भाव को जगाने के तथ्य से संलग्न है। अन्य शब्दों में शुक्लजी आलम्बन और भाव दोनों की सामान्यता के परिपोषक हैं।

काव्य का विषय-विशेष—लेकिन वे यह भी मानते हैं कि काव्य का विषय सर्वदा 'विशेष' ही होता है; वह 'व्यक्ति' सामने लाता है, 'जाति' नहीं। कारण कि 'काव्य का काम है कल्पना में बिम्ब (Images) या मूर्त भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (Concept) लाना नहीं। बिम्ब जब होगा, तब 'विशेष' या 'व्यक्ति' का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।'[3]

साधारणीकरण का अभिप्राय—तब प्रश्न उठता है: यह 'विशेष' या व्यक्ति सामान्यीकरण के अनुशासन में क्योंकर आ सकेगा? इस संभावित आपत्ति का समाधान वे यों प्रस्तुत करते हैं—'साधारणीकरण का अभिप्राय यह है—कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलंबन होती है, वैसे-ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन हो जाती है।'[4] इस कथन को समझाते हुए वे कहते हैं—'इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलंबनत्व-धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष-ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है। तात्पर्य यह है कि आलंबन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलंबन हो जाता है।'[5]

प्रस्तुत स्पष्टीकरण से यह ज्ञात होता है कि 'आलंबनत्व-धर्म' का साधारणीकरण कथित करने के मूल में उनकी विवक्षा यह है कि सामान्य-हृदय सामाजिकों के मन में उस आलंबन के साक्षात्कार के समान भाव का उदय होता है जो आलंबन में वर्णित धर्मों व गुणों की सामान्यता की प्रसूति है। इस दृष्टि से आलंबन भी सामान्य ढंग का होता है, उसमें प्रतिष्ठित धर्म भी

---

२. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८३।

३. वही, पृ० १८४।

४. वही, पृ० १८४-८५।

५. वही, पृ० १८५।

सामान्य ढंग के होते हैं; और उनसे उत्पन्न होने वाला भाव भी सामान्य ढंग का होता है। यह सभी शुक्लजी की प्रिय 'लोक-सामान्य भाव-भूमि' के अनुकूल पड़ता है।

किन्तु आचार्य शुक्ल इस विषय में सावधान हैं कि आलंबन की सामान्यता का यह अर्थ न ग्रहण किया जाय कि वे काव्य-चित्रित 'व्यक्ति-आलंबन को उसकी 'विशेषता' अथवा 'व्यक्तिता' से वंचित करना चाहते हैं। व्यक्ति तो वहीं रहेगा, केवल उसके सामान्य-धर्मों के कारण उससे उत्पन्न होनेवाला भाव समान या सामान्य ढंग का रहेगा। उनकी आलंबन की सामान्यता अथवा साधारणीकरण इस तथ्य में सन्निविष्ट है कि उसके धर्मों वा गुणों का समान प्रभाव सामान्य सहृदयों पर पड़ता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि आलंबन शकुन्तलादि भी व्यक्तिरूप में साधारणीकृत होकर, अपनी, 'व्यक्तिता' का उत्सर्ग कर देती हैं। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिये वे कहते हैं—'मेरे विचार में साधारणीकरण 'प्रभाव' का होता है, 'सत्ता' या 'व्यक्ति' का नहीं।'[६] 'प्रभाव का यह साधारणीकरण अन्ततोगत्वा उद्बोध्य 'भाव' का ही साधारणीकरण है।

उनकी स्थिर मान्यता है कि काव्य का विषय 'विशेष' या व्यक्ति ही होता है, किन्तु उससे उत्पन्न प्रभाव समान होता है। इसे उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित करते हुए शुक्लजी कहते हैं—'मतलब यह कि भावना व्यक्ति-विशेष की-ही रहती है; उसमें प्रतिष्ठा सामान्य स्वरूप की, ऐसे स्वरूप की जो सबके भावों को जगा सके, कर दी जाती है।'[७] अतः वे सिद्धान्तित करते हैं 'अतः सिद्धान्त यह निकला कि साधारणीकरण स्वरूप का ही होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं।'[८] उपरिगत उद्धरणों की परीक्षा से यह स्थिति निष्पन्न होती है। आलंबन का साधारणीकरण = आलंबनत्व-धर्म का साधारणीकरण = स्वरूप का साधारणीकरण = प्रभाव का साधारणीकरण = भाव का साधारणीकरण।

इस प्रकार प्रत्यक्ष है कि शुक्लजी विश्वनाथ आदि आचार्यों की स्थिति से, जो विभावादि का साधारणीकरण मानते हैं, चलकर अन्ततः केवल 'भाव' के साधारणीकरण को ही चरम महत्व प्रदान करते हैं। तो भी यह अवधेय है कि 'साधारणीकरण' की परिभाषा में भी जैसा आरम्भ में ही कहा है, वे भाव के साधारणीकरण को संकलित कर चुके हैं। प्राक्तन आचार्यों ने सपाट ढंग से यह प्रतिपादित किया था कि काव्यार्पित आश्रय, आलंबनादि से सम्पूर्ण वस्तु का साधारणीकरण सम्पादित होता है। आ० शुक्ल ने अपने व्यक्तिगत अनुशीलन

६. रस-मीमांसा, पृ० २६६।

७. वही, पृ० २६६-६७।

८. वही, पृ० २६८।

एवं अनुभव के आधार पर यह स्थापित किया है कि साधारणीकरण काव्य-चिन्तित 'भाव-तत्व' का होता है, किसी 'वस्तु' या 'सत्ता' या 'व्यक्ति' का नहीं। 'भाव' अथवा 'प्रभाव' की 'साधारणता' के बीच काव्य-वर्णित व्यक्ति के व्यक्तित्व को विलुप्त नहीं होने देना—यह उनके निरूपण का वैशिष्ट्य है।

विभावादि साधारणतया प्रतीत होते हैं—आ० शुक्ल ने वर्तमान प्रकरण में कहा है कि 'विभावादि' साधारणतया प्रतीत होते हैं।'[९] यह कथन विश्वनाथ के इस कथन की स्पष्ट प्रतिध्वनि है—'विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्ते।'[१०] विश्वनाथ का साफ आशय है कि स्थायीभावों के साथ विभावादि का भी साधारणीकरण होता है।

विभावादि से उनका अभिप्राय आश्रयालंबन तथा विषयालंबन इत्यादि समस्त अवयवों का साधारणीकरण है। किन्तु शुक्लजी का आशय स्पष्ट नहीं हो पाया है। तथापि वे एक बार कहते हैं कि विभावादि के सामान्य रूप में प्रतीत होने का तात्पर्य यही है कि 'रसमग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि ये 'आलंबन' मेरे हैं या दूसरे के। × × × जबकि आश्रय के साथ अभिन्नता हो गई, तब उसके आलंबन भी अपने (पाठक या श्रोता के) आलंबन हो-ही जाएँगे।'[११]

प्रमाता का आश्रय से तादात्म्य— प्रस्तुत कथन से ज्ञात होता है कि शुक्लजी आश्रय के साथ प्रमाता की 'अभिन्नता' अर्थात् तादात्म्य का अनुमोदन करते हैं जो विश्वनाथ के 'प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते' के मेल में पड़ता है अथवा उससे प्रभावित है। अन्य बिन्दु यह उभरता है कि शुक्लजी के ध्यान क्षेत्र में 'विषयालंबन' को प्रमुखता है। किन्तु आलंबन का यह आपातिक प्राधान्य इस कारण है कि 'भाव' के उदय का आधार वही है और भाव का साधारण्य प्रदर्शित या प्रतिपादित करते समय, वह आलंबन उनकी चेतना-परिधि से कभी बाहर नहीं निकल पाता। इसी कारण विद्वानों को भ्रम हो गया है कि वे आलंबन किंवा 'आलंबनत्व-धर्म' का साधारणीकरण मानते हैं।

यहाँ एक असंगति-सी दृष्टिगोचर होती है। जब आलंबन की 'व्यक्तिता' या 'विशेषता' बनी रहेगी जैसा शुक्लजी मानते हैं, तब आश्रय के साथ अभेद-बुद्धि स्थापित हो जाने के बावजूद, यह भावना प्रमाता के मन में क्योंकर नहीं उत्पन्न होगी कि 'ये आलंबन मेरे हैं या दूसरे के ?' यह कहकर कि रस-मग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि 'ये आलंबन मेरे हैं या

---

९. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८४।
१०. सा० द० (मोतीलाल), पृ० ५५।
११. रस-मीमांसा, पृ० २६७।

दूसरे के', शुक्लजी पुनः आलम्बन का साधारणीकरण मानते प्रतीत होते हैं। किन्तु पूरे सन्दर्भ में इस कथन पर विचार करने से स्थिति का प्रतीयमान उलझाव सुलझ जाता है। इस कथन के पहले उसी कंडिका में उन्होंने कहा है कि 'मेरे विचार में साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।' अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि वे आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। यह भी नहीं सोचा जा सकता कि शुक्लजी को, यदि उनका यही मंतव्य है, अपने कथनों में सन्निविष्ट असंगति का भान नहीं होता। अतएव विवेच्य कथन का तात्पर्य आलंबन की साधारणीकृति नहीं है। शुक्लजी का प्रकृत आशय इस कथन की ठीक परवर्ती पंक्तियों से साफ हो जाता है— 'थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। जबकि आश्रय के साथ अभिन्नता हो गई, तब उसके आलंबन भी अपने आलंबन हो ही जाएँगे।' अर्थात् शुक्लजी 'भाव' की सामान्यता, अधिक सही अर्थ में, लोक-सामान्यता पर बल दे रहे हैं। जब प्रमाता और आश्रय में भाव-तादात्म्य स्थापित हो गया, तब आलंबन, अपनी व्यक्तिता बनाये रखते हुए भी, प्रमाता के उसी भाव का विषय बन सकेगा।

वस्तुतः शास्त्र की सामान्य परिपाटी का अवलंब लेते हुए भी, शुक्लजी शास्त्र-स्वतन्त्र रस-दृष्टि रखते हैं और अपने व्यक्तिगत अनुभव तथा चिन्तन के आलोक में, उन्होंने यह प्रतिपादन किया है कि काव्य में आलंबन की व्यक्तिता बनी रहती है और फिर भी, रस की अनुभूति होती है।

'विशेष' या 'व्यक्ति' और रसानुभव—'व्यक्ति' या 'विशेष' बना रहता है तो भी वह प्रमाता के रसानुभव का आलंबन होता है—इस उपपत्ति की सार्थकता के लिए केवल दो-तीन उदाहरण लिए जा सकते हैं। प्रेमचन्द के होरी की विपदाओं के वर्णन से हम निश्चित भावाभिभूत होते हैं, फिर भी होरी, होरी ही बना रहता है। इसी प्रकार 'गाँधी' चित्र में महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व सदैव बना रहता है और तो भी हम उनकी स्वप्नभंगता की अनुभूति से अतिशय अभिभूत हो जाते हैं। एक वर्तमान कवि भारतभूषण की अति-हृदयस्पर्शी कविता 'राम की जल समाधि' में राम की 'व्यक्तिता' बराबर बनी रहती है और तो भी हम करुणा के प्रवाह में ऊबचूब हो जाते हैं। अतएव शुक्लजी की विवेच्य प्रतिपत्ति निराधार नहीं कही जाएगी।

आचार्य शुक्ल ने 'आश्रय' के साधारणीकरण का कहीं स्पष्ट कथन नहीं किया है—यद्यपि उसके साथ सहृदय पाठक या श्रोता के तादात्म्य-स्थापन की बात कही है, जैसा अभी ऊपर कहा है। एक प्रसंग में वे कहते हैं कि काव्य-चित्रित भाव 'सहज' होना चाहिए, 'आरोपित' नहीं। इसी सातत्य में उनका कथन है कि काव्य में 'कवि, पात्र और श्रोता' तीनों के हृदय का समन्वय होता

है', जिसके फलस्वरूप ही 'जगत् के साथ हमारी रागात्मिका वृत्ति का सामंजस्य' सम्पादित होता है।[12] इन तीन हृदयों के समन्वय में भट्टतौत के इस कथन की प्रत्यक्ष प्रतिध्वनि है—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः।' इसका केवल अर्थ है कि काव्यार्पित नायक, कवि और सहृदय के अनुभव समान होते हैं, इस प्रकार, काव्य में इन तीनों के हृदय के समन्वय का कथन युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है।[13]

पूर्णरस की निष्पत्ति—शुक्लजी 'पूर्णरस' की निष्पत्ति के लिए इन तीन हृदयों के समन्वय को आवश्यक मानते हैं। इस प्रसंग में वे कहते हैं—'आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए; फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।[14]

स्मरणीय है कि शुक्लजी ने उपर्युक्त कथन रस को ऐकान्तिक आनन्दमयता के सिद्धान्त के विरोध में किया है। वे स्थायीभावों की सुख-दुःख-मयता अर्थात् उनकी उभयात्मक प्रवृत्ति में विश्वास करते हैं। वे साफ कहते हैं कि 'यदि श्रोता के हृदय में भी प्रदर्शित भाव का उदय न हुआ, तो 'साधारणीकरण' कैसा ? क्रोध, शोक, जुगुप्सा आदि के वर्णन यदि श्रोता के हृदय में आनन्द का संचार करें, तो या—तो श्रोता सहृदय नहीं या कवि ने इन भावों का स्वयं बिना अनुभव किये, उनका रूप प्रदर्शित किया है।'[15] इस प्रकार स्पष्ट है कि अपनी इस मौलिक मान्यता—स्थायीभावों की उभयात्मकता—के परिपोष में शुक्लजी ने बिना नाम लिये भट्टतौत के प्रमाण का अवलम्ब लिया है।

उपर्युक्त मूल बिन्दु की उपेक्षा कर डॉ० नगेन्द्र ने शुक्लजी के निरूपणों का गलत विवेचन किया है। उनके मन्तव्य की पहचान करते हुए नगेन्द्र कहते हैं—'निदान, सहृदय सीता के प्रति अनुरक्त हो जाता है, परन्तु उसके हृदय में यह भेद-भाव नहीं रहता कि सीता राम के प्रेम की आलंबन हैं या उसके अपने प्रेम की। सहृदय का चित्त व्यक्ति-चेतना से मुक्त हो जाता है।[16] शुक्लजी का 'सहृदय' सीता के प्रति रत्यादि भाव से आपन्न होगा --ऐसा सोचना अनुचित है। हमने दिखाया है कि वे असल में आलंबन अथवा

---

१२. रस-मीमांसा पृ० २६७।
१३. वही, पृ० ९९।
१४. वही, पृ० ९९।
१५. वही, पृ० २०३।
१६. रस-सिद्धान्त, पृ० २०३।

'आलंबनत्व-धर्म' का साधारणीकरण नहीं मानते—यद्यपि उनके कतिपय कथनों से ऐसा ज्ञात हो जाता है—अपितु विवक्षित भाव-तत्त्व का साधारणीकरण मानते हैं। इस बिन्दु तक पहुँचने में उन्हें ईमानदारीपूर्वक विभिन्न शास्त्रीय प्रतिपत्तियों अथवा सामान्य भावक-सुलभ प्रतीतियों का मनसा सामना करना पड़ा है, किन्तु उनकी पार्यन्तिक स्थापना यही है कि साधारणीकरण मूलतः 'भाव' का होता है, विभावादि भी साधारण्येन प्रतीत होते हैं—यह भिन्न बात है।

भट्टतौत के पूर्वोक्त कथन के आ० शुक्ल द्वारा किये गये उपयोग के संदर्भ की अनदेखी कर डॉ० नगेन्द्र अपनी व्याख्या में और आगे बढ़कर कहते हैं—'पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है, फिर वह आश्रय (अर्थात् राम) के द्वारा उसे व्यक्त करता है, और अन्त में काव्य का आस्वादयिता समस्त सहृदय-समाज उस भाव का अनुभव करता है।'[१७] यह सद्यः समझा जा सकता है कि आ० शुक्ल के साथ यह कैसा गहरा अन्याय किया गया है। जिस आचार्य पर नैतिक मनोदृष्टि का आरोप लगाया गया है, वही अपने आदर्श लोकसंग्रही कवि 'गोस्वामी तुलसीदास' के विषय में यह क्योंकर सोचेगा कि उनके (तुलसी के) हृदय में जगज्जननी जानकी के प्रति 'अनुराग' अर्थात् नायक सुलभ आसक्ति उत्पन्न होगी? नगेन्द्र ने कहा है कि 'शुक्लजी के मत का सार कदाचित् यही है।'[१८]

हम कहना चाहेंगे कि शुक्लजी मत का ऐसा 'सार' निकालना भ्रान्ति-जन्य और भ्रान्तिजनक दोनों है।

तादात्म्य और रस-कोटियाँ—आ० शुक्ल के साधारणीकरण-विमर्श का एक उल्लेखनीय बिन्दु है, प्रमाता के आश्रय के साथ 'तादात्म्य' की स्थापना और तदनुरूप इसकी दो कोटियाँ मानना। 'तादात्म्य' के विषय में उन्हें विश्वनाथ से स्पष्ट प्रेरणा मिली है—'प्रमाता चन्द्रभेदेन स्वात्मनं प्रतिपाद्यते', ध्यातव्य है कि तादात्म्य का कथन अभिनवगुप्त भी अपनी 'भारती' में कर चुके थे[१९] और पण्डितराज भी परोक्षत्वेन 'तादात्म्य' स्वीकार करते हैं।

प्रमाता का काव्यवर्णित आश्रय के साथ जहाँ तादात्म्य स्थापित हो जाता है, वहाँ शुक्लजी प्रथम कोटि की रसानुभूति ('पूर्ण रस') मानते हैं। तादात्म्य का अभिप्राय यह है कि आश्रय द्वारा आलंबन के प्रति व्यंजित भाव की अनुभूति में प्रमाता अपने को उससे तदात्म कर लेता है, अर्थात् वह भी उस आलंबन के

१७. रस सिद्धान्त, पृ० २१०।
१८. वही, पृ० २०३।
१९. हिन्दी 'अभिनव-भारती', पृ० ४२८।

प्रति पूर्ण 'अभेद' से, उसी भाव का अनुभव करता और उस अनुभव में 'रस' लेता है। यह रस की प्रथम कोटि अथवा 'पूर्ण' रस-दशा है।

रस की निचली कोटि उनके मतानुसार वहाँ उपपन्न होती हैं जहाँ प्रमाता आश्रय द्वारा आलंबन के प्रति व्यंजित भाव से तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाता और आश्रय के प्रति ही घृणा, क्रोध प्रभृति भावों के अनुभव से मनसा आन्दोलित हो जाता है। शुक्लजी इन प्रतिकूल भावों की प्रमाता की अनुभूति को भी 'रसात्मक' मानते हैं, किन्तु उसे 'मध्यम कोटि' की रसानुभूति कहते हैं। यहाँ प्रमाता आश्रय के 'शीलद्रष्टा' अथवा 'प्रकृति-द्रष्टा' के रूप में प्रभाव ग्रहण करता है और शुक्लजी के अनुसार वह प्रभाव भी 'रसात्मक' होता है।[२०]

आ० शुक्ल अपने वक्तव्य को पल्लवित करते हुए कहते हैं कि जब प्रमाता (पाठक या श्रोता) आश्रय के 'शील-द्रष्टा' के रूप में स्थित होता है तब भी उसके मन में कोई-न-कोई 'भाव' जगता ही है, किन्तु वह भाव उसे आश्रय के प्रति-ही जगता है, न कि उस आश्रय के आलंबन के प्रति। उनके कथनानुसार, यहाँ भी 'एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त 'भाव' के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। × × × × वह स्वरूप उसके (कवि के) किसी भाव का आलंबन अवश्य बनता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलंबन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलंबन प्रायः हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु (जैसे हिमालय, विन्ध्याटवी) या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है, वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसी के भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य रहता है, उसी का आलंबन पाठक या दर्शक का आलंबन हो जाता है।'[२१]

अपने कथ्य को और भी साफ करते हुए आ० शुक्ल ने कहा है—"इस संबंध में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने 'रस' कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं। प्रथम में श्रोता या पाठक अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है; द्वितीय में अपनी पृथक् सत्ता का कुछ क्षणों के लिए विसर्जन कर, आश्रय की भावात्मक सत्ता में मिल जाता है। उदात्त वृत्ति वाले आश्रय की भाव-

---

२०. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८६।

२१. वही, पृ० १८७।

व्यंजना में भी यह होगा कि जिस समय तक पाठक या श्रोता तादात्म्य की दशा में पूर्ण रस-मग्न रहेगा, उस समय तक भाव-व्यंजना करने वाले आश्रय को अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दत्तचित्त न रहेगा। उस दशा के आगे-पीछे-ही वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर उसके शील-सौन्दर्य की भावना कर सकेगा। भाव-व्यंजना करनेवाले किसी पात्र या आश्रय के शील-सौन्दर्य की भावना जिस समय रहेगी, उस समय वही श्रोता या पाठक का आलंबन रहेगा और उसके प्रति श्रद्धा, भक्ति या प्रीति टिकी रहेगी।"[२२]

आ० शुक्ल की उपर्युक्त दो रसकोटियों की स्थिर भाव से परीक्षा होनी चाहिए। इस प्रसंग में पहले उनकी यह अत्युक्ति सामने आती है कि आचार्यों ने जहाँ 'पूर्ण रस' माना है, वहाँ "तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो 'साधारणीकरण' कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।"[२३]

विभाव द्वारा सम्पादित साधारणीकरण का कथन स्पष्टतः विश्वनाथ से लिया गया है। "व्यापारोऽस्ति विभावादेः नाम्ना साधारणीकृतिः।" 'पूर्ण रस' की निष्पत्ति के लिए आ० शुक्ल कवि, नायक (पात्र या आश्रय) और प्रमाता, तीनों के हृदयस्थ भावों की समानता को आवश्यक मानते हैं। इस आदर्शात्मक स्थिति से इनकार नहीं किया जा सकता। ऐसी-ही दशा में प्रमाता थोड़ी देर के लिए अपने व्यक्तित्व का विसर्जन या विलयन कर सकता है, क्योंकि वह नायक के मनोभावों से पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस कथन को लेकर विद्वानों ने विचित्र रीति से तर्क किया है जो समीचीन नहीं कहला सकता। "पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है, फिर वह आश्रय के द्वारा उसे व्यक्त करता है और अन्त में काव्य का आस्वादयिता समस्त सहृदय-समाज उस भाव का अनुभव करता है।" डॉ० नगेन्द्र की यह तर्क-सरणी आ० शुक्ल की सही स्थिति का अयौक्तिक निर्वचन है।[२४] यह तो पहले स्वीकारा जा चुका है कि आ० शुक्ल के साधारणीकरण-निरूपण में कई स्थलों पर ऐसे कथन उपलब्ध होते हैं जिनसे उनको समझने में कठिनाइयाँ अथवा उलझनें उत्पन्न होती हैं। 'पूर्ण रस' की उपर्युक्त स्थिति के उनके कथन से डॉ० नगेन्द्र ने ऐसी तर्कणा अपनायी है। सच्चाई यह है कि शुक्लजी ने कहीं राम-सीता के

---

२२. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८७-८८।

२३. रस-मीमांसा, पृ० ८८।

२४. रस-सिद्धान्त, पृ० २०३।

अनुराग का उल्लेख किया ही नहीं है। नैतिक दृष्टि के आधार पर ही उनकी आलोचना की गयी है। ऐसी स्थिति में यह तर्क कि 'पहले कवि के हृदय में सीता के प्रति अनुराग का उदय होता है', हास्यास्पद है। 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' भट्टतौत के इस कथन को शुक्लजी ने उस रूप में नहीं ग्रहण किया है जिस रूप में डॉ० नागेन्द्र ने उसे यहाँ उपस्थित किया है। उनका शुक्लजी की स्थिति का ऐसा निर्वचन इस मान्यता पर आधारित है कि शुक्लजी आलंबन अथवा 'आलंबनत्व-धर्म' का साधारणीकरण मानते हैं। हम दिखला चुके हैं कि वस्तु-स्थिति मूलतः ऐसी नहीं है। 'पूर्ण रस' के निरूपण में 'तीन हृदयों की समानता का अभिप्राय केवल इतना है कि कवि, कवि-वर्णित पात्र और पाठक या श्रोता के बीच पूर्ण तादात्म्य अथवा पूर्ण 'हृदय-संवाद' रसानुभव-काल में स्थापित होना चाहिए। कवि के हृदय में 'सीता के प्रति अनुराग के उदय' का कथन मूलतः सारहीन है। स्मरणीय यह है कि कवि को राम-सीता की कहानी पुराकाल से परम्परया प्राप्त होती है और उस कहानी के निश्चित वृत्त अथवा उप-वृत्त के परिपोष में ही उसकी कारयित्री प्रतिभा व्यापारवती बनती है। सुतराम्, सीता अथवा किसी नायिका के प्रति कवि-हृदय में 'पहले' 'अनुराग के उदय' की बात निरर्थक एवम् असंगत हो जाती है। वहाँ भी शुक्लजी मर्यादा-स्तंभ तुलसी के हृदय में अपनी आराध्य सीता के प्रति रति-भाव का प्रादुर्भाव मानेंगे—ऐसा सोचना उनके प्रति गहन अन्याय है। ऐसे-ही 'शुक्लजी के मत का (अधिकतम) स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने यह टिप्पणी की है कि "सीता का सीतात्व तो नष्ट नहीं होता, पर उनके ऐसे सामान्य गुण उभर कर सामने आ जाते हैं जिनके कारण वे केवल राम के ही नहीं, सम्पूर्ण सहृदय-समुदाय के अनुराग की भाजन बन जाती हैं।"[२५] यह टिप्पणी भी राम-सीता के परम्परा-प्राप्त दृष्टान्त के 'ऑब्सेशन' (मानसिक बद्धता) का प्रतिफलन है। यह सही है कि आ० शुक्ल की मनोदृष्टि नैतिकतानिष्ठ है, किन्तु इस प्रसंग में काव्यानुरागी सहृदयों का एक विपुल वर्ग उनके साथ है। 'लोक-हृदय' की पहचान को उन्होंने अपनी समग्र रसचिन्तना का मूल आधार बनाया है। उनके निरूपणों की मानो सफाई देते हुए यह संकेत करना कि वे भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि से अनभिज्ञ थे, अनर्गल है। साथ-ही यह कहना भी अनपेक्षित है कि 'विशेष रूप को सुरक्षित रखते हुए आलंबन के साधरणीकरण की सिद्धि वास्तव में नहीं हो सकती।"[२६]

आ० शुक्ल ने 'साधारणीकरण का अभिप्राय' समझाते हुए जहाँ यह

---

२५. रस-सिद्धान्त, पृ० २०७-०८।

२६. वही, पृ० २०८।

कहा है कि रसानुभूति-काल में पाठक या श्रोता के मन में 'व्यक्ति-विशेष' या 'वस्तु-विशेष' रहती है, वहाँ यह भी कहा है कि 'हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी के समान धर्मवाली कोई मूर्ति-विशेष आ जाती है। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है, तो शृंगाररस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रह कर आलंबन-रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति-ही कल्पना में आएगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ, तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन में आएगी।''
('चितमणि, प्र० भाग, पृ० १८५)

यद्यपि शुक्लजी ने प्रस्तुत कथन अपनी इस मान्यता के उपलालन में किया है कि 'साधारणीकरण' प्रमाता के मन में से 'व्यक्ति-विशेष' की भावना का निराकरण नहीं करता, तथापि 'प्रेयसी' अथवा 'सुन्दरी' का कथन हमें भट्टनायक की उस टिप्पणी का स्मरण करा देता है जिसमें उन्होंने शुक्लजी के ठीक विपरीत सिद्धान्त अपनाया है और कहा है कि सामाजिक को रस की 'स्वगत प्रतीति' नहीं होती क्योंकि—''न च सा प्रतीतिः युक्ता। सीतादेः अविभावत्वात्'। स्वकान्ता-स्मृति-असंवेदनात् इत्यादि।'' यहाँ लक्षणीय है, भट्टनायक का यह कथन कि रस-काल में अपनी 'कान्ता' (पत्नी या प्रेयसी) का स्मरण नहीं होता। अतः क्या ऐसा नहीं समझा जा सकता कि शुक्लजी के सामने भट्टनायक का यह कथन वर्तमान रहा होगा? उनके नैतिक दृष्टिकोण के संबंध में तो स्वयं नगेन्द्र आदि ने परोक्षतः उन पर भट्टनायक का प्रभाव माना है। अतएव यह कैसे कहा जा सकता है कि शुक्लजी भट्टनायक या अभिनवगुप्त से अनभिज्ञ थे?

साधारणीकरण-विमर्श का 'सारांश' प्रस्तुत करते हुए डॉ० नगेन्द्र ने पुनः ऐसे कथन किये हैं जिनका उल्लेख अपेक्षणीय बन जाता है। विन्दु सं० ३ में वे कहते हैं कि 'तादात्म्य' वाला सिद्धान्त विश्वनाथ का है जो 'भट्टनायक और अभिनव के मत से किञ्चित भिन्न है।' इस विषय में, जैसा पहले कहा गया है, उल्लेखनीय है कि भट्टनायक की सही स्थिति की जानकारी तो नहीं है अभिनवगुप्त तो स्पष्टतया मानते हैं कि नायक की चित्तवृत्ति के साधारणीकरण के साथ उसकी तथा सामाजिक की चित्तवृत्ति में 'तादात्म्य' स्थापित हो जाता है जो रसानुभूति का आवश्यक लक्षण है 'सा चैक-चित्तवृत्तिः × × × स्व-पर-भावात् प्रच्याविता, अतएव साधारणीभूततया सामाजिकानापि स्वात्म-सद्भावेन समावेशयन्ती, तादात्म्यादेव च × × × निर्विघ्न-स्वसंवेदनात्मक विश्रान्ति-लक्षणेन रसनापर-पर्यायेण व्यापारेण गृह्यमाणत्वाद् रस-शब्देन अभिधीयते।'[२७]

२७. हिन्दी अभिनव-भारती, पृ० ४२८।

अतएव प्रमाणित है कि अभिनवगुप्त नायक की चित्तवृत्ति के साधारणी-भूत होने के फलस्वरूप नायक और प्रमाता में भावगत तादात्म्य का तथ्य स्वीकार करते हैं। हम समझते हैं, विश्वनाथ ने तादात्म्य वाला बिन्दु अभिनव से ही प्राप्त किया है। आश्रय के साधारणीकरण और प्रमाता द्वारा आश्रय के साथ तादात्म्य की अनुभूति में अन्तर करना तत्त्वहीन मानसिक व्यायाम है।[२८] अभिनव ने आश्रय के साथ तादात्म्य की प्रमातृगत अनुभूति को साधारणीकरण का फल अथवा उसकी सहचारिणी मानसिक घटना व्यंजित किया है।

उसी सन्दर्भ में डॉ० नगेन्द्र ने भट्टतौत वाले पूर्वोद्धृत कथन के आ० शुक्ल द्वारा 'यथावत् मान्यता' दिये जाने का कथन किया है और तदनन्तर उस कथन से अपनी असहमति व्यक्त की है।[२९] यहाँ भी हमारी धारणा है कि नगेन्द्र ने शुक्ल जी को उनकी अपूर्णता में पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है। आ० शुक्ल केवल 'पूर्ण रस' की निष्पत्ति के लिए, जैसा हमने ऊपर कहा है, कवि, नायक तथा प्रमाता के बीच भाव-तादात्म्य का सम्पादन आवश्यक मानते हैं। यह कहना अतएव युक्तिसंगत नहीं है कि उन्होंने भट्टतौत के मत को 'यथावत् मान्यता प्रदान की है।'

वास्तव में आ० शुक्ल के रस की कोटियाँ मानने के सिद्धान्त का अद्यापि गम्भीरता से परीक्षण नहीं किया गया है। रामदहिन मिश्र ने एक प्रकार से यह टिप्पणी कर उनका उपहास किया है: 'यूरोपीय विचार के अनुशीलन का ही यह प्रभाव है कि शुक्लजी ने दो कोटि की रसानुभूति बतलाई है—एक संवेदनात्मक रसानुभूति प्रथम कोटि की और शीलद्रष्टात्मक रसानुभूति मध्यम कोटि की। सम्भव है, कहीं से निकृष्ट कोटि की रसानुभूति टपक पड़े।'[३०] वस्तुतः शुक्लजी ने तीसरी 'निकृष्ट' कोटि की रसानुभूति मानी भी है जिसका उल्लेख उनके रसचिन्तन वाले प्रकरण में किया गया है।

इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है कि भरत तथा उनके व्याख्याताओं ने जिस काल में रस-निरूपण किया, उस समय उनके सम्मुख एक विशेष परिपाटी तथा एक विशेष परम्परा में प्रणीत काव्य अथवा नाटक ही वर्तमान थे। उस साहित्य के रसास्वादन के परिप्रेक्ष्य में नायक, कवि तथा श्रोता या पाठक के बीच भाव-तादात्म्य का सम्पादन स्वयं-सिद्ध तथ्य था। सुतराम्, आचार्यों ने रस-दशा की निष्पत्ति के लिए इसे एक आवश्यक उपादान स्वीकार किया। इसके विपरीत आ० शुक्ल का अनुशीलन तथा परिचिन्तन अधिक समावेशी है और

---

२८. रस-सिद्धान्त, पृ० २०६।

२९. वही, पृ० २०५, २०७।

३०. पं० रामदीन मिश्र : काव्य-दर्पण, १९६०, पृ० १३२।

उन्होंने अपने सहृदय-सुलभ अनुभव के आलोक में रस की जो कोटियाँ निर्धारित की हैं उन्हें एकान्त भाव से अस्वीकृत करना आसान नहीं है।

पुराने आचार्य रस की अखण्ड तथा अविभाज्य सत्ता के प्रतिपोषक हैं जिसकी उपपत्ति के लिए साधारणीकरण तथा तादात्म्य की सहवर्तिनी घटना आवश्यक समझी गयी है। जब आ० शुक्ल पूर्वोक्त 'तीन हृदयों' की समानता का कथन करते हैं, तब वे प्राक्तन आचार्यों से अपनी सहमति का व्यक्तीकरण करते हैं। लेकिन उनका काव्यानुशीलन का अनुभव उन्हें पुरानी लीक से हटने के लिए बाध्य कर देता है और यही उन्हें शास्त्रावलम्बित, फिर भी शास्त्र-स्वतन्त्र आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित कर देता है।

आश्रय के 'शील-द्रष्टा' रूप में सम्पन्न प्रमाता की भावानुभूति को शुक्लजी ने 'मध्यम कोटि' की रसानुभूति कहा है जिसमें श्रोता या पाठक 'अपनी पृथक् सत्ता अलग सँभाले रहता है।'[३१] आ० शुक्ल के मतानुसार हृदय की 'मुक्तावस्था' रस-दशा है। 'हृदय-मुक्ति' की इस स्थापना को स्वीकार कर लेने पर यह मानना असंगत एवम् अयौक्तिक नहीं होगा कि भाव की अनुभूति ऐसी भी हो सकती है जिसमें तीव्रता-सान्द्रता का स्वरूप तो सम्पन्न हो जाता है, किन्तु प्रमाता के व्यक्तित्व का आश्रय के साथ विगलन अथवा तादात्म्य सम्पादित नहीं होता। वह अपना व्यक्तित्व पृथक् सँभाले रहता है और फिर भी भाव की तल्लीनता में निमग्न हो जाता है। उदाहरणार्थ, महात्मा गाँधी वाली अटेनबारो की फिल्म को लिया जा सकता है। इस फिल्म में कई-एक ऐसे प्रसंग चित्रित हुए हैं जिनके द्वारा उत्पन्न भाव की गहरी अनुभूति में प्रेक्षक-समुदाय डूब जाता है। उदाहरण के लिए 'जालियान वाला बाग' वाले दृश्य को आप सामने रख सकते हैं। मशीन-गनों की मार में कैसे नर-समूह भू-लुण्ठित होता जा रहा है, उस दर्दनाक और हृदय-विदारक दृश्य के अवलोकन से कौन हृदय-सम्पन्न सहृदय होगा जिसकी अन्तरात्मा उस नृशंस नरालम्भन की अनुभूति से उद्विग्न न हो उठी हो? उसके हृदय में एक ओर उस जघन्य काण्ड के नायक जनरल डायर की अमानवीय बर्बरता के प्रति रोष और निरपराध हताहतों के प्रति असीम वेदना-विह्वल करुणा युगपद् ज्वार सहृदयों के भीतर फूट पड़ता है। कदाचित् करुणा की अनुभूति ही अतिशायी बन जाती है। वहाँ जनरल डायर के साथ हमारा तादात्म्य नहीं होता, प्रत्युत हम अपना पृथक् व्यक्तित्व बनाये हुए सम्पूर्ण प्रसंग की भावानुभूति में विह्वल हो उठते हैं। हमारा हृदय मुक्तावस्था में रहता है और हम इसी कारण एक प्रकार की रसानुभूति करते हैं जो प्राक्तन आचार्यों की प्रतिष्ठित रसानुभूति से थोड़ी भिन्न पड़ती है।

---

३१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८७।

'गाँधी' चित्र की सम्पूर्णता से भी ऐसी ही रसानुभूति होती है। युवक गाँधी की उत्तरोत्तर वर्धिष्णु संकल्प-परायणता के साथ राष्ट्र के भाग्य का क्षितिज भी बदलता चलता है, कभी वह आलोकित होता है और कभी तिमिराच्छन्न अवभासित होने लगता है। महात्मा गाँधी का अखंडित राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य से संलग्न स्वप्न सम्मूर्त्तन के समीप पहुँचता प्रतीत होता है। भारत स्वाधीनता अर्जित कर लेता है, किन्तु खंडित रूपाकार में। मुहम्मद अली जिन्ना से जब गाँधीजी मर्मस्पर्शी रीति से भारत-विभाजन के विरुद्ध अनुनयपूर्ण आग्रह करते हैं कि वे 'पंडितजी' (जवाहरलाल) से कहेंगे कि वह उनके (जिन्ना के) पक्ष में प्रधानमंत्रित्व का दावा छोड़ दें और उस अनुनय का तिरस्कार करते हुए जिन्ना साहब आजाद पाकिस्तान की माँग की स्वीकृति के विकल्प में 'सिविल वार' (गृह-युद्ध) की धमकी देते हैं, तब सकल सहृदय-समाज को गहरी ठेस पहुँचती है और वह इस प्रतिपत्ति से मनसा तिलमिला उठता है कि एक सन्त स्वप्न-द्रष्टा का संकलित स्वप्न 'नाटकीय व्यंग्य' (dramatic irony) की क्रूरता के साथ अन्ततोगत्वा भग्न हो जाता है। भारत पराधीनता-पाश से मुक्त तो होता है, किन्तु उसके शरीर के दो टुकड़े हो जाते हैं और अन्ततः वह महान् स्वप्नदर्शी एक हत्यारे की गोली का आखेट बन जाता है। महात्मा गाँधी की मनोव्यथा की अनुभूति का सहृदय दर्शक गहराई के साथ अनुभव करता है और भारत की स्वतन्त्रता की सुखानुभूति, अमिश्र न रहकर त्रासदीय आस्वाद से अनुविद्ध बन जाती है। इस समग्र अनुभव-परम्परा में दर्शक अपनी पृथक् सत्ता बनाये रहता है, महात्मा गाँधी का 'विशेषत्व अथवा व्यक्तित्व' भी निरन्तर बना रहता है और फिर भी हम भाव की अनुभूति में निमग्न हो जाते हैं। गाँधीजी के साथ हम सर्वदा तादात्म्य की अनुभूति (भी) नहीं कर पाते। अन्य प्रकार से यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत चित्र के अवलोकन-सन्दर्भ में कवि (फिल्मनिर्माता), नायक (महात्मा गाँधी) और श्रोतृ-वर्ग में एक सीमा तक अनुभव की समानता तो सम्पादित हुई है, फिर भी नायक तथा सामाजिक के 'व्यक्तित्व' परस्पर विगलित नहीं हो पाये हैं। यदि शुक्लजी इसे 'मध्यम कोटि' की रसानुभूति कहेंगे तो इसमें स्वतन्त्र-चेता समीक्षक को क्या आपत्ति हो सकती है ?

'गाँधी' फिल्म से अतिरिक्त 'आक्रोश' नामक फिल्म भी उदाहरण रूप में ली जा सकती है जिसमें 'जनजाति' के पात्र मर्म-विदारक अपमान तथा यंत्रणा के शिकार बनते हैं और सहृदय दर्शक-समुदाय त्रासदीय अवसन्नता से आक्रान्त बन जाता है। इस प्रसिद्ध चित्र के पात्र तथा प्रेक्षक दोनों ही अपना पृथक् व्यक्तित्व बनाये रखते हैं और सहृदयों को उनकी हृदय की 'मुक्तावस्था' में एक दारुण स्वभाव की रसानुभूति होती है।

आ० शुक्ल की यह स्थापना कि काव्य में 'व्यक्ति' या 'विशेष' बना रहता है और प्रमाता की सत्ता भी बनी रहती है, और फिर भी, रसानुभूति होती है, आसानी से निरस्त अथवा परास्त नहीं की जा सकती। फिल्म की बात जाने दें। 'गोदान' का होरी सम्पूर्ण उपन्यास में अपना व्यक्तित्व बनाये रहता है, प्रमाता की भी निजी सत्ता अव्यापन्न बनी रहती है। तथापि, उसके दुःखों तथा विपदाओं में सहृदय वेदना के भाव से तड़पता रहता है और उसकी सम्पूर्ण सहानुभूति उस दीन-पीड़ित नायक के प्रति उमड़ पड़ती है। सम्भव है, हममें से कुछ उसके साथ तादात्म्य भी स्थापित कर लें। विवक्षा यह है कि पूर्ण अथवा सम्यक् तादात्म्य एवं आश्रय की सत्ता के प्रत्यक्ष साधारणीकरण के भी अभाव में, सहृदयों को रसानुभूति होती है। शास्त्र के प्रति आ० शुक्ल का अनुराग तो इसी से प्रमाणित है कि वे ऐसी रसानुभूति को भी मध्यमकोटीय मानते हैं और पूर्ण रस-दशा की निष्पत्ति के लिये तीन हृदयों के समन्वय की बात स्वीकार करते हैं और उसे ही रस की पराकोटि मानते हैं।

आ० शुक्ल की नैतिक दृष्टि—आ० शुक्ल की नैतिक दृष्टि की प्रचुर आलोचना की गयी है और आलम्बन के साधारणीकरण के आधार पर 'मेघनाद-वध' जैसे काव्यों की 'रसवत्ता' के खण्डित होने की आशंका व्यक्त की गयी है।[32] हम कहेंगे, यह आशंका निराधार है, कारण कि उनकी 'मध्यम रस-कोटि' के अन्तर्गत ऐसी विलक्षण रचनाओं के आस्वादन के लिए प्रचुर अवकाश है। पुनः जैसा पूर्व-कथित है, प्राचीनों के 'साधारणीकरण' के कितने ही वैदुष्यपूर्ण निर्वचन के बावजूद, नैतिक दृष्टिकोण को पूर्णतः प्रत्याख्यात नहीं किया जा सकता। राम-सीता का निविड़ प्रणय-चित्र आज भी अनेक सहृदयों के हृदय द्वारा श्लाघ्य नहीं माना जा सकता। शिव-पार्वती का 'कुमार सम्भव' में चित्रित संभोग आचार्यों द्वारा नितान्त गर्हित माना गया है। पुनः काव्यानुरागी सहृदयों के संस्कार मिटाये नहीं जा सकते। अतएव कोई वर्ग-गत ही क्यों न हों, ऐसी कृति सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में सामने नहीं रखी जा सकती जो शत-प्रतिशत सहृदयों के समीप समान रूप से आस्वाद्य अथवा श्लाघ्य बन सके। 'पैरेडाइज लॉस्ट' में मिल्टन ने ईश्वर की अपेक्षा शैतान के चरित्र का अधिक उत्कर्ष चित्रित किया है। निश्चय ही आस्तिक काव्यानुरागियों को उसमें रसवत्ता की अनुभूति नहीं होगी। आ० शुक्ल ने अपनी मध्यमकोटीय रस-दशा के निरूपण से ऐसी महनीय रचनाओं के रसास्वादन के लिए भी द्वार उन्मुक्त कर दिया है। सुतराम, उनकी 'शील-द्रष्टात्मक' रसानुभूति सार-हीन नहीं, प्रत्युत रसवाद के चौखटे को अधिक व्यापक-विस्तीर्ण बनाने का एक श्लाघनीय प्रयास कहा जायेगा।

---

३२. रस-सिद्धान्त, पृ० २०८।

रसानुभूति और शील-वैचित्र्य—यूरोपीय नाट्य-रचनाओं में, भारतीय दृश्यकाव्य के विपरीत प्रायः 'शील-वैचित्र्य' या 'अन्तः प्रकृति-वैचित्र्य' की तरफ अधिक ध्यान दिया गया है जो 'लोक सामान्य भावभूमि' के मेल में नहीं पड़ता। इस 'वैचित्र्य' के साक्षात्कार से, आ० शुक्ल के कथानुसार, तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं—(१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, (२) आश्चर्य-पूर्ण अवसादन और (३) कुतूहल-मात्र।[33]

'आश्चर्यपूर्ण प्रसादन' के उदाहरण, उन्होंने भारतीय रचनाओं में भी पाये हैं। यह मनः-प्रसादन वहाँ उत्पन्न होता है जहाँ किसी पात्र के 'शील' अथवा चरित्र का अत्यन्त 'उत्कर्ष' दिखाया गया रहता है। उदाहरण रूप में भरत का राम की पादुका लेकर विरक्त जीवन व्यतीत करना, हरिश्चन्द्र का अपनी पत्नी से आधा कफन माँगना इत्यादि वृत्त लिये जा सकते हैं। शुक्लजी का कथन है कि ऐसे उत्कृष्ट-शील सम्पन्न पात्रों के साथ पाठकों का भाव-तादात्म्य कभी सम्पादित होता है,[34] कभी नहीं भी। 'कभी नहीं भी' ऐसा स्पष्टतया शुक्ल जी ने नहीं कहा है, किन्तु उनका मन्तव्य यही है, इसका आभास उनके इस पूर्वोद्धृत कथन से मिलता है—'उदात्त वृत्ति वाले आश्रय की भाव-व्यंजना में भी यह होगा कि जिस समय तक पाठक या श्रोता तादात्म्य की दशा में पूर्ण रसमग्न रहेगा, उस समय तक भाव-व्यंजना करनेवाले आश्रय को अपने से अलग रखकर उसके शील आदि की ओर दत्तचित्त न रहेगा। उस दशा के आगे-पीछे ही, वह उसकी भावात्मक सत्ता से अपनी भावात्मक सत्ता को अलग कर, उसके शील-सौन्दर्य की भावना कर सकेगा।' ऐसी भावना जिस समय रहेगी, उस समय सम्बद्ध पात्र के साथ प्रमाता का तादात्म्य सम्पादित नहीं होगा और वह (पात्र) पाठक या श्रोता की 'श्रद्धा भक्ति या प्रीति' का आलम्बन बना रहेगा।

आ० शुक्ल का यह कथन यथार्थ प्रतीत होता है कि उदात्त वृत्तिवाले पात्र के कार्य-व्यापार के चित्रण में प्रमाता कभी उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर पूर्ण रस का अनुभव करता है और कभी उसके शील-वैचित्र्य की अनुभूति से उसके प्रति श्रद्धा आदि भावों से मनसा अभिभूत हो जाता है। किन्तु शील की उदात्तता का एक स्वरूप ऐसा भी हो सकता है जहाँ पात्र वा नायक का शील-वैचित्र्य हमें दो धरातलों पर प्रभावित करता है—पहला, 'तादात्म्य' का धरातल और दूसरा 'शील-दर्शन' का धरातल। वस्तुतः शुक्लजी ने जो दृष्टान्त दिये हैं, उनमें भी यह द्वैत उपलभ्य है। शील-दर्शन में उन्होंने प्रमाता के तीन

---

३३. चिन्तामणि' पहला भाग, पृ० १८८।

३४. वही, पृ० १८८।

ही भावों-श्रद्धा, भक्ति अथवा प्रीति-का उल्लेख किया है। लेकिन शील-दर्शन का एक ऐसा भी धरातल हो सकता है जहाँ सहृदय भावक, इन तीनों भावों से सर्वथा पृथक्, एक ऐसी मनोदशा का अनुभव कर सकता है जो मात्र-मनुष्यता के अदृश्य संवेदनात्मक तार से जुड़ी हुई सिद्ध होती है। ऐसी स्थिति में भी सहृदय को गहन, सघन रसानुभूति होती है। उदाहरण रूप में हम श्री भारतभूषण (मेरठ) की एक अत्यन्त तलस्पर्शी, रस-मधुर कविता 'राम की जल-समाधि', का उल्लेख करना चाहते हैं।

कविता के नायक हैं सूर्य-वंशी राम, जो सीता के भू-गर्भ में प्रवेश कर जाने से अत्यन्त कातर तथा विषण्ण हो गये हैं। लोकापवाद से बचने के लिए उन्होंने सती-साध्वी सीता का परित्याग किया और अब जीवन असह्य हो जाने के कारण, मनस्ताप से ग्रस्त होकर सरयू की लहराती हुई जल धार में डूब जाते हैं। यहाँ प्रिया-हीन राम अपनी समस्त गौरवपूर्ण विजयों के बावजूद, 'हारा-हारा', रोता-रोता' महसूस करते हैं और उनके प्रत्येक रोम से 'सीता' 'सीता' की पुकार उठ रही है। कवि ने राम की जीवन की निस्सारता की अनुभूति को प्रारम्भ में ही, बड़े कलात्मक ढंग से गहराया है—'वैदेही, तू खो गई कहाँ?'

वे जल में प्रवेश करते हैं और सद्यः मनोविभ्रम ('हैल्यूसिनेशंस') से आक्रान्त हो जाते हैं। जैसे-जैसे पानी में आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे सीता-स्वयंबर के दृश्य उनके मानस-नेत्रों के समक्ष छलकने लगते हैं। जनक-वाटिका में रति-मुख सखियों' के संग 'नतमुख' सीता के प्रथम दर्शन से लेकर, धनुष-भंग और अन्ततः सीता के हाथों में पड़ी 'दीपित जयमाला' का शीश झुकाकर राम द्वारा ग्रहण—ये सभी मनोविभ्रम पानी में बढ़ते जाते राम को लुभाते हैं और जयमाल ग्रहण के साथ वे जल-समाधि ले लेते हैं—'फिर लहर-लहर, लहरें-लहरें। सरयू-सरयू, सरयू-सरयू। × × × जल ही जल, जल ही जल केवल। हे राम-राम! हे राम-राम, हे राम-राम, हे राम-राम।'

आ० शुक्ल ने जिन उदात्त शीलवाले पात्रों के उदाहरण दिये हैं, वे सभी लोक-हित अथवा परोपकार अथवा किसी सिद्धान्त या आदर्श के पालन की प्रेरणा से अनुप्राणित हैं जो शुक्लजी के मनोनुकूल है। किन्तु प्रस्तुत कविता के नायक राम इनमें से किसी प्रेरणा से अनुप्रेरित नहीं है। इसके विपरीत, 'बूढ़ी मर्यादाओं' तथा 'आदर्शों के जल-महल' का वैयर्थ्य 'प्रिया-हीन जीवन' की निस्सारता के परिप्रेक्ष्य में उन्हें उद्विग्न बना देता है, अथवा वे असहनीय एकाकीपन से मुक्ति पाने के निमित्त, सरयू में जल-समाधि ग्रहण कर लेते हैं। प्रत्यक्ष है कि ये राम 'मानस' के राम नहीं हैं, तथापि उनका 'शील' अपने ढंग से 'उदात्त' है और सहृदय पाठकों के अन्तस् को वे मनुष्य-सुलभ धरातल पर

कुरेदते हैं। राम मूलतः तथा अवश्य ही, 'मनुष्य' हैं और इस हृदय-ग्राहिणी 'मनुष्यता' के उद्घोष के लिए उन्होंने अभूतपूर्व साहस की विज्ञप्ति की है।

रह गया प्रश्न तादात्म्य का कविता के प्रारम्भिक चरण तक 'सिमटे अब ये लीला सिमटे' तक सहृदय भावक राम के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। तदनन्तर मनोविभ्रमों के चित्रण में, तथा जल-धार में डूब जाने तक, वह शील-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करता है। किन्तु पिछली दशा में भी हमें मर्मस्पर्शी रसानुभूति होती है—भले वह पराकोटि वाली 'उत्तम' रस-दशा न हो। पूरी रचना करुण रस की व्यंजना से ओतप्रोत है, और तादात्म्य वाले बिन्दु को 'माइनस' कर देने पर करुणरस की अनुभूति में सहृदय पूर्णतः निमग्न हो जाता है। 'गाँधी' वाली फिल्म में भी जैसा पहले कहा है, हम महात्मा गाँधी के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते, फिर भी किसी-न-किसी प्रकार की रसानुभूति से हम मनसा अभिभूत हो-ही जाते हैं।

'आश्चर्यपूर्ण अवसादन' शील के आत्यन्तिक पतन अथवा 'तामसी घोरता' के साक्षात्कार का परिणाम होता है। ऐसी अवस्था में नायक की क्रूरताओं से उसके प्रति घृणा, क्रोध आदि जो भाव प्रमाता में उत्पन्न होंगे, उनकी प्रतीति भी रसात्मक होगी और वह शुक्लजी के कथनानुसार 'मध्यम कोटि' की रसानुभूति होगी।

'कुतूहल-मात्र' उत्पन्न करनेवाले काव्यों में ऐसी ही 'अद्वितीय प्रकृति' का वर्णन रहता है जिसके साक्षात्कार से 'न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन।' आ० शुक्ल ने इस विषय में यूरोपीय समीक्षक थियोडार वाट्स डण्टन का यह कथन उद्धृत किया है कि ऐसे काव्य कवि की 'नाटकीय' अथवा 'निरपेक्ष' दृष्टि के व्यंजक हैं और 'काव्य-कला का चरम उत्कर्ष' ज्ञापित करते हैं।[३५] ऐसे कवियों या नाटककारों में शेक्सपियर का महत्वपूर्ण स्थान है जिनकी त्रासदियों में विचित्र-शील-सम्पन्न नायकों का अवतरण हुआ है। आ० शुक्ल ने ऐसे (हैमलेट-जैसे) नायकों को भी एक 'वर्ग-विशेष' का प्रतिनिधि बताया है और वहाँ भी आश्रय के साथ भाव-तादात्म्य की सम्भावना को रेखांकित किया है।[३६] 'नूतन-सृष्टि-निर्माण' वाली कल्पना का आश्रयण कर, व्यक्तिगत वैचित्र्य-पूर्ण चित्रणों से 'ऊपरी कुतूहल-मात्र' उत्पन्न करने की प्रवृत्ति जब विकसित हुई, तब 'काल्पनिक हृदय' की निर्मिति होने लगी और 'काव्य-क्षेत्र 'नकली हृदयों' का एक कारखाना हो गया।'[३७] शुक्लजी की इस

---

३५. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८८।
३६. वही, पृ० १९०।
३७. वही, पृ० १९२।

टिप्पणी का स्पष्ट संकेत अभिव्यंजनावाद, रहस्यवाद आदि 'वादों' के भीतर प्रणीत रचनाओं की ओर है, जिनसे उनके अनुसार किसी प्रकार की रसानुभूति सम्भव नहीं होगी।

प्रस्तुत प्रसंग में आ० शुक्ल ने भारतीय काव्य-दृष्टि की यह कहकर श्लाघना की है : 'भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न 'विशेषों' के भीतर से 'सामान्य' के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी-न-किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। × × × × × हमारे यहाँ कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही संतुष्ट रहे जो मनुष्य-मात्र के हृदय के भीतर से होता हुआ गया है।'[३८] वास्तव में, इसी 'सच्चे तार की झंकार' की पहचान से हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने 'रस-प्रस्थान' तथा उसके मूल में सन्निहित 'साधारणीकरण' सिद्धान्त का निरूपण किया है—यही शुक्लजी की विवक्षा है।

निष्कर्षतः, शील-वैचित्र्य के वर्णन में भी रसानुभूति हो सकती है, यद्यपि उसकी कोटियों के विषय में प्रचुर मत-वैषम्य का अवकाश बना रहेगा क्योंकि रसानुभव, उसके सामष्टिक स्वभाव के बावजूद मूलतः वैयक्तिक वस्तु है।

(६) रस-विमर्श

(क)

शास्त्र-स्वतन्त्र चिन्तन-दृष्टि—हिन्दी साहित्यालोचन में आचार्य शुक्ल पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने स्वतंत्र दृष्टि से रस पर विचार किया है। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि उन्होंने इस पर रस को स्वतंत्र विषय बनाकर विचार नहीं किया है। जैसा 'रस-मीमांसा' के सम्पादक स्व० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी 'प्रस्तावना' में कहा है, 'काव्य-मीमांसा' विषय पर किसी ग्रंथ की रचना शुक्लजी का अभीष्ट था। अतएव काव्य की अन्तःप्रकृति तथा बहिरंग स्वरूप पर गहन विचार करने की प्रक्रिया में, स्वभावतः उन्होंने रस-विमर्श किया क्योंकि भारतीय परम्परा रसवाद से घनिष्ठतया जुड़ी हुई थी। 'ध्वनिवाद' से उन्हें चिढ़ थी और वे रस को ही कविता की 'साध्य वस्तु' मानते थे। अस्तु, आ० शुक्ल के रस-चिन्तन में नवीनता है और उनकी 'अप्रोच' परम्परा से कटी हुई होने पर भी, आचार्य-सुलभ गंभीरता से मण्डित है। प्रस्तुत अध्ययन में उनके इतस्ततः बिखरे तथा छितराये और कहीं-कहीं व्यवस्थित कथनों एवम् निरूपणों के आधार पर, विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत, उनकी रसविषयक मान्यताओं तथा धारणाओं का प्रतिपादन किया गया है।

---

३८. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १९२।

(ख)

रसानुभूति और रसावयव–आचार्य शुक्ल रसानुभूति के लिए विभावानुभाव इत्यादि रसावयवों का संश्लिष्ट वर्णन आवश्यक नहीं मानते। वे आलंबन-मात्र के 'विशद वर्णन' को श्रोता या पाठक में 'रसानुभव (भावानुभव सही)' उत्पन्न करने में 'पूर्ण समर्थ' समझते हैं। इस सम्बन्ध में अनुभावों की योजना अपरिहार्यतः अपेक्षित नहीं होती। 'नख-सिख' तथा 'नायिका-भेद' के वर्णनों में आलंबन के चित्रण का ही प्राधान्य होता है और उनमें 'रसिक लोग बराबर आनंद प्राप्त करते देखे जाते हैं।' प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन-मात्र में भी काव्यत्व उपलब्ध होता है।[1] यदि कवि ने 'ऐसी वस्तुओं और व्यापारों' का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया, तो उससे भी सहृदय को भावानुभूति होती है। अतएव 'आश्रय' की योजना के अभाव में भी रस अथवा भाव का अनुभव होता है। 'रस की शर्त' पूरी करने मात्र, अर्थात् विभावादि की योजना-मात्र से रस का सम्पादन नहीं होता।[2]

'विभाव-पक्ष' को आ० शुक्ल कविता में 'प्रधान स्थान' देते हैं। लेकिन इस विषय में उनकी स्थिति उदारतापूर्ण है। लक्षण-ग्रंथों में गिनाये हुए भिन्न-भिन्न रसों के आलंबन-मात्र को ही वे विभाव नहीं मानते। जिन वस्तुओं, व्यापारों या प्रसंगों से हमारे हृदय में किसी भाव का संचार होता हो, उनका वर्णन 'आलंबन का ही वर्णन' माना जायेगा। अर्थात् भावोद्रेक करानेवाला प्रत्येक 'अर्थ' काव्य में विभाव (आलंबन) बन जाता है। 'विभाव-प्रधान कविता' में जहाँ आलंबन का 'विस्तृत, रमणीय' चित्रण रहता है, 'संवेदना पाठक के ऊपर छोड़ दी जाती है।' कहने का तात्पर्य यह है कि आलंबन के रमणीय वर्णन से सहृदय पाठक को स्वतः सम्बद्ध या अन्तर्निहित भाव की प्रतीति हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ भाव का चित्रण प्रधान बन गया होता है, अर्थात् 'संवेदना की विवृति' ही रहती है, वहाँ 'आलंबन का आक्षेप' पाठक स्वयं कर लेता है।[3]

तथापि शुक्लजी की निजी वरीयता कवि द्वारा 'अपनी अनुभूति या संवेदना का लम्बा-चौड़ा ब्योरा' प्रस्तुत करने के पक्ष में नहीं है, प्रत्युत वे यह मानते हैं कि उस अनुभूति या संवेदना को उत्पन्न करनेवाली वस्तुओं अथवा तथ्यों को पाठक की कल्पना में पहुँचा देना कवि के लिए अधिक आवश्यक है

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ३७-३८।
२. वही, पृ० ४८।
३. वही, पृ० १११।

क्योंकि सहृदय या भावुक पाठक 'अपनी अनुभूति का पथ बहुत-कुछ आप से आप निकाल लेते हैं।'[४] यह कथन पूर्णतः यथार्थ है।

रसात्मक प्रतीति के प्रकार—आ० शुक्ल रसात्मक प्रतीति के मूलतः दो रूप मानते हैं। पहला रूप व्यंजित भाव की अनुभूति में पाठक का 'लीन' हो जाना है और दूसरा रूप है—व्यंजित भाव की अनुभूति में लीन न होते हुए भी, उसकी 'व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना।' पहले प्रकार की प्रतीति में 'पूर्णरस की अनुभूति' होती है और इसके लिए स्थायी भावों की व्यंजना-ही उपादेय होती है—क्योंकि उन्हीं के चित्रण में मग्न होकर 'हमारी भाव-सत्ता का सामान्य भाव-सत्ता' में विलय हो जाता है। वही रस का 'पुनीत' भूमि है। मुक्तक कविताओं में किसी भाव की 'क्षणिक दशा' का रमणीय वर्णन होता है। वहाँ हम व्यंजना के स्वाभाविक उत्कर्ष से चमत्कृत हो जाते हैं—उस भाव में तल्लीन भले न हों। ऐसी अवस्था 'रसात्मक प्रतीति' का दूसरा प्रकार है। इसमें उस प्रतीति की 'मध्यम' अवस्था प्रसक्त होती है।[५]

स्थिति का उलझाव—आ० शुक्ल ने इस संदर्भ में अपनी स्थिति को उलझा दिया है। 'साधारणीकरण' के संदर्भ में हमने दिखाया है कि वे रस की 'उत्तम कोटि' अथवा पूर्ण-रस की दशा वहाँ मानते हैं जहाँ सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है, अर्थात् आश्रय द्वारा अभिव्यक्त भाव की अनुभूति में वह भी निमग्न हो जाता है। 'मध्यम कोटि' वे ऐसे प्रसंगों में मानते हैं जहाँ पात्र या आश्रय द्वारा व्यंजित भाव में पाठक का हृदय 'योग न देकर' उस पात्र के प्रति-ही किसी अन्य भाव का अनुभव करने लगा है।

अब इस व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में जब हम उपर्युक्त 'मध्यम' प्रकारवाली 'रसात्मक प्रतीति' पर विचार करते हैं तब स्थिति निश्चित उलझ जाती है। मुक्तकों से उपलभ्य रस-प्रतीति और आश्रय के साथ तादात्म्य-स्थापन के अभाव में ('शील-द्रष्टा' के रूप में) प्राप्त होनेवाली भावानुभूति या रसानुभूति, प्रत्यक्षतः भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। किन्तु, दोनों को 'मध्यम' दशा-वाली रसानुभूति मानना स्पष्ट ही असंगतिपूर्ण है। यहाँ यह स्मरण कराना आवश्यक है कि मुक्तकों से उपलब्ध रस-प्रतीति में सहृदय का मन भले ही किसी भाव में लीन या निमग्न नहीं हो, इतना तो निश्चित है कि वहाँ किसी ऐसे अन्य भाव का उदय नहीं होता जिससे 'व्यंजना की स्वाभाविकता और

---

४. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १११-१२।

५. वही, पृ० ८७-८८।

उत्कर्ष' का हम अनुमोदन न करें। अतएव आश्रय के साथ तादात्म्य-स्थापन के अभाव से संलग्न भाव-दशा (या रस-दशा) मुक्तकोंवाली रस-प्रतोति से निश्चित-ही भिन्न है। आ० शुक्ल ने पहली स्थिति को पुनः 'काव्य में अभि-व्यंजनावाद' वाले निबन्ध में निरूपित किया है। प्रकृति के 'वैचित्र्य-प्रदर्शन की दृष्टि' से प्रणीत पाश्चात्य नाटकों में यही 'मध्यम कोटि' की रसानुभूति होती है—ऐसा वे मानते हैं।[६]

आ० शुक्ल की उदारता सर्वग्राह्य बन गयी है जब वे 'चमत्कारवादियों के कुतूहल' को भी काव्यानुभूति के अन्तर्गत ग्रहण करते और उसे रसानुभूति की 'निकृष्ट' दशा स्वीकार करते हैं। इस प्रकार रसानुभूति की तीन दशाएँ उन्हें मान्य हैं—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट।[७] रस-दशाओं का ऐसा विभाजन प्रत्यक्षतः भारतीय आचार्य-परम्परा की मान्यता के विरोध में पड़ता है।

तथापि रस की इन कोटियों की स्थापना से आ० शुक्ल ने रस-क्षेत्र का विस्तार किया है और काव्यानुरागियों के एक बहुत बड़े समुदाय को काव्यानु-भूति अथवा रसानुभूति की परिधि में समेट लिया है। पूर्ण रस-दशा के अतिरिक्त जिसे वे 'उत्तम कोटि' मानते हैं, पाठकों की ऐसी भी मनःस्थितियाँ होती हैं जिनमें वे किसी-न-किसी भाव की अनुभूति करते हैं और उस अनुभूति में किसी-न-किसी प्रकार के आकर्षण अथवा चारुत्व की उपलब्धि करते हैं—भले वह 'कुतूहल, का चारुत्व हो अथवा व्यंजना के 'उत्कर्ष' का चारुत्व हो अथवा 'शील-वैचित्र्य' या 'शील-च्युति' की विस्मयकारी या अवसादनकारी अनुभूति का झटका हो। पूर्वोक्त उलझाव के बावजूद आ० शुक्ल की रस-विषयिणी उदारता की एकान्त भर्त्सना नहीं की जा सकती। जैसे आनंदवर्धन ने सभी काव्य-पद्धतियों को काव्य-सीमा में समाविष्ट कर अपने व्यावहारिक काव्यानुभव का परिचय दिया है, वैसे ही उन्होंने भी रसानुभूति की चौहद्दी बढ़ाकर रससिद्धान्त का कल्याण ही किया है।

(ग)

रस-दशा अथवा रसानुभूति—आचार्य शुक्ल के मतानुसार हृदय की 'मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।' वे कहते हैं कि 'जगत् के रूपों तथा व्यापारों के सामने' जब कोई मनुष्य अपने योग-क्षेप, हानि-लाभ इत्यादि व्यक्तिगत चिन्ताओं से मुक्त होकर अर्थात् 'अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूटकर' 'विशुद्ध अनुभूतिमात्र' रह जाता है तब वह मुक्त-हृदय हो जाता

---

६. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० २३८।

७. वही, पृ० २४०।

है। वही हृदय-मुक्ति रसानुभूति की दशा है।[1] इस प्रकार रस-दशा में प्रमाता की 'अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है।'[२]

'मुक्त-हृदयता' तथा 'विशुद्ध अनुभूति-मात्रता' में प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित सत्त्वगुण के उद्रेक तथा रजस् एवं तमस् के तात्कालिक पराभव का विन्दु अन्तर्भूत है। यही नहीं, शुक्लजी ने रसानुभूति में 'सत्त्वोद्रेक' को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[२क] काव्य-चित्रित वस्तु को प्रमाता 'निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा' ग्रहण करता है जिसमें उसके 'अहं का विसर्जन और निःसंगता' की अभ्यान्तरिक घटना घटित होती है।[3]

प्राचीन आचार्यों के समान आ० शुक्ल श्रोता या पाठक में रस की स्थिति मानते हैं, अर्थात् उनके अनुसार भी प्रमाता रस का 'आश्रय' है।[3क] साथ ही, 'पूर्वजन्मों की दीर्घ परम्परा' द्वारा भावों के 'वासना' रूप में गृहीत होने का तथ्य भी वे स्वीकारते हैं और इसके अतिरिक्त 'जीवन में भी बहुत से संस्कार' प्राप्त करने का उल्लेख करते हैं।[3ख] इस दृष्टि से उनका सहृदय जो रस का अनुभव करता है, पूर्वजन्मों की वंश-परम्परा से प्राप्त वासनात्मक भावों के अतिरिक्त, इस जीवन में प्राप्त अनुभवों के फलस्वरूप उनके 'संस्कार' भी अपने भीतर संचित किये होता है। ये सभी संस्कार पूर्वजन्मों के तथा इस जन्म के, उसे भावानुभूति अथवा रसानुभूति के लिए समर्थ बनाते हैं। 'साहित्य-दर्पण' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख हुआ है—

'न जायते तदास्वादो विना रत्यादि-वासनाम्।

वासना च इदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वाद-हेतुः। तत्र यदि आद्या न स्यात्, तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसका दीनामपि सा स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात् तदा यद्रागिणामपि केषाञ्चिद् रसोद्बोधो न दृश्यते तत् न स्यात्।'

अभिप्राय यह है कि सहृदय में दोनों प्रकार की वासनाएँ मानना आवश्यक बताया गया है। ('साहित्य-दर्पण', मोतीलाल०, पृ० ५३)

---

१. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११३।
२. वही, पृ० १९९।
२क. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० २०४,२२८।
३. वही, पृ० १९९।
३क. वही, पृ० ६९।
३ख. वही, पृ० ३९।

यह ध्यातव्य है कि आ० शुक्ल रसानुभूति को प्रत्यक्षतया 'हृदय' से जोड़ते हैं और उनके कथनों में 'आत्मा' जैसी किसी परोक्ष अथवा दार्शनिक सत्ता का अनुप्रवेश नहीं हुआ है। उलटे उन्होंने 'कला-कला के लिए' वाले सिद्धान्त के उन्नायक डॉ० ब्रैडले की इस अत्युक्ति का उपहास किया है कि 'काव्य आत्मा है।'[४]

रसानुभूति के अ-लौकिकत्व का अपलाप— रस अथवा सौन्दर्यानुभूति को प्रायः पूर्व या पश्चिम में अलौकिक माना गया है। आ० शुक्ल एक सीमित अर्थ में रस को 'लोकोत्तर' समझते हैं, किन्तु वह लोकोत्तरत्व इस लोक से विच्छिन्न 'कोई स्वर्गीय विभूति' नहीं है। प्रमाता जब अपनी विशेष सत्ता की भावना से मुक्त होकर, विशुद्ध हृदय से काव्य-वस्तु का ग्रहण करता है, तब उसका वही ग्रहण उसकी अनुभूति को अलौकिक बना देता है। उसे-ही कोई यदि 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' की अभिधा प्रदान करना चाहे, तो शुक्ल जी को कोई आपत्ति नहीं होगी। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नही है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।'[५] स्पष्ट-ही रसानुभूति की उदात्तता एवम् अवदातता (सुन्दरता, स्वच्छता) से आ० शुक्ल का अभिप्राय है, उसका व्यक्तिगत संबंधों से सर्वथा निर्मुक्त होना। नितान्त लौकिक अनुभवों में निःसंगता अथवा ताटस्थ्य की स्थिति नहीं होती और इसी कारण 'हृदय की मुक्तावस्था' भी उपपन्न नहीं होती। अतः अन्तिम विश्लेषण में प्रमाता की मुक्तहृदयता-ही जब वह विशुद्ध अनुभूति-मात्र रह जाता है, रसानुभूति को अलौकिकता के तत्त्व से समंजित कर देती है।

रसानुभूति का स्वरूप— आ० शुक्ल ने कहीं रसानुभव के तात्त्विक स्वरूप का प्रत्यक्ष परिभाषण नहीं किया है। उन्होंने 'सौन्दर्य' के विषय में एक जगह अवश्य संक्षिप्त चर्चा की है। अधुना 'रस' और 'सौन्दर्य' का समीकरण प्रायः सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया है। अतः सौन्दर्य के विषय में शुक्लजी जो कथन करते हैं, उसे रस-विषय में घटाया जा सकता है।

आ० शुक्ल का कथन है कि 'सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है।' इस कथन की स्पष्ट व्यंजना यह है कि सौन्दर्य-भावना 'वासनात्मना' मनुष्य में अवस्थित है, कोई बाहर से आरोपित वस्तु नहीं है। शुक्लजी ने 'रस-परिपाक' के संदर्भ में वंशानुगत वासना की दीर्घ

---

४. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८८।

५. वही, पृ० २०३।

परम्परा का उल्लेख किया है।[6] जब वे 'सौन्दर्य' को मन के भीतर की वस्तु बताते हैं, तब उनका अभिप्राय इसी वासना-जन्य संस्कार-परम्परा से है। उनका कथन है कि सुन्दर वस्तुओं का साक्षात्कार 'हमारी सत्ता' पर ऐसा अधिकार कर लेता है कि 'हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं।'[7] उनके मतानुसार, 'हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।'[8] सौन्दर्यानुभूति का यह स्वरूप रसानुभूति का भी स्वरूप समझा जा सकता है।

रस-दशा में प्रस्तुत निरूपणानुसार रति, क्रोध, शोक प्रभृति स्थायीभाव प्रमाता के अन्तश्चैतन्य को अपने निजी आकार में परिणत कर लेते हैं। अन्य शब्दों में, उसकी अन्तस्सत्ता इन भावों की अनुभूति में इतनी घुल-मिल जाती है कि वह रति-मय, क्रोध-मय इत्यादि स्थिति को उपलब्ध कर लेती है। यही उसकी 'तदाकार-परिणति' है। यही रसानुभूति का स्वरूप है।

इस प्रसंग में हम दुहराना चाहेंगे कि आ० शुक्ल के निरूपण में कोई दार्शनिक 'ओवर-टोन' वर्तमान नहीं हैं। लेकिन गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि दार्शनिक भंगिमा को 'माइनस' कर देने पर भी, वे उसी भूमि पर मूलतः अवस्थित प्रतीत होते हैं जहाँ अभिनवगुप्त अथवा पंडितराज जगन्नाथ हैं। अभिनवादि के अनुसार अज्ञान-रूप आवरण से मुक्त, शुद्ध चैतन्य का विषयीभूत रत्यादि स्थायिभाव-ही रस है—'इत्थं च अभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादि-ग्रन्थ-स्वारस्येन भग्नावरण-चिद्-विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रस इति स्थितम्।' पंडितराज ने अपनी ओर से इस मान्यता मे तनिक संशोधन कर, यह स्थापना की है कि रति आदि स्थायी भावों से अवच्छिन्न (घिरा हुआ) अज्ञानावरण से मुक्त चैतन्य-ही रस है—'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।'[9]

अज्ञानावरण से मुक्त जिस 'चित्' (चैतन्य) की बात उपर्युक्त उद्धरणों में कही गयी है उसे-ही आ० शुक्ल ने 'हृदय की मुक्तावस्था' बताया है। पुनः उनकी अन्तस्सत्ता की 'तदाकार-परिणति' वही है जिसे जगन्नाथ ने 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरण चिद्' कहा है।

तदाकार-परिणति—'तदाकार-परिणति' पद के प्रयाम से योगशास्त्र अथवा अद्वैत-वेदान्त के 'वृत्ति' निरूपण का स्मरण हो जाता है। योग-शास्त्र में

६. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०३।
७. वही, पृ० १३२।
८. वही, पृ० १३२।
९. हिन्दी रसगंगाधर (चौखंबा), पृ० ८१-८७।

चित्त-वृत्तियों के निरूपण में 'प्रत्यक्ष', 'अनुमान' तथा 'शब्द' इन तीन 'प्रमाणों' का प्रतिपादन हुआ है। इन्द्रिय-रूपी नाली के द्वारा चित्त बाहर जाकर वस्तुओं के साथ 'उपराग' (निकटस्थ वस्तु के प्रभाव से रंग-रूप बदलना) को प्राप्त कर विषयाकार हो जाता है। वस्तु के आकार को प्राप्त जो चित्तवृत्ति होती है, वही 'प्रत्यक्ष' प्रमाण कहलाती है। वस्तु के आकार को प्राप्त चित्तवृत्ति में 'मैं घट को जानता हूँ'—इस प्रकार, घट का साक्षात्कार होता है। यही 'पौरुषेय' चित्तवृत्ति 'बोध' अथवा 'ज्ञान' है। (डॉ० उमेश मिश्र, 'भारतीय दर्शन')

अद्वैत-दर्शन में भी 'वृत्ति' का निरूपण हुआ है। वहाँ अन्तःकरण के परिणाम-विशेष को 'वृत्ति' कहा गया है। 'वृत्ति' के मूलतः दो भेद किये गये हैं—पहली बाह्य विषयों से संबंधित वृत्ति और दूसरी ब्रह्मानुभूति से संबंधित अन्तःकरण की अखण्डाकार आकारवाली चित्तवृत्ति। 'वेदान्त-परिभाषा' के रचयिता धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार, जिस प्रकार तालाब का जल किसी एक छिद्र से निकलकर कुल्या का रूप ग्रहण करता हुआ, खेत के चारों ओर क्यारियों में प्रविष्ट होता और उन क्यारियों की तरह त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार तैजस होने के कारण अतिशीघ्र-गामी अन्तःकरण भी नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा निकल कर घट-पटादि विषय-देश को प्राप्त होता हुआ, घट-पटादि विषयों के आकार-रूप में परिणमित हो जाता है। वही 'वृत्ति' है।

तात्पर्य यह है कि योग-शास्त्र और अद्वैत-दर्शन में बोध या ज्ञान का स्वरूप अन्तःकरण का संबद्ध विषय या वस्तु के आकार-रूप में परिवर्तित हो जाना है। 'मानस' में गो० तुलसीदास ने 'ज्ञान-सिद्धान्त' का निरूपण करते हुए 'सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा' का कथन किया है जो शब्दानुविद्ध समाधि में स्थित होने के फलस्वरूप उत्पन्न आत्मानुभव के 'अपरोक्ष' प्रकाश का व्यंजक है। 'वह मैं हूँ' अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)—इस प्रकार की अखण्डाकार आकारवाली चित-वृत्ति को आत्मानुभूति अथवा ब्रह्मानुभूति का स्वरूप बताया गया है। (डॉ० उमेश मिश्र : 'भारतीय दर्शन', १९५७, पृ० ३६८)

उपर्युक्त उद्धरणों के आलोक में आ० शुक्ल का यह कथन कि 'हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है'— अद्वैत-वेदान्त के परोक्ष प्रभाव का व्यंजक माना जा सकता है। 'मानस' के प्रति उनकी श्रद्धामिश्रित निष्ठा प्रत्यक्ष-ही है। 'सोऽहमस्मि × × ×' वाला कथन जिसमें अन्तःकरण को अखण्डाकाराकारित 'वृत्ति' का स्पष्ट ध्वनन है, हमारे इस अनुमान का परिपोष करता है कि सौन्दर्यानुभूति को अन्तस्सत्ता

की तदाकार-परिणति बनाने में योग-शास्त्र अथवा अद्वैत-दर्शन की उपपत्तियों का परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष प्रभाव प्रत्यभिज्ञेय है। रसानुभूति अथवा सौन्दर्यानुभूति का इन शब्दों में परिभाषण संस्कृत-आलोचना में हमें कहीं नहीं मिला है।

रस की अखण्डता का अपलाप—आ० शुक्ल सौन्दर्य की श्रेणियाँ मानते हैं। "जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी-ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी।" शुक्लजी के इस कथन से साफ झलकता है कि तदाकार-परिणति के अनुपात में वस्तु का सौन्दर्य न्यून अथवा अधिक हो सकता है। अन्य शब्दों में 'रस-मग्नता' की 'डिग्रियाँ' हो सकती हैं, उसमें तर-तम का अनुमान रह सकता है। शुक्लजी जैसा हमने अभी दिखाया है, रस की 'मध्यम कोटि' और 'निकृष्ट कोटि' भी मानते हैं। अतएव उनके समीप सौन्दर्य अथवा इसकी अनुभूति अखण्ड, अविभाज्य वस्तु नहीं है जैसा प्राक्तन आचार्यों ने माना है। 'हृदय की मुक्तावस्था' रस-दशा है, लेकिन तदाकार परिणति के परिमाण-भेद से साफ ध्वनित होता है कि वह हृदय-मुक्ति पार्यन्तिक नहीं है, सापेक्ष है। इस प्रकार रस भी अखण्ड सत्ता नहीं। हाँ शुक्ल जी ने इस अखण्डता का उपहास-ही किया है। 'डॉ० मकेल साहब ने फरमाया, काव्य एक अखण्ड तत्व या शक्ति है जिसकी गति अमर है।'[१०] निदान यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि शुक्लजी अपनी व्यवहारिक रस-दृष्टि में रस की अखण्डता का अपलाप करते हैं। यहाँ वे पुरानी शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध लड़ते हैं।

रसानुभूति का लक्षण—आ० शुक्ल ने रसानुभूति के दो लक्षण ठहराये हैं—

(१) "अनुभूति-काल में (प्रमाता के) अपने व्यक्तित्व के संबंध की भावना का परिहार और (२) किसी भाव के आलंबन का सहृदय-मात्र के साथ साधारणीकरण, अर्थात् उस आलंबन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।'[११]

प्रस्तुत प्रतिपादन त्रुटि-पूर्ण है। व्यक्तित्व-सम्बन्ध की भावना का परिहार तो हृदय-मुक्ति का धर्म है और इस कारण उसे रसानुभूति का लक्षण माना जा सकता है। लेकिन दूसरा कथित 'लक्षण' रसानुभूति का लक्षण नहीं है, अपितु वह आलंबन के 'साधारणीकरण' का लक्षण है जो 'हृदय-मुक्ति' उत्पन्न करने के प्रक्रम में एक कारक अथवा सोपान कहा जायेगा। यहाँ आ० शुक्ल के चिन्तन में एक उलझाव उत्पन्न हो गया है। रसानुभूति मूलतः वैय-

---

१०. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १९९।

११. वही, पृ० २००।

क्तिक होती है, किन्तु अभिनवादि काव्य-शास्त्रियों ने रस के सामष्टिक स्वरूप का भी निरूपण किया है।

'तंत्रालोक' में अभिनवगुप्त ने स्थापना की है कि अभिनय, संगीत-गोष्ठी आदि अवसरों पर सामाजिकों की संख्या के अनुपात में रस-धारा व्यक्तिगत सीमाओं का अतिक्रमण कर सामूहिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है क्योंकि सामाजिकों में परस्पर 'तादात्म्य' स्थापित हो जाता है और 'देह-भेद से संकुचित हुई सर्वात्मिका संवित् परस्पर टकराती हुई एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित होती हुई विकसित हो जाती है।' अभिनव इस 'सुधा-सागर' में सभी सामाजिकों के तल्लीन हो जाने का कारण आत्म-तत्व की अद्वैतता मानते हैं।[१२]

आ० शुक्ल भी रसानुभूति को वैयक्तिक परिधि से निकालकर सामष्टिक आयाम प्रदान करना चाहते हैं। यतः वे किसी दार्शनिक प्रतिबद्धता से बचना चाहते हैं, अतः उन्होंने 'उस आलंबन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में' एक-ही जैसे भाव के हृदय का कथन किया है। समान भाव का उद्बोध रसानुभूति को यही सामूहिक स्वरूप प्रदान करेगा—ऐसी उनकी विवक्षा है। तथापि यह रसानुभूति का 'लक्षण' नहीं होगा, अपितु रस-दशा की सर्व-सहृदय—सामान्यता का निदर्शक माना जायेगा। अतएव रसानुभूति केवल 'एकलक्षणा' है—व्यक्तिगत सत्ता की भावना के परिहार से संलग्न। शुक्लजी 'लोक-सामान्य भावभूमि' के प्रति अपनी अविचलित निष्ठा की मानसिक भंगी में रसानुभूति की सामूहिकता को रेखांकित करना चाहते हैं। सुतराम्, रसानुभूति के लक्षण-निरूपण में उनकी वैपश्चिती प्रज्ञा तनिक विचलित हो गयी है और वे साधारणीकरण को रसानुभूति का लक्षण मान बैठे हैं जबकि वह रस-दशा की अधिगम्यता में एक कक्षा अथवा प्रक्रम है।

लोक-सामान्य भावभूमि—जैसा अभी कहा है, आ० शुक्ल की रस-दशा 'लोक-सामान्य भावभूमि' का उपलक्षण है। कविता का धर्म, उनके मतानुसार, मानव-हृदय को 'स्वार्थ संबंधों के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि' पर ले जाना है जहाँ वह 'अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में लीन' कर देता है—जहाँ उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है या हो सकती है। आ० शुक्ल की रसानुभूति यही लोकसामान्य अनुभूति है।[१३]

---

१२. 'संवितसर्वात्मिका देहभेदाद्या संकुचिता तु सा।
मेलकेऽन्योन्य-संघट्ट-प्रतिबिम्बादिक - स्वरा ॥
उच्छलन्निज-रश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बितः।
बहु-दर्पणवद् दीप्तः सर्वाचिताप्ययत्नतः ॥' (तन्त्रालोक)
—डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त के 'रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन' से उद्धृत।

१३. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११३।

वे स्पष्ट कहते हैं कि 'इसी लोक-हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।'[१४]

'सहृदय' और 'रस-व्याप्ति'—'शुद्ध मुक्त भाव-भूमि' का अनुभव करने की, व्यक्ति-सत्ता को लोक-सत्ता में विलीन करने की सामर्थ्य रखनेवाला व्यक्ति ही शुक्लजी के अनुसार 'सहृदय' है। यह सहृदय अभिनवगुप्त के उस 'सहृदय' से आपाततः भिन्न है जिसका मनोमुकुर काव्यानुशीलन के सतत अभ्यास से विशद बन गया है और जो तन्मयीभाव की योग्यता से संयुक्त 'हृदय-संवाद' का धनी है—

—"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्—विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय—तन्मयीभवन-योग्यता, ते स्वहृदय-संवाद—भाजः सहृदयाः।"[१५]

तात्पर्य यह है कि अभिनव का सहृदय काव्यार्पित वस्तु के प्रति तन्मयीभूत होने की योग्यता रखता है और एतदर्थ, इसे सत्काव्यों के अनुशीलन का यथेष्ट अभ्यास होना आवश्यक है जिसके फलस्वरूप उसमें 'हृदय-संवाद' की क्षमता कालान्तरेण विकसित हो जाती है। लेकिन आ० शुक्ल के 'सहृदय' को काव्यानुशीलन की आवश्यकता नहीं है, केवल उसे संवेदनशील हृदय से सम्पन्न होना चाहिये जिससे वह लिखित काव्य का-ही रस न हृदयंगम कर सके, प्रत्युत 'इस विश्व-काव्य की रस-धारा' में निमग्न होने की योग्यता भी रखता हो।[१६] उसका 'सौन्दर्य' औपचारिक काव्य में ही फलीभूत नहीं रहता, अपितु वह सृष्टि के सौन्दर्य-दर्शन में भी 'रस-मग्न' होता है।[१७] अभिनव का सहृदय 'शब्द-काव्य की सिद्धियों' का पारखी है जबकि आ० शुक्ल का सहृदय 'वस्तु-काव्य' किंवा 'विश्व-काव्य के पृष्ठों' के अनुशीलन का भी अनुरागी है।[१८] अतएव, शुक्लजी की 'मुक्त भावभूमि' व्यापक है: उसकी एक ही पहचान है 'लोक-सत्ता में व्यक्ति-सत्ता' का विलयन और वह विलयन 'शब्द काव्य' और 'वस्तु-काव्य' दोनों के अनुशीलन से सम्पादित हो सकता है। सुतराम्, उनका 'सहृदय' इसी 'शुद्ध मुक्त भावभूमि' का अभ्यासी है।

उपरिगत विवेचन से स्पष्ट है कि आ० शुक्ल का 'रस' शब्द-बद्ध काव्य तक ही परिसीमित नहीं है, प्रत्युत उसकी व्याप्ति बहुत बड़ी है। वह रस 'प्रकृति के नाना रूपों' तथा रत्यादि भावों की प्रत्यक्षानुभूति को भी अपनी

---

१४. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८३।

१५. 'हिन्दी ध्वन्यालोक' (चौखंबा), पृ० ३९-४०।

१६. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११७।

१७. वही, पृ० १२८।

१८. वही, पृ० २०३।

परिधि में समेटता है। 'रसात्मक बोध के विविध रूप' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने विस्तार से बताया है कि रति, क्रोध प्रभृति भावों के वास्तविक लौकिक अनुभव में और प्राकृतिक दृश्यों के अवलोकन में जब हमारा मन 'स्वार्थमय जीवन की शुष्कता तथा विरसता' से दूर हट कर, विशुद्ध अनुभूति में मग्न हो जाता है, तब भी हम रसानुभूति की दशा में पहुँचे हुए रहते हैं।[१९] तथापि ऐसा मानना निराधार अथवा अयौक्तिक नहीं होगा कि शुक्लजी 'शब्द-काव्य' से उपलब्ध रस को प्रत्यक्ष या वास्तविक रसानुभूति की तुलना में थोड़ा भिन्न अवश्य मानते हैं, 'जाति' में नहीं 'स्वरूप' में, जब वे कहते हैं कि 'शब्द-काव्य' से उपलब्ध रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति का-ही 'एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।''[२०]

आ० शुक्ल प्रकृति की छवियों तथा छटाओं के अन्यतम अनुरागी हैं और उन्हें उनके प्रत्यक्ष अवलोकन तथा उसमें भाव-विभोर होने का प्रचुर अवकाश मिला है। 'प्रकृति-रस' की उनकी मान्यता उनकी 'वास्तु-काव्य' की सौन्दर्य-दिदृक्षा का असंदिग्ध प्रमाण है। वैसे ही रत्यादि भावों की लौकिक अनुभूति में भी उन्होने सौन्दर्य के दर्शन किये हैं और 'रस' उपलब्ध किया है। लौकिक अनुभवों की रसात्मकता के निरूपण में वे प्राक्तन आचार्यों की प्रतिष्ठित परम्परा से कट जाते हैं, किन्तु अपनी स्वतन्त्र विचार-सरणी के प्रतिपादन में उन्हें एक प्रकार की आत्मोपलब्धि मिली है।

भावों की प्रत्यक्ष रसानुभूति—प्रत्यक्ष अथवा लौकिक भावों की अनुभूति के रसत्व-स्थापन में भी शुक्लजी पूर्वोक्त दो लक्षण ही निर्धारित करते हैं। हमने पहले दिखाया है कि उनमें से व्यक्तिगत सम्बन्धों का परिहार ही रसानुभूति का प्रकृत लक्षण माना जा सकता है। उन्होंने कतिपय भावों के प्रत्यक्षानुभव पर विचार किया है और स्वयमेव यह टिप्पणी की है कि 'कुछ भावों में तो ये बातें (उपर्युक्त दो लक्षण) कुछ ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती हैं और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।'[२१] अतएव प्रत्यक्षानुभूति सर्वदा व्यापक रसकोटि में समाविष्ट नहीं हो सकती—यह वे परोक्षतया स्वीकार करते हैं।

'रति'-भाव के विषय में आ० शुक्ल का एक कथन उल्लेखनीय है। वे मानते हैं कि 'गहरी प्रेमानुभूति की दशा में मनुष्य रस-लोक मे ही पहुँचा रहता है।'[२२] स्मरणीय है कि 'रस' शब्द का यह प्रयोग यहाँ सामान्य आनन्द या

---

१९. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०१-०३।
२०. वही, पृ० २०३।
२१. वही, पृ० २००।
२२. वही, पृ० २००।

प्रमोद का वाचक नहीं है, अपितु शास्त्रीय 'रस' का सूचक है। 'रति' स्थायी के संचारियों में उन्होंने रस-दृष्टि से भेद किया है। हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि कतिपय संचारियों का अनुभव रस-कोटि में वे समावेश्य मानते हैं, क्योंकि प्रेमी इनका अनुभव 'बीच-बीच में अपना व्यक्तित्व भूला हुआ करता है।' स्मरणीय है कि रसानुभूति के उपर्युक्त लक्षण-द्वय में प्रमाता द्वारा अपनी सत्ता का अथवा अपने व्यक्तित्व की भावना का परिहार पहला लक्षण बताया गया है। अर्थात् व्यक्तिगत सुख-दुःख की धारणा से मुक्ति 'रस-दशा' का मुख्य व्यवच्छेदक धर्म है। शुक्लजी इस लक्षण को घटाते हुए हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि के अनुभव को रसात्मक मानते हैं, किन्तु अभिलाष, औत्सुक्य इत्यादि दशाओं के अनुभव को 'रस-कोटि के बाहर' बताते हैं क्योंकि उनके मतानुसार, इनकी अनुभूति में 'व्यक्तित्व का सम्बन्ध' अधिकतया एवं 'घनिष्ठतया', 'अन्तःकरण में स्फुट रहेगा।' लेकिन यह 'स्फुटता' न्यूनाधिक हो सकती है। 'अभिलाषा' में 'व्यक्तित्व का सम्बन्ध' जहाँ 'अत्यन्त अल्प या सूक्ष्म' रहता है—'जैसे रूप-अवलोकन मात्र का अभिलाष; प्रिय जहाँ रहे, सुख से रहे, इस बात का अभिलाष' —वहाँ वास्तविक अनुभूति रस के किनारे तक पहुँची हुई होती है।'[२३]

प्रस्तुत कथन के सन्दर्भ में विचारणीय यह है कि हर्ष, विषाद, स्मृति इत्यादि संचारियों का अनुभव क्या सचमुच व्यक्तित्व सम्बन्ध की भावना के परिहार से जुड़ा रहता है जबकि अभिलाष, औत्सुक्य इत्यादि 'दशाएँ' व्यक्तित्व-सम्बन्ध से जुड़ी रहती हैं। 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध में शुक्लजी ने प्रीति अथवा प्रेम का यह वैशिष्ट्य बताया है—'लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख', 'किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है, उसे प्रेम कहते हैं', 'यही एक ऐसा भाव है जिसकी व्यंजना हँस कर भी की जाती है और रोकर भी; जिसके व्यंजक दीर्घ निःश्वास और अश्रु भी होते हैं तथा हर्ष-पुलक और उछल-कूद भी।'[२४]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि शुक्लजी के ही मतानुसार प्रेम मूलतः व्यक्ति-सम्बद्ध भाव है और उसकी व्यंजना सुखात्मक तथा दुःखात्मक, दोनों रूपों में होती है। तब प्रश्न उठता है—क्या प्रेम की कोई प्रतिक्रिया या व्यंजना ऐसी होगी जिसमें प्रेमी वैयक्तिक अनुषंगों से पूर्णतया कटा हो सकेगा? शेक्सपियर ने प्रेमी, पागल तथा कवि को समानधर्मा बताया है—क्योंकि वे तीनों अतिशय कल्पना-प्रवण होते हैं।[२५] उनकी (कम-से-कम प्रेमी और

---

२३. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०१।

२४. वही, पृ० ५५, ६८, ७६।

२५. 'मिड-समर नाइट्स ड्रीम'।

पागल की) घनीभूत, निविड़ कल्पना मूलतः व्यक्तिगत आलम्बनों से ही शृङ्खलित होती है। अतएव प्रेमी की कोई भी अनुभूति, चाहे वह कितनी ही अंतरंग या बहिरंग रूपवाली हो, तत्वतः व्यक्तित्व-परिहार से विशेषित नहीं होगी। उस अनुभूति को व्यक्ति से असम्बद्ध इस कारण भी नहीं कहा जा सकता कि वैसी प्रतिक्रियाएँ अथवा अन्तर्वृत्तियाँ सभी प्रेमियों की समान होती हैं। अभिलाष तथा औत्सुक्य में जितनी व्यक्ति-बद्धता होगी, उतनी ही हर्ष, विषाद आदि में भी। 'गहरी प्रेमानुभूति की दशा में मनुष्य रस-लोक में ही पहुँचा रहता है।' —यह कथन बिल्कुल सही है। लेकिन वह 'रस-लोक' प्रमोद या आनन्द का ही द्योतक है और व्यक्तिगत ही रहता है, सार्वजनीन नहीं। प्रेम-व्यंजना का स्वरूप सार्वभौम वा सार्वलौकिक हो सकता है, होता भी है, किन्तु उसका यह अर्थ कदापि नहीं कि 'व्यक्ति-प्रेमी' अपने प्रेमानुभव में 'व्यक्ति' नहीं रहता, अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से मुक्त हो जाता है।

'अभिलाष' के सम्बन्ध में उल्लेख्य यह है कि शुक्लजी ने उसे हर्ष, विषाद, औत्सुक्य इत्यादि संचारियों के साथ कथित किया है जबकि 'अभिलाष' संचारी नहीं, 'काम-दशाओं' में से एक माना गया है। ये दशाएँ नितान्त वैयक्तिक होती हैं, अर्थात् इनकी अनुभूति व्यक्तित्व-सम्बन्धों से विच्छिन्न नहीं हो सकती। चाहे प्रिय के रूप-दर्शन की अभिलाषा हो, चाहे उसके सामान्य कल्याण की कामना हो, ये सभी दशाएँ व्यक्तित्व से संलग्न होती हैं। ध्यान में रखने का तथ्य यह है कि आ० शुक्ल यहाँ भावों की 'प्रत्यक्षानुभूति' का विवेचन कर रहे हैं, 'काव्यानुभूति' का नहीं। लेकिन इस प्रतिपादन-प्रयास में, जाने-अन-जाने वे 'काव्य-रस' के अपने अनुभवों को प्रत्यक्षानुभूति पर भी घटा देते हैं—यद्यपि उनकी ईमानदारी यह है कि वे व्यक्तित्व-परिहारवाली काव्यगत कसौटी को पहले ही प्रत्यक्षानुभूति की 'रसता' की कसौटी स्वीकार कर चुके हैं। कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि वे अपने प्रतिपाद्य को सिद्ध करने के लिए, व्यक्तित्व-परिहार के निकष पर समस्त लौकिक प्रेमानुभूतियों को घटित कर देते हैं। पुनः जैसे वे काव्य-रस की 'कोटियाँ' मानते हैं, वैसे ही प्रत्यक्षानुभूति के रस की भी श्रेणियाँ मानते प्रतीत होते हैं—'× × × प्रेमानुभूति उतनी ही रस-कोटि के बाहर रहेगी।'—इस कथन की व्यंजना और क्या हो सकती है?

आ० शुक्ल ने बहुत-सी बातें इस प्रसंग में उलझा दी हैं। 'हास' का आलम्बन 'बहुत से लोगों' में एक साथ 'विलक्षण आह्लाद' का जनन करेगा—ऐसा वे कहते हैं। अर्थात् उनके कथनानुसार 'हास' की प्रत्यक्षानुभूति 'रस' कहलायेगा क्योंकि वह आह्लाद व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक होगा, उसमें व्यक्तित्व का संश्लेष नहीं, अपितु विश्लेष होगा। प्रस्तुत कथन उन्होंने 'रति-भाव' के

उपर्युक्त विवेचन के तुरन्त बाद किया है।[२६] तब क्या यह माना जाय कि वे व्यक्तिगत 'रति' के आलम्बन को, 'हास' के आलम्बन के समान, लोक के समक्ष प्रस्तुत कर, यह सत्यापित करना पसन्द करेंगे कि उस रमणीय-दर्शना युवती के प्रति लोगों की कैसी प्रतिक्रियाएँ होती हैं ? वे यह भी कहते हैं कि 'रतिभाव की पूर्ण पुष्टि के लिए कुछ काल अपेक्षित होता है।' अतएव किसी 'अत्यन्त मोहक आलम्बन' के प्रथम दर्शन से 'प्रेम के प्रथम अवयव', 'अच्छा या रमणीय लगना' का उदय 'एक साथ बहुतों के हृदय में' होने की बात यदि स्वीकार कर भी ली जाय, तो भी यह प्रश्न उठता है कि 'रति-भाव' की 'पूर्ण पुष्टि' के लिए जो 'कुछ काल अपेक्षित होता है' क्या 'उतना काल' सभी दर्शकों को उस नव्यांगना-विशेष के प्रसंग में उपलब्ध होगा ? यदि नहीं, तो यह क्योंकर स्थापित किया जा सकता है कि व्यक्तिगत 'रति' का आलम्बन परिपोष के इस अभाव में 'बहुतों के हृदय' को एक-साथ रसविभोर करेगा ? यदि 'उतना काल' सभी को मिल भी जाए, तो भी क्या 'रति' के परिपुष्टी-करण में कोई विघ्न, सबके लिए समानरूपेण उत्पन्न नहीं होगा ? उस मोहक, प्रिय-दर्शना तरुणी का वास्तविक प्रेमी तो अप्रत्याशित अथवा अनाशंकित सभी स्थितियों का साक्षात्कार करता हुआ, रति के प्रकर्ष को उपलब्ध कर लेगा, किन्तु यही बात समस्त रूप-लोभियों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। हम समझते हैं कि हमारी प्रस्तुत तर्कणा 'व्याघात-परिणामी' ('Reductio ad absurdum') समझी जा सकती है, किन्तु आ० शुक्ल के वर्तमान निरूपण की अयुक्तता प्रदर्शित करने के लिए यह आवश्यक थी और उसका विधान तर्कशास्त्र में किया भी गया है।

आ० शुक्ल ने व्यक्तित्व-परिहार के तथ्य को अतिशय महत्त्व दिया है जिसे रसानुभूति (काव्यरसानुभूति) के लिए पुराने आचार्यों ने भी महत्त्वपूर्ण माना है। किन्तु प्रत्यक्षानुभूति की रसवत्ता के प्रतिपादन में शुक्लजी के सामने स्व-भावतः कठिनाई उपस्थित हुई है। उदाहरणतः वे उत्साह, क्रोध प्रभृति भावों के आलम्बन में भी भेद करते हैं, रसात्मकता की दृष्टि से। उनका कथन है कि जो उत्साह (स्थायी) निजी लाभवाले 'विकट कर्म' की ओर प्रवृत्त होगा, वह 'रसात्मक' नहीं होगा। इसी प्रकार किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति उद्बुद्ध क्रोध में, जिसने हमें पीड़ा पहुँचायी है, रसात्मकता नहीं होगी। इसी प्रकार व्यक्तिगत कारणों से जाग्रत शोक भी रसात्मकता नहीं होगा। इसके विपरीत उन्होंने बताया है कि इन भावों के आलम्बन यदि 'लोक' से जुड़े होंगे, तब उनकी अनुभूति रसकोटि में निर्दिष्ट हो जाएगी। आलम्बन के इस द्वैत का

---

२६. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०१।

निरूपण शुक्लजी को इसीलिए करना पड़ा है कि वे इन भावों की प्रत्यक्ष अनुभूति को भी रसकोटि में खींच लाने के लिए संकल्प-बद्ध हैं। उल्लेखनीय है कि काव्य में इन भावों के 'रसीकरण' के विषय में ऐसी कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती।

ध्यातव्य बिन्दु यह है कि काव्यार्पित सभी भाव मूलतः व्यक्तिगत होते हैं क्योंकि उनके आलंबन मूलतः व्यक्तिगत होते हैं। यह भिन्न बात है कि उनके विकास में सार्वजनीनता अथवा सार्वलौकिकता का आयाम जुड़ जाता हो। राम ने रावण पर चढ़ाई की, मूलतः सीता के उद्धार हेतु, अर्थात् व्यक्तिगत कारणों से। उस अभियान में लोक-कल्याण की कामना भी अनुविद्ध थी, यह भिन्न स्थिति है। इसी प्रकार शकुन्तला-विषयिणी दुष्यन्त की रति मूलतः व्यक्तिगत है और 'विभावन'—व्यापार द्वारा साधारणीकृत बन कर, वह, व्यक्ति-संसर्गों से विच्छिन्न हो जाती है। लेकिन प्रत्यक्षानुभूति के प्रसंग में आ० शुक्ल का मूल आलम्बन-ही निर्वैयक्तिक अथवा लोक-मंगल से संलग्न है—इस कारण कि उसे व्यक्तित्व-परिहार के बिन्दु से जोड़ कर, संबंधित भाव की अनुभूति को रसात्मक ठहराना उनका प्राग्-नियोजित अभीष्ट है।

'शोक'-स्थायी और करुणरस—आ० शुक्ल ने अपने पक्ष के स्पष्टीकरण में 'शोक'-स्थायी तथा करुणरस का प्रसंग उठाया है। अपनी इष्ट-हानि या अनिष्ट-प्राप्ति से उत्पन्न दुःख 'शोक' कहलाता है। उनका कथन है कि इस शोक की वास्तविक अनुभूति रसकोटि में नहीं आती क्योंकि वह व्यक्तिगत संबंध से अनुविद्ध रहती है। पर दूसरों की पीड़ा या वेदना से उत्पन्न भाव 'करुणा' है और उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति रसात्मक होगी—ऐसा शुक्लजी का तर्कणा है। वे अतीव सरल ढंग से कहते हैं—"शोक अपनी निज की इष्ट-हानि पर होता है और करुणा दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है। यही दोनों में अन्तर है। इसी अन्तर को लक्ष्य करके काव्यगत पात्र (आश्रय) के शोक की पूर्ण व्यंजना द्वारा उत्पन्न अनुभूति को आचार्यों ने 'शोक-रस' न कह कर 'करुण-रस' कहा है।[२७]

आ० शुक्ल ने इस कथन से ठीक पहले यह दिखाया है कि क्रोध, भय, जुगुप्सा इत्यादि के आलंबन जब निर्वैयक्तिक अथवा लोक-संबद्ध होंगे, तभी उनकी प्रत्यक्षानुभूति रसमयी होगी, क्योंकि वह अनुभूति व्यक्तिगत संबंधों से आविल नहीं रहेगी। 'शोक' और 'करुणा' वाले प्रस्तुत कथन में उन्होंने एक सूक्ष्म 'फैलेसी' उत्पन्न कर दी है। 'शोक' को तो वे करुणरस का स्थायी

---

२७. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०२-०३।

मानते ही हैं। तब जैसे-वे क्रोधादि अप्रीतिकर भावों के संबंध में आलंबन की लोक-संबद्धता पर बल देते हैं, वैसे-ही 'शोक' के आलंबन की लोक-संबद्धता को भी उन्हें उभार में लाना चाहिए था। निज की इष्ट-हानि अथवा अनिष्ट-प्राप्ति के विरोध में वे ईसामसीह के शूली पर लटकाये जाने के लोक-प्रभावी तथ्य को हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर सकते थे—(गाँधी जी की हत्या तो उनके निधनोपरान्त घटित हुई थी—) अथच यह तर्क दे सकते थे कि उस अनुचित, अन्यायपूर्ण घटना से जो शोक की लहर तत्कालीन समाज में फूट पड़ी थी, वह रस कोटि में आती थी या आयी थीं, जबकि अपनी किसी निजी इष्ट-हानि से उत्पन्न 'शोक' रसात्मक नहीं होता। यदि शुक्लजी ने ऐसा किया होता तो उनके प्रतिपादन में कम-से-कम एक संगतिपूर्णता तो रहती।

लेकिन उपर्युक्त विवेचन में शुक्लजी ने पहली तर्क-सरणी को छोड़ कर, 'शोक' के साथ 'करुणा' का झमेला उपस्थित कर दिया है क्योंकि पुराने आचार्यों ने शोक की परिपूर्ण व्यंजना को 'शोक' से भिन्न 'करुण' रस का अभिधान प्रदान किया है। यहाँ सबसे पहली बात तो यही हमारा ध्याना-कर्षण करती है कि पुराने आचार्यों ने काव्य-रस का विवेचन किया है, न कि लौकिक अनुभूतियों का; और यहाँ एक ऐसी स्थापना की पुष्टि में उनका अनुमोदन प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है जो उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। तदनन्तर 'शोक' के विपक्ष में 'करुणा' को लेकर 'शोक' के मौलिक आलंबन की उपेक्षा कर दी गयी है। हमारा अभिप्राय यह है कि 'शोक' की वास्तविक अनुभूति को ही रसमयी निरूपित किया जाना चाहिए था। यदि पुराने आचार्यों की मान्यता मानी जाती है, तो काव्य-वर्णित आश्रय की निजी इष्ट-हानि अथवा अनिष्ट-प्राप्ति को 'करुण' के आलबन, 'दूसरों की दुर्गति या पीडा' से कैसे समीकृत किया जा सकता है? 'फैनैसी' बड़ी सूक्ष्म तथा बारीक है। काव्यार्पित प्रत्येक भाव-चक्र 'व्यक्ति' से संबद्ध होता है और उसके रसीकरण के लिए उसी आश्रय के उसी भाव की चर्चा होनी चाहिए। किन्तु शुक्लजी ने बड़ी चतुराई से अथवा अपने-ही स्थापन-मोह में ग्रस्त होकर अनजाने 'करुणा' का तर्क अपना लिया जिसका 'शोक' से पार्थक्य भी उन्होंने निरूपित कर दिया है। वस्तुतः 'शोक' और 'करुणा' सजातीय भाव-ही हैं क्योंकि दोनों की प्रकृति दुःखात्मक है। रसों के नामकरण में आचार्यों ने प्रमाता में उत्पन्न होनेवाली भाव-दशा को-ही ध्यान में रखा है। काव्य में नायक की निजी इष्ट-हानि अथवा अनिष्ट-संप्राप्ति का चित्रण सहृदयों के भीतर मूलतः 'शोक'-ही उत्पन्न करता है जो समनन्तरमेव 'करुणा' का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। अतएव अन्तिम परिणाम को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने 'शोक' के परिपोष को 'करुण रस' कहा है, न कि इस कारण

कि निजी इष्ट-हानि इत्यादि का पात्र रस-दशा में सहृदयों के लिए, अपने अर्थात्, उस पात्र से भिन्न 'दूसरा' बन जाता है। यदि भवभूति ने करुण-रस को ही रसानुभूति का मूल माना'[२८] तो इसका यह अर्थ कत्तई नहीं कि 'उत्तररामचरित' के नायक राम सहृदयों के लिए, राम से भिन्न कोई 'दूसरे' व्यक्ति हो गये जो हमारी करुणा का आस्पद बन गया। आ० शुक्ल ने 'शोक' के और 'करुणा' के आलंबन में अनावश्यक द्वैत उपस्थापित कर दिया है और एक शास्त्रीय अभिधान-परम्परा की व्यर्थ को खींच-तान अपने अभीष्ट के समर्थन में की है।

प्राकृतिक दृश्यों की प्रत्यक्षानुभूति—आ० शुक्ल ने 'वस्तु-काव्य' अथवा 'विश्व-काव्य' के प्रत्यक्ष अनुशीलन (अवलोकन) से भी इसकी उत्पत्ति मानी है। वहाँ भी उनका निकष वही रहा है, व्यक्तित्व-संबंध का परिहार। लेकिन उनके निरूपण की दुर्बलता यह है कि वे सदैव प्रकृति के रमणीय रूपों या व्यापारों को-ही विचारार्थ लेते हैं जिनके सौन्दर्य अथवा माधुर्य के आस्वादन में सचमुच प्रमाता अपने को भूल जाता है, अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के 'संकुचित मण्डल' से ऊपर उठ जाता और सच्ची 'हृदय-मुक्ति' की अवस्था को उपलब्ध कर लेता है। लेकिन प्रकृति के भीम-भैरव रूपों अथवा व्यापारों के संबंध में क्या ऐसी हृदय-मुक्ति वाली रस-दशा प्रमाता में उत्पन्न होगी ?

उदाहरणतः निर्जन प्रदेश में तिमिरावृत्त रजनी में मेघों की गड़गड़ाहट और चपला की लपलपाती चमक के प्राकृतिक व्यापार को लें। यह व्यापार निश्चिततया सर्वसाधारण लोगों में भय का संचार करेगा। वह एक-ही नहीं, अनेक का आलंबन हो सकता है और प्रत्येक दशा में उसमें उत्पन्न प्रतिक्रिया भय-ही रहेगी और भय की अनुभूति इतनी गहरी तथा घनी होगी कि वह द्रष्टा की अन्तश्चेतना को पूर्णतः आच्छन्न कर लेगी। किन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि द्रष्टा अथवा द्रष्टा-समूह के प्रत्येक सदस्य के मन में उसके निजी 'योग-क्षेम' अथवा लाभ-हानि की भावना का प्रादुर्भाव नहीं होगा ? तात्पर्य यह है कि ऐसी प्रत्यक्षानुभूति व्यक्तिगत अनिष्ट की आशंका से लिपटी रहेगी और तब व्यक्तित्व-परिहारवाली रसानुभूति कैसे उत्पन्न हो सकेगी ?

वास्तविकता यह है कि प्रत्यक्षानुभूति की रसात्मकता मानने में तात्त्विक कठिनाई है, और आ० शुक्ल का यह प्रयास सुचिन्तित एवम् सुव्यवस्थित नहीं है। व्यक्तित्व-भावना का परिहार काव्य-रस में-ही प्रसक्त होता है, प्रत्यक्षानुभूति में नहीं।

---

२८. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०३।

विशुद्ध स्मृति अथवा प्रत्यभिज्ञान की रसात्मकता—आ० शुक्ल प्रत्यक्षानुभूति के समान 'स्मरण' में भी रसानुभूति मानते हैं। ऐसे रसात्मक स्मरणों को वे मूलतः रति, हास तथा करुणा से संबद्ध बताते हैं। सामान्य अर्थ में हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि ये स्मरण प्रायः रसात्मक अथवा आनन्दमय होते हैं। किन्तु हमारी कठिनाई तब फिर उत्पन्न होती है जब शुक्लजी इन स्मरणों की रसात्मकता सिद्ध करने के लिए भी 'आलंबन' के 'केवल हमारी-ही व्यक्तिगत भाव-सत्ता से' नहीं, अपितु 'सम्पूर्ण नर-जीवन की भाव-सत्ता से सम्बद्ध' होने की बात करते हैं।[२९] स्पष्ट है कि (विशुद्ध) स्मृति का ऐसा भाव-विभोर करनेवाला आलंबन, जिससे कोई व्यक्तिगत अनुषंग नहीं लिपटा हो, बिरला-ही उपपन्न होगा।

प्रत्यभिज्ञान में भी शुक्लजी 'रस-संचार की बड़ी गहरी शक्ति' होने का कथन करते हैं।[३०] उनकी धारणा है कि '× × × प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा में मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं में-ही रमा रहता है, अपने व्यक्तित्व को पीछे डाले रहता है।' इस कथन के उत्तरार्ध की सत्यता में गहन सन्देह का अवकाश है और इसी कारण प्रत्यभिज्ञान की तात्त्विक रसवत्ता प्रमाणित नहीं की जा सकती।

मनोरंजक तथ्य यह है कि शुक्लजी ने प्रत्यभिज्ञान की रसमयता के प्रमाण में 'काव्य' से उद्धरण दिये हैं और 'काव्य' में प्रत्यभिज्ञान के चित्रण से जो रमणीयता उत्पन्न हो जाती है, उसे उन्होंने लौकिक प्रत्यभिज्ञा के पक्ष में ग्रहण कर लिया है। विवक्षा यह है कि वास्तविक प्रत्यभिज्ञा और काव्य-वर्णित प्रत्यभिज्ञा में अन्तर होता है। 'मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर'—आ० शुक्ल द्वारा उद्धृत इस पंक्ति में वर्णित प्रत्यभिज्ञा सचमुच रसमयी है, लेकिन इससे यह प्रमाणित करना कि लौकिक प्रत्यभिज्ञा भी रसात्मक होगी, युक्तिसंगत नहीं है। 'व्यक्तित्व को पीछे डाल' देने का जो कथन उन्होंने अभी किया है, वह स्थिति वास्तविक प्रत्यभिज्ञा में उपपन्न होगी, यह विवादास्पद प्रश्न है।

स्मृत्याभास कल्पना की रमणीयता—शुक्ल जी ने 'रसात्मक स्मरण और रसात्मक प्रत्यभिज्ञान' का निरूपण करने के अनंतर उस कल्पना पर विचार किया है जो 'स्मृति या प्रत्यभिज्ञान का सा रूप धारण करके प्रवृत्त होती है।' इस कल्पना के अभ्यास का आधार या-तो 'आप्त शब्द' (इतिहास) होता है अथवा 'शुद्ध अनुमान।'[३१]

---

२९. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०५।
३०. वही, पृ० २०५।
३१. वही, पृ० २०७।

शुक्लजी ने पहला आधार लेकर बताया है कि ऐतिहासिक महत्त्व के नगरों में अथवा स्थलों पर जाने से भावुक व्यक्ति, यदि उसे इतिहास का ज्ञान है, पुरानी घटनाओं की सप्राण स्मृतियों से चंचल हो उठता है और वह अनुभव रसात्मक होता है। इसी प्रकार अनुमान पर आश्रित कल्पना भी कभी-कभी अपरिचित खंडहरों पर पहुँचने से व्यक्ति के मानस-पटल पर पुरानी संभावित घटनाओं की छापें अंकित कर देती है, यथा, 'यह वही स्थान है जहाँ कभी मित्रों की मंडली जमती थी, रमणियों का हास-विलास होता था, इत्यादि।' कुछ चिह्न पाकर यह कल्पना केवल अनुमान के सहारे 'रूपों और व्यापारों की योजना में तत्पर' हो जाती है। शुक्लजी के कथनानुसार, यह योजना रसात्मक होती है क्योंकि उन रूपों या व्यापारों का हमारे 'व्यक्तिगत योग-क्षेम से कोई संबंध' नहीं होता। उन्होंने 'अतीत जीवन' के विषय में इतिहास के आधार पर नाना मनोरम घटनाओं तथा दृश्यों के कल्पना-चित्र प्रस्तुत किये हैं और उन्हें रसात्मक ठहराया है।[३२]

इस संदर्भ में हमें यह कहना है कि आ० शुक्ल ने 'काव्य-रस' को काव्य से व्यतिरिक्त, लौकिक या प्रत्यक्षाश्रित अनुभवों में घटाने का जो भगीरथ-प्रयास किया है, वह उद्भावनापूर्ण होने के बावजूद कच्ची भित्ति पर अवलंबित है। वास्तव में उन्होंने अपने-ही कल्पना-प्रवण व्यक्तित्व को सामान्य सहृदयों के ऊपर आरोपित कर दिया है और यह निश्चय कर लिया है कि अतीत के खंडहरों आदि के साक्षात्कार से जैसे उनके भावुक हृदय में रसात्मक भावों का संचार होता है, वैसे-ही सभी सहृदयों के मानस में भी होता होगा अथवा होना चाहिए। शुक्लजी यहाँ स्वयं लोक-सामान्यता का तथ्य बारंबार उजागर करने के बावजूद एक अलोकसामान्य मनःस्थिति की वकालत करने लगे हैं।

दिनकर की 'हिमालय के प्रति' कविता पढ़कर जो भावोद्रेक हममें होता है, वह 'नगाधिराज' हिमालय के प्रकृत दर्शन से नहीं। मनोरंजन प्रसाद सिंह की कविता 'वैशाली के आँगन में' के अनुशीलन से वैशाली के अतीत गौरव की जो भावना हमें अनुप्राणित करने लगती है, वह वर्तमान वैशाली के प्रान्त में जाने से उसी निविड़ता तथा शक्तिमत्ता से नहीं उत्पन्न होती। और-तो-और, ताजमहल के प्रकृत सामीप्य में हमारे भीतर प्रणय-भाव की गहराई को वह सघन-सान्द्र अनुभूति नहीं उत्पन्न होती जो कवीन्द्र-रवीन्द्र की ताजमहल-विषयक कविता की निम्नस्थ पंक्तियों के पठन से —

'एक कथा जानिते तुमि,
भारत-ईश्वर सा-जहाँन !

---

३२. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०८-१२।

काल-स्रोते भेसे जाय,
जीवन यौवन धन मान।
शुधु तव अन्तर-वेदना,
चिरन्तन हुए थाके सम्राटेर
छिल ए साधना।
राज-शक्ति बज्र सुकठिन
संध्याराग सम तन्द्रातले
द्वय हरेक लीन
केवल एकीट दीर्घश्वास
नित्य उच्छ्वसित हुए,
सकरुण करुण आकाश
एइ तव मने छिल आस।'

वास्तविकता यह है कि 'स्मृत्याभास कल्पना' प्रकृति जीवन में जो 'रूप-विधान' हमारे अन्तःकरण में उत्पन्न करती है, उनके उत्तेजन 'स्टिमुलाई' सुनी-सुनायी किंवदन्ती अथवा ऐतिहासिक इतिवृत्त से जुड़े होने के कारण प्रायः दुर्बल होते हैं। इसके विपरीत काव्य में जो वस्तु-बिम्ब निबद्ध रहते हैं, उनका उत्तेजन सघन तथा शक्तिमान् होता है। 'रस-निष्पत्ति' की व्याख्या करनेवाले श्री शंकुक जैसे आचार्यों ने 'काव्यबल' अथवा 'वस्तुसौन्दर्यबल' का जो कथन किया है[३३] उसके मूल में परोक्षतया यह स्वीकृति सन्निहित है कि काव्यचित्रित वस्तु से प्राप्त उत्तेजन तीव्र, सान्द्र तथा लोकातिशायी होते हैं। रसानुभूति अथवा शुक्लजी की 'हृदयमुक्ति' वाली 'रसदशा' उत्पन्न करने में काव्यचित्रणों का यही लोकातिशायी स्वरूप कारणभूत होता है। 'बिम्बग्रहण' कराने में आपाततः अनलंकृत 'संश्लिष्ट' चित्रण, जिसकी प्रशंसा उन्होंने की है[३४] वह भी अपनी वस्तुनिष्ठता में ही लोकातिशायी होता है—आचार्य इसे स्वीकार करें या नहीं। 'रसात्मक बोध के विविध रूपों' का जो निरूपण उन्होंने मनोयोगपूर्वक किया है, उसमें उनकी व्यक्तिगत मान्यताएँ पांडित्य के अपूर्व समारोह के साथ प्रतिपन्न हुई हैं। किन्तु उनके तर्क 'तर्काभास' बन गये हैं।

लौकिक अनुभूतियों में रसात्मकता नहीं—सबसे मौलिक प्रश्न इस प्रसंग

---

३३. 'विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः।' (अभिनव भारती)
'अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः' इत्यादि। (काव्यप्रकाश)

३४. दे० चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० ११६, ११८, १८४ इत्यादि।

में यह उपस्थित होता है कि रसात्मक प्रतीति के इन विविध रूपों का जो उद्-घाटन शुक्लजी ने किया है, उसका काव्यानुशीलन की दृष्टि से क्या महत्व है ? वस्तुत: 'रस' की भावना तो उन्हें काव्य से ही मिली और अतिशय भावुक होने के कारण उन्हें प्रकृति के रमणीय साम्राज्य में, ऐतिहासिक ध्वसावशेषों में तथा कल्पना के ललित अभ्यास में भी रसमयता की प्रतीति हुई जिसे उन्होंने सिद्धान्त का गौरव प्रदान किया। तथापि प्रश्न रह-ही जाता है : इस सम्पूर्ण मानसिक व्यायाम से सामान्य सहृदयों की काव्य-मर्मज्ञता में कौन-से नये आयाम जुड़े, काव्यरस के हृदयंगमीकरण में सहृदयों की संवेदनशील चेतना का कौन-सा नवीन स्तर उन्मीलित हुआ ? यह प्रश्न अनुत्तरित-ही रह जायेगा। आखिर, प्राक्तन आचार्यों ने कुछ सोच-समझ कर-ही तो, लौकिक अनुभूतियों में रसत्व का अपलाप किया था—'तदा हि लौकिक-चित्रवृत्त्यनुमाने का रसता। तेनालौकिक-चमत्कारात्मा रसास्वाद: स्मृति-अनुमान-लौकिक-स्वसंवेदन-विलक्षण एव।'[३५]

अभिनवगुप्त ने यहाँ ध्यातव्य है, 'काव्यरस' को स्मृति, अनुमान तथा लौकिक प्रत्यक्षादि से विलक्षण बताया है और यह अद्भुत सयोग है कि उन्होंने मानो आ० शुक्ल का पूर्वाभास पाकर पहले-ही यह घोषित कर दिया कि लौकिक चित्तवृत्तियों के अनुमान में रसता नहीं होती –'लौकिक चित्त-वृत्यनुमाने का रसता ?'

रसानुभूति का स्वभाव—अब एक-ही प्रश्न रह जाता है कि आचार्य शुक्ल की दृष्टि में रसानुभूति का क्या स्वभाव स्थिर होता है ? यहाँ सबसे पहले यह तथ्य ध्यानाकर्षण करता है कि उन्होने भट्टनायक अथवा अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों के रस से संलग्न 'भोग' या 'आस्वाद' पक्ष की एकान्त उपेक्षा की है। 'रस-दशा', 'रसानुभूति', 'रसमयता', 'रसात्मक-बोध' प्रभृति संज्ञाओं का-ही उन्होंने प्रयोग किया है जो उनकी प्रिय 'हृदय की मुक्तावस्था' से संलग्न है। 'भोग', 'आस्वादन', 'चर्वणा', 'स्वप्रकाशता', 'विश्रान्ति' प्रभृति जो अभिधाएँ क्लैसिकल रसनिरूपण में उपलब्ध होती हैं, उनका सम्भवत: एकांत अभाव उनके रस-चिन्तन को व्यवच्छेदित करता है। वैसे-ही 'चमत्कार' तथा 'लोकोत्तर' अथवा 'अनिर्वचनीय' जैसी संज्ञाओं से भी उन्हें सामान्यत: चिढ़ है, यद्यपि 'चमत्कार' तत्त्व का वे एक एकान्त बहिष्कार नहीं करते।

रस की सैद्धान्तिक 'आनन्दमयता' में उन्हें विश्वास नहीं है। भाव की सान्द्र, हृदय पर अधिकार करनेवाली अनुभूति को वे 'रसमयी' बताते हैं। यद्यपि उन्होने कहीं स्पष्ट नहीं कहा, जैसे जैनाचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि ने

३५. हिन्दी अभिनव-भारती, पृ० ४८५।

कहा है कि रस की प्रकृति तत्तत् भावों के अनुसार सुखात्मक-दुःखात्मक अर्थात् उभयात्मक होती है, तथापि वे मानते ऐसा ही हैं। क्रोध, भय, शोक, जुगुप्सा आदि भावों की 'वास्तविक अनुभूति' जैसे दुःखात्मक होती है, वैसे ही काव्य में चित्रित होने पर भी शुक्ल जी के मतानुसार उनकी प्रकृति वैसी ही बनी रहती है। 'विभावत्व' (विभावन-व्यापार) उनके स्वरूप का हरण कर, उन्हें 'सुखकर स्वरूप' नहीं प्रदान करता।

आ० शुक्ल की एतद्विषयक मान्यता इस उद्धरण से स्फटिकवत् झलक उठती है—'क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन माँगना देख-सुनकर आँसू नहीं आ जाते, दाँत निकल पड़ते हैं? क्या महमूद के अत्याचारों का वर्णन पढ़कर यह जी में नहीं आता कि वह सामने आता तो उसे कच्चा खा जाते? ××× 'चित्त का यह द्रुत होना' क्या आनन्दगत है? इस 'आनन्द' शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—इसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।'[३६]

प्रस्तुत उद्धरण से साफ हो जाता है कि आ० शुक्ल भावों की प्रत्यक्षानुभूति की प्रकृति के समानान्तर, इनके काव्यगत स्वरूप की प्रकृति को भी सुखात्मक अथवा दुःखात्मक मानते हैं। इस उद्धरण से यह भी प्रतीत होता है कि उन्होंने काव्य का लक्ष्य 'आनन्द' मानने के अविचारित साहित्यिक 'फैशन' की तीव्र प्रतिक्रिया में ही उक्त बातें कही हैं। 'आनन्द' पर उनका स्वस्थ विमर्श रसात्मक बोध के विविध रूपों के निरूपण के दौरान सामने आया है—यद्यपि वहाँ भी वह ('आनन्द' शब्द) उन्हें 'कुछ गड़बड़ डालता दिखाई' पड़ता है।

'आनन्द' शब्द को वे 'व्यक्तिगत सुख-भोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना' पसन्द नहीं करते। स्मरणीय है कि पुराने आचार्यों ने भी 'आनन्द' को इस व्यक्तिगत सीमित अर्थ में ग्रहण नहीं किया है, यद्यपि यह सही है कि उनकी विचारणा में काव्यानन्द या रसानन्द, 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' होने के कारण क्लेश अथवा संताप आदि उद्वेगकर प्रतीतियों स सर्वथा अतीत है। आ० शुक्ल ने प्राचीनों के करुण-प्रधान नाटकों में आस्वादन-विषयक इस सरल तर्कण का अपलाप किया है कि 'आनन्द मे भी तो आँसू आते हैं।' स्वस्थ भाव से, तथापि उन्होंने आनन्द-विषयक जा कथन किया है, वही उनकी सही मान्यता प्रतिबिम्बित करता है–'उसका (आनन्द का) अर्थ में हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना-ही उपयुक्त समझता हूँ। ×× (करुण-प्रसंग में) दर्शक वास्तव में दुःख-ही का अनुभव करता है। हृदय के मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।'[३७]

---

३६. रस-मीमांसा, पृ० १०१।

३७. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०२।

सुतराम्, आ० शुक्ल की मान्यता में सुख की अनुभूति भी रसात्मक, दुःख की अनुभूति भी रसात्मक होती है और हृदय की, उसकी मुक्त दशा में अनुभव करने की क्रिया-ही 'आनन्द' है। शुक्ल जी ने पहले ही कहा है कि 'हृदय की मुक्तावस्था' 'रस-दशा' है। अतएव यह स्थापना युक्ति-विहीन नहीं होगी कि शुक्ल जी 'आनन्द' को 'रस' का पर्याय मानते हैं। यह प्रतिपत्ति स्पष्टतया उन्हें क्लैसिकल शास्त्रीय चिन्तन-धारा से पृथक् स्थापित कर देती है।

रस की व्यंग्यता का अपलाप—आ० शुक्ल ने रसानुभूति के संदर्भ में व्यंजना पर भी विचार किया है। भाषा का प्रधान कार्य है अर्थ का बोध कराना। इस विषय में ध्यातव्य है कि अर्थ की 'योग्यता' एवम् 'उपपन्नता' अर्थात् प्रकरण-संबद्धता की बात आती है। जहाँ वाच्यार्थ अयोग्य, अनुपपन्न अथवा प्रकरण-संबद्ध नहीं दिखायी पड़ता, वहाँ अभिधा को अतिक्रान्त कर 'लक्षणा' या 'व्यंजना' शक्तियों से 'योग्य' अर्थ की खोज करनी पड़ती है। 'अयोग्य और अनुपपन्न वाच्यार्थ ही लक्षणा या व्यंजना द्वारा योग्य और बुद्धि-ग्राह्य रूप में परिणत होकर हमारे सामने आता है'—ऐसा शुक्लजी का कथन है।[३८]

उन्होंने 'व्यंजना' के दो प्रकार माने हैं: 'वस्तु व्यंजना' और 'भाव-व्यंजना'। किसी 'तथ्य' या 'वृत्त' की व्यंजना वस्तु-व्यंजना है और किसी भाव की व्यंजना भाव-व्यंजना है। भाव-व्यंजना ही रस के अवयवों से संयुक्त होने पर 'रस-व्यंजना' कहलाती है। 'ध्वनि' के विविध प्रकारों में यहाँ उन्होंने 'अलंकार-ध्वनि' को छोड़कर केवल 'वस्तु-ध्वनि' और 'रस-ध्वनि' पर ही विमर्श किया है। व्यंजना ध्वनि ही है।

वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना में उन्होंने भेद किया है जो महत्वपूर्ण है। वस्तु-व्यंजना का काम बोध या ज्ञान कराना है क्योंकि उससे किसी तथ्य या वृत्त का बोधन होता है। इसके विपरीत भाव-व्यंजना जिस रूप में वह मानी गयी है, 'उस रूप में किसी भाव का संचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटि की क्रियाएँ हैं।'[३९] भाव जगाने को ही शुक्लजी 'भाव की अनुभूति उत्पन्न' करना कहते हैं।

इस प्रसंग में, वे साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों में वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना के बीच किये गये अन्तर की अपूर्णता का निर्देश' करते हैं—'एक में (वस्तु-व्यंजना में) वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ पर आने का पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठक

---

३८. रस-मीमांसा, पृ० ३८६-४०० ।

३९. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १७९ ।

को लक्षित होता है, दूसरी में (भाव-व्यंजना में) यह क्रम होने पर भी लक्षित नहीं होता।'[४०] यहाँ पर उन्होंने अभिधामूलक (विवक्षितान्य-पर-वाच्य) ध्वनि के 'संलक्ष्यक्रम' तथा 'असंलक्ष्यक्रम' नामक दो भेदों का ही परोक्षत्वेन निर्देश किया है। वस्तु-ध्वनि में वाच्यार्थ से प्रतीयमान तक संक्रमण की प्रक्रिया लक्षित होती है, अतः 'संलक्ष्यक्रम' कही गयी है। रस-ध्वनि (जिसमें भाव-ध्वनि या भाव-व्यंजना गृहीत है) में यह क्रम आसानी से लक्षित नहीं होता, जिस कारण उसे 'असंलक्ष्यक्रम' कहा गया है। उसमें भी वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ तक संक्रमण करने में क्रम होता है, किन्तु वह इतना त्वरित होता है कि उसका बोध नहीं हो पाता। इसे ही पंडितराज जैसे आचार्यों ने 'सूची-शतपत्र-पत्रशत-वेधन्याय' का प्रतिफलन बताया है जिसमें कमल की सौ पंखुड़ियों के सूई से बेधे जाने का दृष्टान्त दिया जाता है। पंखुड़ियाँ इतनी कोमल होती हैं कि एक के बाद एक सूई से बिंधती चली जाती हैं, किन्तु उनके बिंधने में किसी क्रम का ज्ञान नहीं होता। रस-ध्वनि में वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ की अवगति इसी प्रकार स्वाभाविक रीति से होती है। भाव-ध्वनि रस-ध्वनि का-ही एक प्रकार या पर्याय है जैसा शुक्लजी स्वयं परोक्षतया मानते हैं।

वे अपना कथ्य और भी स्पष्ट करते हैं—"रति, क्रोध आदि भावों का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नही है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यंग्य कोई अर्थ होगा, तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप में होगा कि अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है। पर केवल इस बात का ज्ञान करना कि अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है, स्वयं क्रोध या रति-भाव का रसात्मक अनुभव नहीं है।× × × अतः भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना वस्तु-व्यंजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति है।"[४१] इस सन्दर्भ में वे 'व्यक्ति-विवेक' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ के रचयिता महिम भट्ट की चर्चा करते हैं जिन्होंने 'व्यंजना' शक्ति को उच्छिन्न कर 'अनुमानवाद' की स्थापना का प्रयास किया है। शुक्लजी वस्तु-व्यंजना के सम्बन्ध में तो 'अनुमान' को स्वीकार करते हैं, किन्तु रस-व्यंजना के प्रसंग में जहाँ 'आस्वाद-पदवी' तक पहुँचना आवश्यक है, वे 'अनुमान' को अस्वीकार करते हैं और रस को अनुमेय नहीं मानते। उन्होंने अन्यत्र 'व्यंजना' का स्थापन भी किया है।[४२] तथापि रस या भाव के प्रसंग में 'व्यंजना' पद का प्रयोग वे समीचीन नहीं समझते और उसे वस्तु-व्यंजना तक ही सीमित रखना चाहते हैं। अतः उनकी विचार-पद्धति में रस न अनुमेय है, न व्यंग्य है।

---

४०. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १७८।

४१. वही, पृ० १७६।

४२. रस-मीमांसा, पृ० ४०१-४१४।

यहाँ आ० शुक्ल ने एक बड़े महत्व का प्रश्न उठाया है। रस (या भाव) अनुमिति या आस्वाद का विषय है। यह आस्वाद सहृदय या सामाजिक करता है। तब उसके (अनुभविता के) विषय में 'व्यंजना' या 'व्यंग्यता' की बात अटपटी प्रतीत होती है। वह तो केवल भाव का अनुभव या आस्वादन करता है। वाच्यार्थ की प्रतीति के बाद अलक्ष्यक्रम से वह कविता या अभिनय की भाषा में उलझता हुआ प्रस्तुत भाव या रस की अनुभूति करता है। उसे इससे क्या प्रयोजन कि किस शब्द-वृत्ति से यह आस्वादन सुलभ हो रहा है? वास्तव में भट्टनायक ने 'भावकत्व' (साधारणीकरण) के बाद 'भोजकत्व' की जो बात कही थी वह अपेक्षाकृत अधिक युक्तिपूर्ण थी। अभिनवगुप्त ने रसानुभव में 'व्यंजना' को मूर्धाभिषिक्त बता कर, प्रश्न में व्यर्थ की उलझन उत्पन्न कर दी है। व्यंजना रसानुभूति का शास्त्रीय पक्ष है, व्यावहारिक नहीं। अर्थात् तटस्थ चिन्तक या तार्किक ही जानते हैं कि आस्वाद के पहले का योग्य तथा उत्पन्न अर्थ 'व्यंजना' से उपलब्ध है। लेकिन जो सहृदय अभिनय देखते समय अथवा काव्य का अध्ययन करते समय रसानुभव प्राप्त करता है, उसे यह सोचने-समझने का कहाँ मानसिक अवकाश है कि किस शब्द-शक्ति ने रस-दशा तक पहुँचने में उसकी सहायता की है? बाद के विश्लेषण में उसे इस वृत्ति का बोध हो सकता है जब वह रस-दशा को उलंघित कर गया हो। रसास्वाद के काल में उसे तर्क-विमर्श करने का अवसर उपपन्न ही नहीं होता। शास्त्रों में जो भाव-व्यंजना मानी गयी है, वह, जैसा शुक्लजी कहते हैं…… किसी भाव का संचार अथवा उसकी अनुभूति उत्पन्न करने की द्योतक है। यह व्यवस्था स्पष्ट ही सहृदय-दृष्टि से मानवीय नहीं कही जायेगी।

विश्वनाथ ने उपर्युक्त आपत्ति का आभास पा कर ही प्रकृति रसानुभूति में सहृदय-पक्ष से व्यंजना का नाम नहीं लिया है। यद्यपि शास्त्रीय धरातल पर वे रस की व्यंग्यता स्वीकार करते हैं। यहाँ उल्लेख्य है कि उन्होंने विभावादिकों के 'विभावन' (साधारणीकरण) व्यापार की चर्चा करते समय, 'विभावनादि' पद का प्रयोग किया है—'विभावनादि-व्यापारम् अलौकिकम् उपेयुषाम् × ×।' इस प्रसंग में 'आदि' को स्पष्ट करते हुए, वे कहते हैं कि उसमें 'अनुभावन' तथा 'संचारण' की स्थितियाँ भी सम्मिलित है। अर्थात् रसास्वाद में साधारणीकरण के अतिरिक्त उसके साथ-साथ सम्पद्यमान दो अन्य सूक्ष्म-वरण भी उन्होंने स्वीकार किये हैं। लक्षणीय यह है कि इस प्रक्रिया में वे 'व्यंजना' का कहीं उल्लेख नहीं करते। 'विभावन' का नव-परिभाषण करते हुए वे उसे रत्यादि स्थायीभावों को आस्वाद के अंकुरण-योग्य बनाना बताते हैं—'तत्र विभावनं रत्यादे; विशेषेणास्वाद-अङ्कुरण-योग्यतानयनम्।' इस प्रकार

स्थायीभाव, साधारणीभूत होने के बाद आस्वाद्यमान बनने की योग्यता अर्जित कर लेता है। उसके तत्काल बाद 'अनुभावन' व्यापार घटित होता है जो उस रत्यादि को रसरूप में परिणत कर देता है—'अनुभावनम् एवम्भूतस्य रत्यादेः, समनन्तरमेव रसादि-रूपतया भावनम्।' इस दूसरे व्यापार के झटिति बाद 'संचारण' नामक व्यापार घटित होता है जिससे सुसम्पन्न रति आदि भाव सहृदयों के हृदय में भली-भांति संचरित हो जाता है—'सञ्चारणं तथाभूतस्य एव तस्य सम्यक्-चारणम्।'[४३]

इस संबंध में यह ध्यातव्य है कि विश्वनाथ 'साधारणीकरण' के साथ-ही सहृदय में रसास्वाद उत्पन्न कर देते हैं और उसमें 'व्यंजना' का कोई कर्तृत्व नहीं उत्कीर्ण करते। अतः आ० शुक्ल अचेतन या सचेतन भाव से विश्वनाथ से अनुप्राणित प्रतीत होते हैं, यद्यपि हम रस-प्रसंग में व्यंजना के अपलाप को उनके स्वतंत्र विचारण का प्रतिफलन मानते हैं।

पंडितराज के नव्य निजी मत में भी रसानुभूति-संदर्भ में 'व्यंजना' उपेक्षित बन गयी है। उस मत में व्यंजना-वृत्ति का इतना-ही महत्व माना गया है कि विभावादिकों के ज्ञान के अनन्तर, व्यंजना के द्वारा हमें दुष्यन्त में रहनेवाली शकुन्तला-विषयिणी रति का ज्ञान होता है—'दुष्यन्तः शकुन्तला-विषयक-रतिमान्।' इसके पश्चात् व्यंजना का कार्य समाप्त हो जाता है और 'सहृदयता' हमारे भीतर एक प्रकार की 'भावना' उत्पन्न करती है, अर्थात् सहृदयतावशात् हम दुष्यन्तादि के विषय में पुनः-पुनः अनुसंधान करने लगते हैं। इस 'भावना' से हमारी अन्तरात्मा कल्पित 'दुष्यन्तत्व' से आच्छादित हो जाती है। अर्थात् हम समझने लगते हैं कि 'मैं ही दुष्यन्त हूँ' और इस प्रकार भ्रम में मग्न हमें रसानुभूति होती है। यह 'भावना' एक दोष है जो रसानुभव का एक आवश्यक अंग अथवा कारण है। इस प्रकार जगन्नाथ ने कहा है कि रस वस्तुतः न 'व्यंग्य' है, न 'वर्णनीय' है, यद्यपि उपचारतः ऐसा कहा जाता है।[४४]

आ० शुक्ल ने 'व्यंग्यता' की बात का और भी स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि अभिधा और लक्षणा पूर्व-सिद्ध अर्थात् विद्यमान वस्तुओं का बोधन कराती हैं, किन्तु व्यंजित होने से पूर्व रस की सत्ता नहीं रहती। 'रस वस्तुतः आस्वाद या आनंद की अनुभूति है जो श्रोता के मन में प्रकट होती है और व्यक्त होने के पूर्व इसका कोई अस्तित्व नहीं होता।'[४५] वे

४३. साहित्य-दर्पण (मोतीलाल), पृ० ५५।

४४. हिन्दी रसगंगाधर, प्रथम आनन (चौखंबा), पृ० ११०-१२।

४५. रस-मीमांसा, पृ० ४०५।

'व्यंजना' का शाब्दिक अर्थ 'प्रकट करना' या 'प्रकाशन' बताकर यह कहते हैं कि 'श्रोता के मन में प्रसुप्त भाव का प्रकाश रस के रूप में होता है। इसलिए 'प्रकट करना' का अर्थ होगा केवल अनुभूति उत्पन्न करना। × × × वस्तुतः रस उत्पन्न होता है, ज्ञात नहीं कराया जाता।[४६]

इस प्रकार शुक्लजी रस की व्यंग्यता का प्रत्याख्यान कर उसे 'उत्पाद्य' बताते हैं। वे प्राचीन आचार्यों (अभिनव, मम्मटादि) की इस मान्यता को परोक्षत्वेन अस्वीकार करते हैं कि रस न तो 'ज्ञाप्य' है और न 'कार्य' है। 'रस उत्पन्न होता है'— ऐसा कथन कर, वे रस की 'कार्यता' का उद्घोष करते हैं। उनके मतानुसार, व्यंजना यदि किसी तथ्य की व्यंजना करती है, तो यही कि 'व्यंजित भाव की श्रोता या दर्शक के द्वारा रस-रूप में अनुभूति होती है। इस प्रकार 'रस' व्यंजना के द्वारा उत्पन्न होता है।'[४७]

यहाँ प्रारंभ में रसानुभव में व्यंजना के कर्तृत्व की अवहेलना करते हुए भी शुक्लजी व्यंजना से पिण्ड नहीं छुड़ा सके हैं अथवा यह कहना शायद अधिक संगत होगा कि वे भी विश्वनाथ की तरह शास्त्रीय पक्ष में-ही 'व्यजना' का महत्त्व स्वीकार करते हैं। रस के 'कार्यत्व' के संबंध में प्राचीनों द्वारा जो आपत्ति उठायी गयी है, उसका आधार नैयायिको की यह मान्यता है कि 'युगपत् ज्ञान' संभव नहीं है, अर्थात् एक-ही साथ दो प्रकार के ज्ञान का जनन नहीं हो सकता। किन्तु जैसा शुक्लजी स्वयं मानते हैं, प्राचीन साहित्यशास्त्री रस को ज्ञान तथा प्रतीति दोनों कहते हैं। अपनी प्रसिद्ध कारिकाओं की वृत्ति में विश्वनाथ ने कहा है कि 'रस में रस्यमानता-ही सार-रूप है, अतः रस प्रकाश-शरीर (ज्ञान-रूप) से अन्य नही है।[४८]

अर्थात् प्राचीनों के सम्मुख रस की ज्ञानस्वरूपता एवम् रस्यमानता (अनुभूति) में कोई द्वैत था-ही नहीं। अतएव ज्ञान और अनुभूति को दो भिन्न मानसिक क्रियाएँ बता कर उनके द्वैत का समाधान आधुनिक मनो-विज्ञान की इस स्थापना में खोजना बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है कि 'भाव' ज्ञान, अनुभूति और संकल्प का संश्लेष है।'[४९] भाव चर्व्यमाण होकर 'रस' पदवी प्राप्त करता है, अतः भाव का ज्ञान तथा आस्वादन एक-साथ होता है। अर्थात् रस एक-साथ ही ज्ञानस्वरूप तथा आस्वाद्यमान है।

---

४६. रस-मीमांसा, पृ० ४०८।

४७. वही, पृ० ४०६।

४८. 'रस्यमानता-मात्र-सारत्वात् प्रकाशशरीरात् अन्य एव हि रसः।'
'साहित्यदर्पण' में यह वृत्ति कारिकाओं ३/२-३ से संबद्ध है।

४९. रस-मीमांसा, पृ० ४०६।

वर्तमान प्रसंग में आ० शुक्ल ने एक टिप्पणी की है जिसका उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। वे कहते हैं—'भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नहीं होता।'[५०] यह कथन उलझन उत्पन्न करता है। क्या वे यह मानते हैं कि श्रोता या दर्शक के भीतर भाव नहीं विद्यमान रहता, केवल उसके द्वारा रस की-ही अनुभूति की जाती है? आभास ऐसा-ही मिलता है। तब क्या वे यह नहीं मानते कि सहृदय के अन्त:करण में वासनात्मतया विद्यमान स्थायीभाव ही रस बनता है? अर्थात् यह कि सहृदय-ही रस और भाव दोनों का आश्रय है? लेकिन स्थिति ऐसी नहीं है। 'रसनिर्णय' प्रसंग में उन्होंने 'साहित्य दर्पण' में दी गयी रस की परिभाषा को अनूदित करते हुए इस तथ्य से सहमति व्यक्त की है कि 'सहृदय पुरुषों के हृदय में प्रसुप्त भाव ही रस का रूप धारण करते हैं।'[५१] अतएव उनका उपर्युक्त कथन 'वदतो व्याघात' की मिसाल प्रस्तुत करता है।

पुन: भाव की अवस्थिति नायक या नायिका में मानने में और रस की स्थिति पात्र के मन में नहीं मानने में भरत के रससूत्र 'विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रस-निष्पत्ति:' के प्रारम्भिक व्याख्याताओं लोल्लट और शंकुक का स्मरण हो आता है। लोल्लट मानते हैं कि रस मुख्य रूप से अनुकार्य अर्थात् काव्य-निबद्ध पात्र या नायक मे होता है और गौण-रूप से अनुकर्ता अर्थात् नट में होता है। इस प्रकार उनके मतानुसार, स्थायीभाव भी पात्र या नायक में रहता है। श्री शंकुक मानते हैं कि स्थायीभाव अनुकार्य अर्थात् काव्यार्पित नायक में रहता है, लेकिन नर्तक द्वारा अनुकरण किये जाने पर वह रंगमंच पर अनुक्रियमाण होकर रस में परिणत हो जाता है। इन दोनों आचार्यों ने इस मौलिक अन्तर के बावजूद रस को विषयनिष्ठ ही माना है। शुक्लजी रस को विषयिनिष्ठ अर्थात् श्रोता या दर्शक में स्थित मानते हैं, किन्तु स्थायी को काव्य-निबद्ध पात्र या नायक में अवस्थित कहते हैं। यह विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी है। भरत भी स्थायी को काव्य-निबद्ध नायक में ही वर्तमान मानते हैं। तब क्या शुक्लजी स्थायी के सम्बन्ध मे भरत से अथवा उनके प्रारम्भिक व्याख्याताओं से अनुप्राणित हैं और रस के सम्बन्ध में अभिनव, विश्वनाथ आदि से अनुप्रेरित हैं। यह पूरा प्रकरण संक्षिप्त है, किन्तु उलझाव-पूर्ण बन गया है।

---

५०. रस-मीमांसा, पृ० ४०६।

५१. 'विभावेनानुभावेन व्यक्त: संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि: स्थायिभाव: सचेतसाम्।' (३/१)
—वही, पृ० ४१४।

रस-विरोध का विचार

रस-विरोध की तीन दृष्टियाँ—आ० शुक्ल ने रस-विरोध का विचार विश्वनाथ के ही आधार पर किया है। वह अत्यन्त संक्षिप्त है, यद्यपि एक-दो स्थलों पर उनके स्वतन्त्र चिन्तन की स्पष्ट झलक मिल जाती है।

रस-विरोध की तीन दृष्टियाँ उन्होंने बतायी हैं—(१) आश्रय की दृष्टि, (२) आलम्बन की दृष्टि और (३) श्रोता की दृष्टि। जिसे शास्त्रों में 'नैरंतर्य-विरोध' कहा गया है, उसे ही उन्होने श्रोता की दृष्टि से किया गया विचार बताया है। विश्वनाथ ने इन तीन विरोध-प्रकारों का यों कथन किया है—'इह खलु रसानां विरोधितायाः अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था। कयोश्चित् आलम्बनैक्येन, कयोश्चित् आश्रयैक्येन, कयोश्चित् नैरन्तर्येण इति।'[५२]

'नैरन्तर्य-कृत' विरोध को वे श्रोता की दृष्टि से किया गया विचार इस कारण बताते हैं कि 'उसका अभिप्राय यही है कि एक भाव को रस-रूप में ग्रहण करने के उपरान्त ही तुरन्त श्रोता के सामने ऐसे भाव की व्यंजना न की जाय जिससे उसे अपनी भाव-स्थिति में सहसा बहुत अधिक परिवर्तन करना पड़े।'[५३] यह दृष्टिकोण मनोविज्ञान-सम्मत होने से नवीन तथा सटीक कहा जायेगा।

'नैरन्तर्य-कृत विरोध' की मुक्तकों में अधिक सम्भावना का प्रत्याख्यान करते हुए शुक्लजी प्रबन्धों में उसकी स्थिति को स्वीकार करते हैं, किन्तु कवि की 'प्रबन्ध-पटुता' को मानते हुए उन्होने इस पर विशेष विचार नहीं किया है।

इस सन्दर्भ में उन्होंने सजातीय-विजातीय भावों के विरोध की चर्चा की है और उसे 'साहचर्य-कृत विरोध' का अभिधान दिया है। यहाँ उन्होंने स्व-निरूपित 'सुखात्मक' और 'दु:खात्मक' भावों के 'चतुष्टयों' का उल्लेख किया है और उनमें प्रत्यक्ष परस्पर विरोध की स्थिति बतायी है। उल्लेखनीय है कि उनके मतानुसार, राग (रति), हास, उत्साह तथा आश्चर्य, ये चार सुखात्मक भाव हैं और शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा, ये चार दुःखात्मक भाव हैं।

आश्रय-गत और आलम्बन-गत विरोध की चर्चा भी संक्षिप्त है और उन्होंने कोई नई बात उस सन्दर्भ में नहीं कही है।

अन्त में शुक्लजी ने एक महत्व की टिप्पणी की है—'विरोध का उपर्युक्त विचार केवल वहाँ के लिये है जहाँ कवि का उद्देश्य पूर्ण रस की व्यंजना है।' प्रबन्धों में अनेक स्थल निविष्ट होते हैं जहाँ 'पात्र दो विरोधी भावों की खींच-

---

५२. साहित्य-दर्पण' (मोतीलाल), पृ० २६२।

५३. रस-मीमांसा, पृ० २४८।

तान में' दिखाई पड़ता है। उनका कथन है कि 'ऐसी भाव-सन्धि के अवसर पर विरोध का विचार नहीं किया जाता।' इसका तात्पर्य यह है कि अन्तर्द्वन्द्व के चित्रणों में 'भाव-सन्धि' मानी जाएगी क्योंकि 'विरोध में ही चमत्कार' वर्तमान रहता है।[५४]

यहाँ शुक्लजी ने एक बड़े पते की बात परोक्षत्वेन संकेतित की है—काव्यानुशीलन का प्रयोजन केवल पूर्ण रस-व्यंजना की खोज करना नहीं है, अपितु रस के चौखटे के भीतर रहकर भी, केवल भावों के आलोड़न-विलोड़न का सौरस्य लेना भी है जो रस-पदवी को अप्राप्त होकर भी सहृदयों में 'चमत्कार' की सृष्टि करता हो।

(१०) सौन्दर्य-विमर्श

सौन्दर्य का परिभाषण—आ० शुक्ल सौन्दर्य का प्रधान गुण आनन्द प्रदान करने की क्षमता को मानते हैं। 'सुखदता' के अनुपात में ही 'सुन्दरता' का निर्धारण उन्हें अभीष्ट है। वे कहते हैं—'एक बहुत ही ऊँचे प्रकार का सुख देनेवाली वस्तु का नाम सुन्दरता है।' वे स्पष्टतः 'सुख' की श्रेणियाँ मानते हैं। 'लड्डू खाना, इत्र सूंघना, मुलायम गद्दे पर सोना, कोमल संगीत सुनना, सुन्दर रूप देखना—ये सब सुखद होते हैं। इनमें से पिछली दो बातों का सुख पहली तीन बातों के सुख से ऊँचे दरजे का जान पड़ता है। कारण विचारने पर यही सुझाई पड़ता है कि आँख और कान दोनों का ज्ञान-व्यापार में प्रधान योग रहता है। अतः इनका सुख शेष और इन्द्रियों के सुखों से ऊँचे दरजे का होना चाहिए।'[१]

सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता—उपर्युक्त परिभाषण से स्पष्ट झलकता है कि आ० शुक्ल प्रत्ययवादियों की तुलना में सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ मानते हैं। इन्द्रियों के माध्यम से सुख की पहचान होती है और इन्द्रिय-ग्राह्यता वस्तु-परकता की-ही व्यंजक है। 'ज्ञान-व्यापार' के उल्लेख से उन्होंने परोक्षतया 'सुन्दर' को एक प्रकार का 'ज्ञान' मान लिया है जिससे मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है। वे अपना मन्तव्य और भी साफ करते हैं—'दर्शन-वृत्ति की बोध-दशा भी होती है और रागात्मिकता दशा भी। नई वस्तुओं को देखकर जानकारी भी हो सकती है, प्रेम, क्रोध आदि भी। मन की दर्शन-वृत्ति की रागात्मिका दशा ही सौन्दर्य की अनुभूति कहलाती है।'[२]

---

५४. रस-मीमांसा, पृ० २५६।

१. रस-मीमांसा, पृ० ७१।

२. वही, पृ० ७१।

'दर्शन-वृत्ति' पद से नेत्र-व्यापार और उसके द्वारा मन पर पड़नेवाली छाप दोनों की व्यंजना अभिप्रेत है। 'रागात्मिका दशा' प्रत्यक्षतः दृष्ट वस्तु की सुखदता का प्रतीक है। सुतराम्, सौन्दर्य एक ओर इन्द्रियग्राह्य है, दूसरी ओर आनन्ददायक है और तीसरी ओर वह ज्ञान-स्वरूप है। सौन्दर्य के त्रिकोणात्मक स्वरूप का यह परिभाषण पूर्णतः व्यवस्थित कहा जायेगा। सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का बिन्दु निर्भ्रान्त रूप से यहाँ प्रतिष्ठित किया गया है। 'लक्षणा' से जब शुक्लजी 'सौन्दर्य' को 'कर्म-सौन्दर्य' के साथ जोड़ते हैं, तब भी उनकी वस्तुवादी दृष्टि प्रत्यक्ष होती है।[3] उन्होंने सौन्दर्य को आत्मनिष्ठता अथवा मनस्परकता की स्थापना का 'योरपीय कला-समीक्षा की एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी' कहकर उपहास-सा किया है। उनका कथन है—'जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।'[४] अतएव स्पष्ट है कि शुक्लजी सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ अथवा विषयनिष्ठ मानते हैं। सच्चाई यह है कि यहाँ वे हमारी सनातन मान्यता से अनुप्राणित हैं। भारतीय मनीषियों के सम्मुख सौन्दर्य का द्वैधात्मक निरूपण कभी प्रमुखता से उपस्थित नहीं हुआ।

कलाओं का आविर्भाव — ऊपर कहा गया है कि आ० शुक्ल 'कोमल-संगीत' और 'सुन्दर रूप' से मिलनेवाले सुख को सामान्य सुखों से श्रेष्ठ समझते हैं। जैसे 'कर्म-सौन्दर्य' में 'सौन्दर्य' का प्रयोग लाक्षणिक होता है, वैसे-ही नाद के सम्बन्ध में भी 'सुन्दर', 'मधुर', 'कोमल' आदि शब्दों का प्रयोग भी लाक्षणिक ही होता है। 'सुन्दर' नेत्र के 'मधुर' रसना के और 'कोमल' त्वचा के विषयों से संबद्ध संज्ञाएँ हैं। श्रवणेन्द्रिय की अनुभूति के लिए कोई पृथक् शब्द भाषा में उपलब्ध नहीं है। अतएव संगीत के विषय में भी 'सुन्दर' तथा 'मधुर' पद का प्रयोग प्रचलित है। आ० शुक्ल मानते हैं कि इन्हीं दो इन्द्रियों, दर्शनेन्द्रिय, तथा श्रवणेन्द्रिय के 'उपभोग' तथा 'तुष्टि' के लिए चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्यकला और संगीत-कला का प्रादुर्भाव हुआ है। अतएव ये ललित कलाएँ सौन्दर्य के विभिन्न स्वरूप हैं और ये सभी प्रमाता को मानसिक सुख प्रदान करती हैं। उल्लेखनीय है कि शुक्ल जी 'नाद-सौन्दर्य' या 'शब्द-माधुर्य' को 'रूप-सौन्दर्य' से 'मध्यम कोटि की वस्तु' मानते हैं। अर्थात् संगीत से मिलनेवाला सुख, उनकी मान्यता में, नेत्र-सापेक्ष कलाओं से उपलब्ध सुख की अपेक्षा निम्नतर होता है क्योंकि संगीत में मन को रमानेवाले गुण का वह सघनत्व एवं प्राचुर्य नहीं होता जो चाक्षुष कलाओं के आस्वादन में उपलब्ध होता है।

---

३. रस-मीमांसा, पृ० ७१।

४. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १३१-३२।

यहाँ आ० शुक्ल अपनी निजी वरीयता का कथन कर रहे हैं। जिससे कदाचित् हम सभी सहमत नहीं हो सकेंगे।[५]

सौन्दर्य की अनुभूति—शुक्ल जी कहते हैं कि कुछ रूप-रंग वाली वस्तुएँ हमें तत्काल आकर्षित करती हैं और हम 'उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तस्सत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। × × × जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायगी।'[६]

तदाकार-परिणति के अनुपात में सौन्दर्य की इयत्ता की परख से स्पष्ट है कि शुक्ल जी सौन्दर्य की श्रेणियाँ स्वीकार करते हैं। यह मान्यता भारतीय आचार्यों के रस की अखण्डतावाले परिचित सिद्धान्त के विपरीत पड़ती है। यद्यपि शुक्लजी ने स्वयं भिन्न धरातल पर रस की कोटियाँ निर्धारित की हैं।

उन्होंने इसी प्रसंग में सौन्दर्य-भावना को व्यक्ति-सत्ता के परिहार-रूप में व्याख्यात किया है—'जिस सौन्दर्य की भावना में मग्न होकर मनुष्य अपनी पृथक सत्ता की प्रतीति का विसर्जन करता है, वह अवश्य एक दिव्य विभूति है।'[७] अवधेय है कि तदाकार-परिणति और व्यक्ति-सत्ता के विसर्जन में आपात्तिक सादृश्य के आभास के बावजूद कोई तात्कालिक सम्बन्ध नहीं है। तदाकार-परिणति से प्रमाता एवं प्रमेय के ऐकात्म्य का भाव सन्निहित है, न कि प्रमाता के 'विश्व-हृदय' में निजी सत्ता के विलोप का विलीनीकरण का भाव, जो स्पष्ट ही शुक्ल जी का अभीष्ट मन्तव्य है। उन्होंने 'दिव्य विभूति' की भावना के लिए राम और कृष्ण की सौन्दर्य-भावना में भक्तों के मग्न होने का दृष्टान्त दिया है और उस निमग्नता को ऐसी 'मंगल दशा' बताया है जिसके सामने कैवल्य या मुक्ति की कामना कपूर्रवत् उड़ जाती है।[८] प्रश्न निसर्गत: उठता है कि क्या इस अलौकिक निमग्नता में भक्त व प्रमाता की तदाकार-परिणति घटित होती है? हमारी समझ में इसका उत्तर होगा, 'नहीं'। सूरदास ने जिस 'कीट-भृङ्गी' की गति का कथन किया है, वह दर्शन व आदर्श है, व्यवहार नहीं।

स्थिति यह है कि शुक्ल जी अपनी तदाकार-परिणतिवाली सौन्दर्यानुभुति को 'विश्व-हृदय' अथवा 'परम हृदय' में व्यक्ति-सत्ता के विलय होने के अपने

---

५. रस-मीमांसा, पृ० ७२।

६. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १३२।

७. वही, पृ० १३२।

८. वही, पृ० १३२-३३।

प्रिय सिद्धान्त के साथ समीकृत करना चाहते हैं। वे इस प्रयास में सफल नहीं हो सके हैं - सफल होते-होते रह गये हैं। क्योंकि रस, सौन्दर्य, धर्म, भक्ति और लोकमंगल के अनेक सूत्रों का सामंजस्य-स्थापन उनके लिए क्या, किसी भी चिन्तक के लिए दुष्कर कार्य है।

काव्य और कला—आ० शुक्ल काव्य को 'कला' नहीं मानते। हमारे यहाँ चौसठ या उससे अधिक कलाओं में कविता को परिगणित नहीं कराया गया है। कला को प्रायेण 'सुन्दर' का प्रतीक माना जाता है और पाश्चात्य चिन्तन में इसी कारण कला-संबंधी विवेचन को 'एस्थेटिक्स' अथवा 'सौन्दर्य-शास्त्र' की संज्ञा मिली है। इस 'सौन्दर्य-शास्त्र' के भीतर चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों के साथ काव्य का भी आलोचन पश्चिम में होने लगा है। आ० शुक्ल के मतानुसार 'सौन्दर्य-शास्त्र' में काव्य-समीक्षा का समावेश नहीं करना चाहिए।

'सुन्दर' काव्य का लक्षण नहीं—शुक्लजी मानते हैं कि 'सुन्दर' काव्य का स्वरूप-लक्षण नहीं है। उनकी समझ में इसी कारण पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य-लक्षण के निरूपण में 'रमणीय' शब्द का विनियोग किया है—'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' 'रमणीय' का अभिप्राय है वह वस्तु या अर्थ जिसमें मनुष्य का मन थोड़ी देर तक रम सके। इस प्रकार 'सुन्दर' शब्द से जितना अर्थ सम्प्रेष्य होता है, उससे कहीं अधिक अर्थ 'रमणीय' पद से संवेदित होता है। पुनः 'सुन्दर' शब्द 'बाह्यार्थ' की ओर संकेत करता प्रतीत होता है जबकि 'रमणीय' हृदय-तत्त्व से संलग्न होता है। अतएव 'सुन्दर' शब्द 'काव्यानुभूति के स्वरूप को संकुचित' कर देता है।[९]

आ० शुक्ल कविता का प्रादुर्भाव सर्वत्र प्रेम, उत्साह, करुणा, आश्चर्य आदि जैसे 'हृदय के भावों' से मानते हैं। 'भावानुभूति' को वे कविता की अन्तर्निहित 'आत्मा' समझते हैं। उनकी सुस्पष्ट धारणा है—'कविता-देवी के अन्तःपुर में 'सुन्दर' 'प्रिय' होकर-ही प्रवेश कर सकता है। जो 'सुन्दर' प्रेम का आलंबन होता है, जिसकी ओर हमारी रागात्मिका वृत्ति प्रवृत्त होती है, जिसका स्मरण आने पर हृदय द्रवीभूत हो सकता है—चाहे वह व्यक्ति या वस्तु हो, चाहे प्रकृति का कोई खण्ड—वही काव्य का 'असली अंग' हो सकता है।'[१०]

आ० शुक्ल ने आपाततः काव्यक्षेत्र में 'सुन्दर' के स्वतः 'सुन्दर' प्रतीत होने के कारण, काव्य में प्रवेश का जो विरोध किया है, वह इसी परिच्छेद में

---

९. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १९४-१९५।

१०. वही, पृ० १९५-९६।

निरूपित उनके सौन्दर्य-विषयक निरूपण के प्रतिकूल पड़ता प्रतीत होता है। इस संबंध में ध्यातव्य यह है कि इन दोनों निरूपणों में कोई तात्त्विक विरोध नहीं है। वर्तमान संदर्भ में 'सौन्दर्य-शास्त्र' में प्रायेण गृहीत 'सुन्दर' का प्रत्याख्यान उन्होंने किया है जिसका लगाव मुख्यतया बाह्य-प्रतीति से है, हृदय की किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से नहीं। 'सुन्दर' को उपर्युक्त उद्धरण में 'प्रिय' से जोड़ने के मूल में, हृदय में कोई मधुर अनुभूति जगाने की क्षमता का-ही अभिप्राय है जो केवल 'बाह्यार्थ' की सुन्दरता से संभव नहीं है। शुक्लजी का वास्तविक आशय तब खुल जाता है जब वे पूर्वोद्धृत कथन के सातत्य में ही यह कहते हैं कि 'बेल-बूटे या नक्काशी की सौन्दर्य-भावना भावानुभूति के रूप में नहीं होती।' अतएव वर्तमान संदर्भ में यह प्रमाणित है, उनका 'सुन्दर' का विरोध, मुख्यतः काव्य में, कविता के 'चटक-मटक', सजावट वाले शिल्प को लेकर मुखरित हुआ है। असलियत यह है कि उनका अभीष्ट सौन्दर्य 'एक बहुत-ही ऊँचे प्रकार का सुख देनेवाली वस्तु' है और इस रूप में वह 'रमणीय' का पर्याय है।

सौन्दर्य और मंगल का समीकरण—आ० शुक्ल काव्य में मूलतः और अन्ततः 'सौन्दर्य' की प्रतिष्ठा के ही अभिलाषी हैं। लोक-मंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था वाले प्रकरण में उन्होंने अपनी स्थिति का स्पष्ट निरूपण किया है। वे काव्य में दो ही पक्ष मानते हैं—'सुन्दर' तथा 'कुरूप'। शुद्ध काव्य-क्षेत्र में भली-बुरी, शुभ-अशुभ, उपयोगी-अनुपयोगी इत्यादि किसी तथ्य का विचार समावेश्य नहीं है। वहाँ समस्त तथ्य केवल दो रूपों 'सुन्दर और असुन्दर' में ही विचार्यमाण बनते हैं।[११] आ० शुक्ल अतएव भला-बुरा, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल इत्यादि शब्दों को कविता के क्षेत्र से बाहर का बताते हैं। अन्ततः वे यह व्यवस्था देते हैं—'जिसे धार्मिक शुभ या मंगल कहता है, कवि उसके सौन्दर्य-पक्ष पर ही मुग्ध रहता है और दूसरों को भी मुग्ध कराता है। जिसे धर्मज्ञ अपनी दृष्टि के अनुसार शुभ या मंगल समझता है, उसी को कवि अपनी दृष्टि के अनुसार सुन्दर कहता है।[१२]

प्रस्तुत कथन से स्पष्ट है कि शुक्ल जी सौन्दर्य और मंगल का समीकरण करते हैं। वे निर्व्याज रीति से कहते हैं—''सौन्दर्य और मंगल पर्याय हैं। कला-पक्ष में देखने से जो सौन्दर्य है, वही धर्म-पक्ष से देखने में मंगल है'[१३] इन कथनों से यह भी सिद्ध है कि शुक्ल जी श्रेष्ठ काव्य का समीपी सम्बन्ध धर्म-भावना से मानते हैं, यद्यपि उसके मूल्यमापन में वे सौन्दर्यशास्त्रीय शब्दावली

---

११. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १३३-३४।

१२. वही, पृ० १३२।

१३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ५८।

का ही विनियोग समीचीन समझते हैं। स्थिति जटिल है। कहाँ 'शुद्ध काव्य' जहाँ 'सुन्दर-असुन्दर' के युग्म ही प्रवेश पाने के अधिकारी ठहराये गये हैं और कहाँ 'मंगल'-'अमंगल' जो धर्मप्रेरित काव्य-राज्य के अधिकारपूर्ण 'नागरिक' हैं! शुक्लजी ने इन दोनों प्रमेय-युग्मों को एक में नत्थी कर अपनी गहरी रसमर्मज्ञता के साथ अन्याय किया है।

वास्तविकता यह है कि आ० शुक्ल के काव्य-विवेचन के स्पष्टतः दो छोर हैं, हृदय की मुक्तावस्था की सिद्धि और लोकमंगल की साधना। पहला निरूपण रसवाद की नवीन व्याख्या के रूप में किया गया है जो विशुद्ध काव्यशास्त्रीय प्रस्थान था। 'शुद्ध काव्य' (Pure poetry) जैसे पद का प्रयोग और 'सुन्दर' से जोड़ना इस तथ्य का व्यंजक है कि वे भारतीय रसवाद और पाश्चात्य कलाशास्त्र (एस्थेटिक्स) में समीकरण के लिए ज्ञात-अज्ञात भाव से प्रयत्नशील हैं जैसा आधुनिक विद्वानों ने किया भी है।[१४] लेकिन इसी के साथ लोकमंगल का भावना भी, जो तुलसी के अनुशीलन से उनकी मानसिकता का स्थायी तत्त्व बन गयी है, उनकी विचारणा से अविच्छेद्य रूप से जुड़ गयी है। सुतराम्, भारतीय रस दृष्टि, पाश्चात्य सौन्दर्य-दृष्टि और उनकी अपनी अर्जित-उपलालित मंगल-दृष्टि, तीनों का समन्वय उनका चिकीर्ष्य रहा है। मूलतः वे रस-दशा किंवा रसानुभूति जो अपनी 'सामाजिकता' के बावजूद, मुख्यतया व्यष्टि-गत है और लोकमंगल जो वस्तुतः समष्टिगत है, इन दोनों ध्रुवों के समान आकर्षण से अनुप्राणित रहे हैं। हम यह कहने से अपने को रोक नहीं पाते कि उन्हें एक में मिलाने अथवा संयोजित करने में शुक्ल जी को प्रचुर मानसिक व्यायाम करना पड़ा है। फलतः उनके निरूपण में दरारें पड़ गयी हैं और पूर्ण सफलता उनकी पकड़ से बाहर खिसक गयी है।

□□

---

१४. दे० 'स्वतन्त्र कलाशास्त्र' (डॉ० कान्तिचन्द्र पांडेय)

(ई) विदेशी समीक्षा-शास्त्री

११. क्रोचे का अभिव्यक्तिवाद

१२. आचार्य शुक्ल की आलोचना

१३. आई० ए० रिचर्ड और आचार्य शुक्ल

(११) क्रोचे का अभिव्यक्तिवाद

(क)

'सौन्दर्यशास्त्र'—इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक चिन्तक बेनेडेटो क्रोचे ने अपनी पुस्तक 'एस्थेटिक' (सौन्दर्य-शास्त्र) में कला या कविता के संबंध में जो निरूपण किया है, वह 'एक्सप्रेशनिज्म' अथवा 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है।[१] यह सिद्धान्त 'विशुद्ध कला' का प्रतिपादन करता है और प्रकारान्तरेण 'कला के लिए कला' के प्रवाद का पक्षधर है।

(ख)

अन्तःकरण के व्यापार[२]—क्रोचे ने स्पिरिट अथवा अन्तःकरण के चार मौलिक तथा परस्पर भिन्न व्यापार माने हैं जो यथार्थ या वास्तविकता के चार प्रकार हैं। इन व्यापारों के दो वर्ग किये गये हैं: पहला 'सैद्धान्तिक' और दूसरा 'व्यावहारिक'। सिद्धान्त-पक्षीय व्यापारों का सम्बन्ध मूलतः ज्ञान से है और व्यवहार-पक्षीय व्यापारों का सम्बन्ध मूलतः इच्छा अथवा संकल्प (वाल्लीशन) से है। सैद्धान्तिक (ज्ञान-प्रधान) वर्ग में दो क्रियाएँ आती हैं: प्रातिभ ज्ञान (इण्ट्यूशन) और 'प्रत्ययात्मक ज्ञान' (कांसेप्चुअल नॉलेज)। प्रातिभ ज्ञान—जिसे

---

१. यह ग्रंथ १९०२ ई० में प्रकाशित हुआ था।

२. 'स्पिरिट' (Spirit) का हिन्दी अनुवाद विद्वानों ने 'आत्मा' किया। हमारी समझ में, 'आत्मा' को 'सोल' (Soul) का अनुवाद मानना चाहिए। हमने क्रोचे के संपूर्ण निरूपण को ध्यान में रखते हुए 'स्पिरिट' के लिए 'अन्तःकरण' स्वीकार किया है क्योंकि भारतीय दर्शन में 'अन्तःकरण' को मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—इन चार वृत्तियों का योग बताया गया है। क्रोचे की 'स्पिरिट' में यही व्यंजना है। उसे 'आत्मा' के साथ मिलाना युक्ति-संगत नहीं है। (लेखक)

सहज ज्ञान, सहजानुभूति, स्वयं-प्रकाश ज्ञान, अन्तर्ज्ञान प्रभृति अभिधान दिये गये हैं—व्यष्टि-परक ज्ञान होता है और प्रत्ययात्मक ज्ञान व्यष्टि-परक सहज ज्ञानों में संबंध-स्थापन से प्रसूत बौद्धिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान होता है जिसमें तर्क का आश्रयण रहता है। इसी प्रकार, व्यावहारिक (संकल्प-प्रधान) वर्ग में भी दो प्रकार के क्रिया-कलाप सन्निविष्ट हैं, सामान्य संकल्प से प्रसूत, अर्थात्, आर्थिक क्रियाएँ और बुद्धि-सम्मत संकल्प से प्रसूत, अर्थात् नैतिक क्रियाएँ जो सार्वलौकिक उद्देश्य से जुड़ी होती हैं। इस प्रकार अन्त:करण के ये चार मौलिक व्यापार होते हैं और इनसे संबद्ध क्रमश: चार विज्ञान उत्पन्न होते हैं : सौन्दर्य-शास्त्र तथा तर्क-शास्त्र (सैद्धान्तिक-ज्ञानात्मक) और अर्थ-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र (व्यावहारिक-संकल्पात्मक)।

उपर्युक्त चतुर्विध व्यापारों के सम्पादन का क्रम यों बताया गया है—प्रथम, प्रातिभज्ञान अथवा अन्तर्ज्ञान; द्वितीय, प्रत्ययात्मक ज्ञान; तृतीय, आर्थिक क्रियाएँ और अन्ततः (चतुर्थ) नैतिक क्रियाएँ। इनमें से प्रत्येक व्यापार अपने पूर्ववर्ती व्यापार से संलग्न होता है अथवा उसकी अपेक्षा रखता है। इस प्रकार प्रातिभ अथवा सहज ज्ञान ही मनुष्य के यावत् व्यापारों का मूलाधार है।

(ग)

कला का आविर्भाव रूपात्मक—कला या कविता प्रातिम ज्ञान किंवा अन्तर्ज्ञान की उपज है। यह आभ्यन्तरिक व्यापार दो स्तरों पर सीमित होता है; इसके ऊपर बौद्धिक प्रत्ययों का प्रदेश है और इसके नीचे 'अन्तरात्मा का अज्ञात लोक' (obscure region of the soul) है जिसे 'अचेतन' अथवा 'अवचेतन' कहा जा सकता है। इसे क्रोचे ने प्रायेण 'इम्प्रेशंस' (मानसिक अंकन या संस्कार) 'सेंसेशंस' (संवेदन) या 'मैटर' (द्रव्य) कहा है। अभिप्राय यह है कि ये मानसी अंकन तथा संवेदन ही कला या सौन्दर्य का 'कच्चा माल' हैं। अन्तर्मन कल्पना की क्रियाशील अवस्था में इन संवेदनों तथा प्राथमिक विकारों को संयोजित कर मूर्त्तरूप प्रदान करता है। वह रूपायण ही प्रातिभ अथवा सहज ज्ञान है; वही 'अभिव्यक्ति' (एक्सप्रेशन) है; वही कला या सौन्दर्य है। स्मरणीय है कि यह अन्तर्ज्ञान सदैव व्यष्टि-परक होता है और सर्वदा रूपमय होता है। क्रोचे साफ कहता है कि 'सौन्दर्य या कला, अतएव केवल रूप है और रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं।'[3]

---

3. "The aesthetic fact, therefore, is form and nothing but form." — William Winsatt Ir. and Cleanth Frooks : 'Literary Criticism : A Short Story' (Second Indian Reprint), p. 502.

क्रोचे की अविचल मान्यता है कि भौतिक अथवा गोचर (फिज़िकल) सौन्दर्य (चाहे वह प्राकृतिक अथवा कलागत सौन्दर्य हो) एक 'शाब्दिक असंगति' है।

अन्तर्ज्ञान तथा अभिव्यक्ति—क्रोचे की सौन्दर्य-पद्धति की केन्द्रीय भूमि यह है कि प्रातिभ ज्ञान अथवा सहज ज्ञान तथा अभिव्यक्ति (इण्ट्यूशन-एक्सप्रेशन) दोनों अविच्छेद्य तथा सहवर्ती हैं। अर्थात् अभिव्यक्ति के बिना अन्तर्ज्ञान का स्फुरण अचिन्त्य है। किसी वस्तु को जानने का अर्थ होता है, अपने तईं, अपने भीतर उसे अभिव्यक्त करना। जैसा अभी कहा है, यह अभिव्यक्ति सदैव रूपमयी होती है। उस आध्यान्तरिक ज्ञान अथवा अभिव्यक्ति को पुनः शब्दमयी, रंग-रेखा-मयी अथवा स्वर-मयी अभिव्यक्ति प्रदान करना महत्त्वहीन व्यापार है जिसे क्रोचे ने 'बाह्यीकरण' (Externalisation) शीर्षक के अन्तर्गत उपन्यस्त किया है। यह बाह्य अभिव्यक्ति स्वतःस्फूर्त आभ्यन्तरिक अभिव्यक्ति का अनुगमन कर सकती है, नहीं भी कर सकती है। बाह्यीकृत अभिव्यक्ति परोक्ष-कोटिक कला है, असली कला तो आन्तर अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार, भौतिक कलाकृति—मूर्ति, चित्र, संगीत आदि एक बहिरंग उत्तेजन-मात्र है जो निपुण ग्रहीता अथवा भावक के भीतर वही अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति उत्पन्न कर सकती है जिसने कलाकार को उसे गोचर रूप या आकार प्रदान करने के लिए उत्साहित किया। इस बाह्यीकरण के संकल्पात्मक व्यापार में कलागत 'टेक्नीक' अथवा शिल्प कलाकार द्वारा अर्जित या प्राप्त पूर्वज्ञानों का संकर या मिश्रण है। '(आन्तरिक) अभिव्यक्ति स्वयं, अपने में, साधनों से विहीन है।'

कतिपय पदों की पर्यायता—उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि क्रोचे के समीप कतिपय पद समस्थानीय बन गये हैं। एक इटैलियन आलोचक ने इस स्थिति का यह टिप्पणी कर, उपहास किया है—'क्रोचे की समग्र सौन्दर्यात्मक पद्धति केवल 'कला' शब्द के पर्यायों की खोज है और उसे संक्षेपतः इस फार्मूले में व्यक्त किया जा सकता है : कला = सहजज्ञान = अभिव्यक्ति = कल्पना = भावना (फैंसी) = सौन्दर्य। × × × × इनमें से प्रत्येक शब्द पूर्णतः एक ही वस्तु की द्योतक खण्ड-ध्वनियों की भिन्न-भिन्न माला (सिरीज) है।'[४]

द्वैत की स्थिति—क्रोचे के 'अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति' (इण्ट्यूशन-एक्स-प्रेशन) के सिद्धान्त में एक प्रकार के द्वैत का अन्तर्भाव है : समग्र ज्ञान का व्यापार और उस विशिष्ट ज्ञान का व्यापार भी जिसे 'कला' कहा गया है, दोनों इसमें समाहित हैं। इतिहास और कला में (जो क्रमशः इन दोनों प्रकार

४. Literary Criticism : A Short Story, पृ० १०४।

की अभिव्यक्तियों के प्रतिनिधि हैं) यह अन्तर होता है कि पहला तथ्यों पर आधारित है जबकि दूसरी 'संभाव्यता' का वरण करती है। लेकिन स्वयं कला के क्षेत्र में भी एक अन्य प्रकार का भेदीकरण उपलब्ध है। यह भेद इतिहास से भिन्न, कोरी कला और उस विशिष्ट कला के बीच विद्यमान है जिसे काव्यानुरागियों के मध्य 'कला' के अभिधान का गौरव प्राप्त है। उदाहरण-रूप में 'श्मामपट्ट पर के घसीट लेखन से अथवा प्रतिदिन के किसी प्रेम-पत्र' को लिया जा सकता है। इन व्यापारों में भी एक प्रकार की 'कला' लक्षित होती है जिसे हम प्रायः कोई महत्त्व नहीं देते। इसके विपरीत विश्व की महनीय काव्यकृतियों में जो 'कला' रूपायित होती है, वह काव्यानुरागियों के द्वारा सामान्यतः श्रेष्ठ समझी गयी है। लेकिन क्रोचे के मतानुसार यह अन्तर केवल परिमाणात्मक तथा आनुभाविक है। किसी वैज्ञानिक विवेचन का गद्य भी अपने रूप में अभिव्यक्तिनिष्ठ हो सकता है। मूल विन्दु यह है कि जो बुरी तरह लिखा गया है, वह बुरी तरह विचारा भी गया है—'Ill – written = Ill – thought'। क्रोचे के इस समीकरण की व्यंजना अत्यन्त समावेशी है। इस प्रसंग मे उसकी निम्नलिखित घोषणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) 'कलागत सहजज्ञान (अन्तर्ज्ञान) सामान्य सहजज्ञान से गहराई या सघनता में नहीं, अपितु व्यापकता में भिन्न होता है।' अभिप्राय यह है कि कलागत अन्तर्ज्ञान सामान्य अन्तर्ज्ञानों की तुलना में केवल अधिक व्यापक, बहुआयामी होता है, अन्यथा दोनों प्रकार के सहजज्ञानों की तीव्रता एवम् सघनता समान होती है। (२) सामान्य लोकप्रिय प्रेम-गीत का सहजज्ञान, अपनी नैसर्गिक सरलता में, सान्द्रता एवम् सघनता की दृष्टि से, पूर्ण अथवा निर्दोष हो सकता है, यद्यपि लियोपार्डी जैसे संगीतकार के प्रेमगीत के जटिल सहजज्ञान की तुलना में वह बहुत-ही सीमित हो सकता है। क्रोचे का मन्तव्य है कि एक साधारण-सा शब्द भी उसी प्रकार 'कला' है जैसे कोई वैदग्ध्यपूर्ण लघु रचना, और किसी पत्रकार की क्रम-विहीन समाचार-मूलक संक्षिप्त लिखावटें भी उसी प्रकार 'कला' है जैसे कोई कहानी 'कला' है।[५]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि क्रोचे का सौन्दर्य-विधान, अन्तिम विश्लेषण में 'कला' का दर्शन नहीं, प्रत्युत् यावत् 'स्वतःस्फूर्त ज्ञान' का दर्शन है, यद्यपि वह इसे कदापि स्वीकार नहीं करता।

अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति की सफलता—अन्तर्ज्ञान-मूलक अभिव्यक्ति की पूर्णता अथवा सफलता का विचार क्रोचे की पद्धति का महत्त्वमय बिन्दु हैं। उसके मतानुसार कला में जो 'संभाव्य' (प्रॉबैबुल) है, वह वही है जो सुसम्बद्ध

---

५. Literary Criticism : A Short Story, पृ० ५०४-०५।

या सुश्लिष्ट है। निष्क्रिय संवेदनों तथा उलझे हुए मानसी संस्कारों वा विकारों को सहज-ज्ञानात्मक सामर्थ्य के बल पर स्वायत्त कर जब हमारा अन्तर्मानस उन्हें स्पष्टता-पूर्वक रूप प्रदान कर देता है तब अभिव्यक्ति 'पूर्ण' या 'सफल' होती है और तभी 'सौन्दर्य' निष्पन्न होता है। प्रातिभज्ञान के व्यापार का उलझाव बहु-वाचकता (मल्टीप्लिसिटी) एवम् एकान्विति का अभाव ही कला में 'कुरूपता' है। अन्य शब्दों में जो अन्त:करण में रूपमयी, सुश्लिष्ट अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त कर सका है, वह तत्त्वतः अभिव्यक्ति नहीं, कला नहीं, सौन्दर्य नहीं, अपितु 'कुरूप' है। प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति जब होगी तब वह पूर्ण या सफल होगी, उसमें सुसम्बद्ध तथा सुश्लिष्ठ रूपमयता होगी और यदि वह बिखराव-पूर्ण, एकान्विति-विहीन है, तो उसे अभिव्यक्ति कहना ही नहीं चाहिए।[६]

उक्त पदों की व्यवहारगत फिसलन—विद्वानों ने दिखाया है कि इन पदों के व्यवहार में फिसलन सम्भव है और उससे प्रस्तुत निरूपण सदोष बन जाता है। 'सफल सहज ज्ञान' के विचार में एक प्रकार की 'द्वैधता' (ड्यूप्लिसिटी) वर्तमान है। एक तरफ अर्ध-ज्ञात मानसिक विकारों अथवा अंकनों के संघात को स्वायत्त करने से सम्बन्धित सहजज्ञान का भीतरी संघर्ष है जो किसी स्पष्ट रूपमयता के बोध में बाधक सिद्ध होता है। दूसरी तरफ जटिल एवम् समृद्धिमान कलात्मक अन्तर्ज्ञान की महीयसी उपलब्धियाँ हैं जो सरल जाति के अन्तर्ज्ञानों से श्रेष्ठ समझी गयी हैं। ये दोनों धारणाएँ क्रोचे के निरूपण में सदैव परस्पर घुलती-मिलती रहती हैं जिसके फलस्वरूप 'सफल अभिव्यक्ति' वाली स्थापना दूषित हो गयी है। क्रोचे ने कहा है कि कभी-कभी हमारे भीतर अज्ञात, अपरिभाषेय घटनाएँ घटित होती रहती हैं और हम उनका रूपात्मक या बिम्बात्मक स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाते। थोड़ी देर बाद वह पुनः कहता है—'वह संसार जिसे हम अपने भीतर सहजभाव से ग्रहण करते हैं, छोटी-छोटी मानसी अभिव्यक्तियों से निर्मित होता है जो कुछ निश्चित क्षणों के अभ्यान्तरिक वर्धनशील संकेन्द्रण (कंसेंट्रेशन) से शनैः-शनैः व्यापकतर तथा बृहत्तर बनती जाती हैं। ये लघु अभिव्यक्तियाँ हमारे इन जैसे कथनों में प्रकट होती हैं; 'यह एक अश्व है', 'यह एक मनुष्य है', इत्यादि। × × × × यही हमारे दैनंदिन जीवन की मानसी सम्पत्ति है और हमारे साधारण व्यवहार का मूलाधार है। × × × × (तथापि), समय-समय पर हम क्षीण सहजज्ञानों से बृहत्तर सहजज्ञानों को और पुनः बृहत्तर अन्तर्ज्ञानों से बृहत्तम तथा उच्चतम अन्तर्ज्ञानों को प्राप्त कर लेते हैं।'[७]

---

६. Literary Criticism : A Short Story, पृ० ५०५।
७. वही, पृ० ५०६।

उपरिगत उद्धरण से स्पष्ट है कि क्रोचे की सौन्दर्य-पद्धति में आरम्भ में, 'अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति' को जो आत्यंतिक महत्त्व मिला है, वह शनैः-शनैः बाद को, एक विशिष्ट प्रकार के 'महत्तर' तथा 'व्यापकतर' 'अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति' के पक्ष में स्थानान्तरित हो गया है। तथापि अन्य सन्दर्भों में जहाँ उसे अपने मौलिक सिद्धान्त के अनुरूप होना अनुकूल पड़ता है, वहाँ वह यही कहेगा कि किसी भी प्रकार का सहजज्ञान, किसी दूसरे प्रकार के सहजज्ञान के ही समान, कलात्मक या सौन्दर्यात्मक मूल्य रखता है। अर्थात् वह मूलतः सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं मानने के पक्ष में है। वह साफ घोषणा करता है— 'बर्बरों अथवा जंगलियों की कला, सभ्य जातियों की कला की तुलना में, कला की हैसियत से, हीन अथवा हेय नहीं है, यदि वह बर्बर मानव के के मानसिक अंकनों या संस्कारों से सम्बद्ध है—प्रत्युत प्रत्येक व्यक्ति के आभ्यन्तरिक जीवन का प्रत्येक क्षण अपना कलात्मक महत्त्व रखता है। अतः इन अभिव्यक्तियों में से किसी भी अभिव्यक्ति की तुलना, कला-दृष्टि से, किसी अन्य अभिव्यक्ति के साथ नहीं की जा सकती।'[८]

प्रत्यक्ष है कि 'रूप' या 'आकार' की यह द्वैधता क्रोचे के सम्पूर्ण निरूपण में प्रसरित है।

कला बनाम प्रत्यय-बोध—'रूप'-विषयक उपर्युक्त द्वैधता हमारे सामने तात्त्विक कठिनाई उत्पन्न करती है। क्रोचे यह स्वीकारता है कि कला की सहजानुभव-मूलक अभिव्यक्तियाँ, बाह्यीकरण के प्रसंग में एक प्रकार की प्रत्ययात्मक भाषा का प्रयोग करती हैं, पूर्व-निर्मित उपलब्ध रूपों—शब्दों, सन्दर्भों, पुरानी कहावतों, संकेत-शब्दों, सूक्तियों इत्यादि—का प्रयोग करती हैं। किन्तु, जब वह इस सुपरिचित तथ्य की सफाई देने लगता है तब वह कहता है कि ये तत्त्व नयी कविता में 'रूप' की तरह नहीं प्रविष्ट होते, अपितु वे पहले अपने अस्तित्व का परित्याग करते और कोरे 'मानसिक अंकनों वा संस्कारों' के स्तर तक सिमट कर पुनः मानसिक छापों अथवा संस्कारों की अवस्था में परावर्तित हो जाते अथच इस प्रकार 'रूपविहीन द्रव्य' बन जाते हैं।[९]

क्रोचे ने इस प्रसंग में कहा है कि जो कवि त्रासदी की रचना करने का संकल्प करता है, वह मानों स्वर्णकार की मूषा अर्थात् पिघलाने वाली कटोरी में मानसिक अंकनों या संस्कारों की एक बहुत बड़ी मात्रा पिघलने के लिए डालता है। अभिव्यक्तियाँ स्वयं, जो अन्य अवसरों पर रूपायित हुई हैं, 'संस्कार' बन कर, एक ही पुंज (मास) में विगलित हो जाती हैं और तब नयी 'अभि-

---

८. Literary Criticism : A Short Stcry, पृ० ५०७।

९. वही, पृ० ५०७।

व्यक्ति' का प्रादुर्भाव होता है। वह स्पष्ट घोषणा करता है कि "पुरानी अभिव्यक्तियों को अवश्य ही संस्कारों के धरातल तक पुनः उतरना पड़ेगा, इसलिए कि वे एक ही नवीन अभिव्यक्ति में संश्लिष्ट हो सकें।"[१०]

क्रोचे का कथन यहाँ साफ समझ में आने योग्य है : 'जब भी किसी नयी कविता की रचना कवि करना चाहता है तब उसके अन्तर्मानस की मूषा में नाना प्रकार के मानसी संस्कार—जिनमें पुरानी (रूपमयी) अभिव्यक्तियाँ भी संस्कार बन गयी होती हैं—परस्पर विगलित हो जाते हैं; तब कल्पना की क्रियाशीलता में उनसे एक नये रूप या बिम्ब का प्रादुर्भाव होता है; यही प्रादुर्भाव नयी 'अभिव्यक्ति' होता है और वही आभ्यंतरिक अभिव्यक्ति, शाब्दिक वेश-भूषा ग्रहण कर, नयी कविता बन जाती है।'

तथापि क्रोचे का प्रस्तुत प्रमेय आसानी से स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रश्न उठता है; कविता में उपलब्ध संकेत-शब्द पुरानी कहावतें, सूक्तियाँ इत्यादि जो 'प्रत्ययात्मक' वस्तुएँ हैं—क्या सचमुच 'संस्कार' बनकर अपना अस्तित्व खो बैठती हैं ? अथवा क्या कविता को 'शील' से, कविता के स्तर पर सौन्दर्य के उत्कर्ष-हेतु, कार्य-तत्पर होने के निमित्त, उन्हें अपना 'रूप' तथा 'अर्थ' नहीं बनाये रखना पड़ेगा ? यह कठिनाई तात्त्विक आयाम ग्रहण करती है और हम इस कठिनाई का सही, संतोषजनक समाधान क्रोचे में नहीं पाते।

(घ)

सौन्दर्य और आनन्द—क्रोचे ने यद्यपि 'आनन्दवादी', सिद्धान्तों का प्रत्याख्यान किया है, तथापि वह आगे चलकर कला या कविता के मानसी 'प्रभाव' का हिमायती बन गया है। उसका कथन है कि कला-कृतियों के साक्षात्कार के समय भावक 'सौन्दर्यात्मक ज्ञान' नहीं, प्रत्युत 'सौन्दर्यात्मक आनंद' का अनुभव करता है। उसकी प्रतिपत्ति है कि पूर्वोक्त आन्तरिक चतुर्विध व्यापारों में से प्रत्येक के साथ—जैसे वह सफल अथवा विफल होता है—एक प्रकार की ज्ञान-निरपेक्ष क्रिया सहचरण करती है जिसके दो ध्रुव हैं : सुख और दुःख (प्लेजर ऐण्ड पेन)।

'सौन्दर्यात्मक आनंद' केवल उस सुख की अनुभूति है जो हमारे अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति के सफल व्यापारों के साथ सहचरण करती है। ज्ञानमूलक व्यापार-ही नहीं, अपितु संकल्प-मूलक व्यापार भी अपने संकल्पात्मक सुख तथा दुःख से सम्बद्ध होते हैं। आर्किमीड्स जैसा वैज्ञानिक अपने अनुसंधान की सफलता के ज्ञान में ही 'यूरेका' (Eureka)—'मैं पा गया'—की सुखानुभूति

१०. Literary Criticism : A Short Story, पृ० ५०७।

नहीं करता, अपितु उसे उस अनुसंधान में प्रवृत्त होने के संकल्प (इच्छा) की सफलता में भी एक अन्य प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है।

कविता और अनुभूति (फीलिंग)—कविता में चित्रित अनुभूतियाँ चाहे वे उदार हों, चाहे वे क्षुरिका-बंधन (स्टैबिंग) की हों—रूपायित, सहजज्ञान-मूलक तथा 'अभिव्यक्ति'-प्राप्त भावनाएँ ही हैं और इस कारण वे हमें उतनी गहराई से प्रभावित नहीं करतीं जैसी वास्तविक जीवन की भावनाएँ। वास्तविक भावनाएँ केवल 'द्रव्य' (मैटर) हैं जबकि कलागत भावनाएँ अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं।[११] भावना के कोरे प्रदर्शन का विरोधी रह चुकने के बाद भी क्रोचे ने 'सौन्दर्य-शास्त्र के प्रणयन के परवर्ती वर्षों में कविता या कला में 'अनुभूति' की व्यंजना की वकालत की है। इस विषय में उसने यह सफाई दी है : "कलागत अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति सही अर्थों में अनुभूति की अभिव्यक्ति है, कवि या कलाकार द्वारा वास्तविक जीवन मे अनुभूत अनुभूतियों की कशमकश नहीं × × × प्रत्युत यह (कविता-गत) अनुभूति सही-सही वह अनुभूति है जिसे कवि ने अपने अन्तस् में साक्षात्कृत और अभिव्यक्त किया है और जिसे उसने कविता के भाषिक व्यापार में रूपायित एवम् आकारित किया और ज्ञेय बनाया है।" यहाँ क्रोचे ने कलागत 'अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति' (इण्ट्यूशन—एक्सप्रेशन) को 'लीरिज्म' अथवा 'प्रगीति' की नवीन अभिधा प्रदान की है।

'प्रगीत्यात्मक अन्तर्ज्ञान' (लीरिकल इण्ट्यूशन)— 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' में सन्निविष्ट अपने निबन्ध में क्रोचे ने कहा है—'अनुभूति पूर्णतः बिम्बों (इमेजेज) में अथवा बिम्बों के संघात में रूपान्तरित हो जाती है और इस प्रकार अनुध्यानित (कण्टेंप्लेटेड), समाधानित तथा लोकोत्तीर्ण बन जाती है। अतएव कविता को न केवल भावना, न बिम्ब, न-ही इन दोनों का योग, अपितु 'भावना का अनुध्यासन' (कण्टेम्प्लेशन आफ़ फीलिंग) अथवा 'प्रगीत्यात्मक अन्तर्ज्ञान' या 'विशुद्ध अन्तर्ज्ञान' कहना चाहिए। × × × 'प्रगीति' का अभिप्राय अनुभूति को कविता में उड़ेलना नहीं है, अपितु वह (प्रगीति) एक रूपायण है जिसमें मनुष्य का अहं रंगमंच पर अपने को-ही देखता, वर्णित करता और नाट्यीकृत करता है। यह गीत्यात्मक अनुभूति महाकाव्य तथा नाटक, दोनों की कविता का संघटन करती है, जो इसीलिए केवल बाह्य लक्षणों के द्वारा गीति-काव्य से भिन्न होती है।"[१२]

स्पष्ट है कि क्रोचे ने यहाँ कला और कला-मूल्य की अपनी पहली परि-

---

११. Literary Criticism : A Short Story, पृ० ५०८।

१२. वही, पृ० ५१०.

भाषा बदल दी है, भावना अथवा 'फीलिंग' की कला या कविता की आवश्यक या महत्वपूर्ण अन्तर्वस्तु (काण्टेण्ट) बताकर। यहाँ हमें आपाततः जो असंगति दिखायी पड़ती है, उसका समाधान क्रोचे यह कह कर करेगा कि 'अनुभूति' या 'भावना' स्वयमेव एक प्रकार की गहराई या तीव्रता (इण्टेंसिटी) है अथवा एक प्रकार की आंतरिक 'धड़कन' है जो अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति के साथ सहचरण करती है और उसके ज्ञानात्मक स्वभाव से ही अपना स्वभाव ग्रहण करती है।

'विशेष' तथा 'विश्व' का समन्वय—एक परवर्ती निबंध में क्रोचे ने 'गीति-सिद्धान्त' (लीरिज्म) के विषय में यह स्पष्टीकरण दिया है—'विशेष' सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के जीवन के साथ धड़कता है और 'सम्पूर्ण' उस विशेष के जीवन में अस्तित्वमान बनता है। प्रत्येक विशुद्ध कलात्मक बिम्ब एक-ही साथ स्वयं वह तथा विश्व, दोनों ही होता है। × × × कवि के प्रत्येक शब्द में, उसकी सर्जनात्मक कल्पना के प्रत्येक कार्य में समग्र मानव-नियति, मनुष्य की सभी आशाएँ, सम्भ्रम, हर्ष तथा विषाद, उसकी गरिमा तथा आपदा प्रत्यक्ष होती हैं। अन्तर्वस्तुरूप अनुभूति को कलात्मक स्वरूप प्रदान करना उसे समग्रता की छाप भी प्रदान करना है, उसे वैश्विक प्रेरणा से समन्वित करना है।"[१३]

जीवन का कला-कविता में ऊर्ध्वोन्मुख रूपान्तरण—अपने एक ऑक्सफोर्ड व्याख्यान में क्रोचे ने कहा है—'जीवन के विचार, व्यापार और संवेग कविता की विषय-वस्तु का गौरव प्राप्त कर, सामान्य विचार, व्यापार, भले-बुरे, प्रकृत हर्ष-विषाद नहीं रह जाते हैं। अब वे केवल आवेश तथा भावनाएँ (पैशंस ऐण्ड फीलिंग्स) रह जाते हैं जो तत्काल शान्त होकर, बिम्ब-विधान में ऊर्ध्वतः रूपान्तरित हो जाते हैं। यह कविता का जादू है, शान्ति तथा संघर्ष का समन्वय है। यहाँ कवि अथवा कलाकार की आवेशमय अन्त.प्रेरणा उसके मानसिक नियंत्रण में, मानसिक अनुध्यान में, शासित बनकर उसके साथ समंजित हो जाती है। यह अनुध्यान की विजय है, किन्तु ऐसी विजय है जो अपने विजित शत्रु के साथ घटित अतीत संघर्ष के फलस्वरूप अभी तक प्रकम्पित है। काव्य-प्रतिभा ऐसे संकीर्ण मार्ग का वरण करती है जिसमें आवेश शमित होता है और शम आवेश-गर्भित होता है। यह ऐसा मार्ग है जिसके एक ओर केवल नैसर्गिक भावना होती है और दूसरी ओर वह विचारण तथा आलोचन होता है जो प्रकृति (मानव-प्रकृति) से दुगुना दूर होता है। पुनः यह ऐसा मार्ग है जिससे दुर्बल प्रतिभाएँ आसानी से खिसक जाती और ऐसी कला की सृष्टि कर बैठती हैं जो या तो रागावेश से आक्षिप्त एवम् विकृत होती है अथवा आवेश से बिल्कुल विहीन होकर, बौद्धिक समझदारी के सिद्धान्तों से अनुशासित बन

---

१३. Literary Criticism : A Short Story, पृ० ५११।

जाती है। पहली जाति की कला 'रोमांटिक' या 'स्वच्छन्दतावादी' और दूसरी जाति की कला 'क्लैसिकल' अथवा 'शास्त्रीयतावादी' कहलाती हैं।''[१४] प्रत्यक्ष है कि यहाँ क्रोचे ने इन दोनों प्रसिद्ध विभाजनों की आलोचना की है। वस्तुतः वह काव्य के वर्गीकरण का सिद्धान्ततः विरोधी है।

परम्परा-पोषित नियमों का विरोध—इसी मनोभावना से अनुप्राणित होकर क्रोचे ने होरेस इत्यादि मध्यकालीन साहित्य-शास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित काव्य-विषयक सामान्य नियमों तथा विधि-विधानों का उग्र प्रत्याख्यान किया जो 'डीकोरम' अर्थात् 'औचित्य' या 'आभिजात्य' के नाम पर निरूपित किये गये थे। इन्हें परम्परा का गौरव उपलब्ध हो गया था जिनका उल्लंघन अकल्पनीय समझा जाता था। इस स्थिति के विरुद्ध, क्रोचे ने काव्य में व्यक्तिगत प्रतिभा का पक्ष उत्थापित किया है क्योंकि कलात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक मूल्यवत्ता के अवतरण के हेतु, वह निर्जीव प्रत्ययों या अवधारणाओं को बाधक मानता है। 'कलात्मक अर्थ' को बौद्धिकता की परिधि में समेटने के—सभी प्रकार के विश्लेषण तथा वर्गीकरण के, सभी प्रकार की व्याकरणिक मर्यादाओं के, सभी प्रकार की 'रूपक-योजना (ऐलीगरी) के, सभी प्रकार के परम्परारूढ़ औचित्य-गत विधानों के विरोध में उसका 'अभिव्यक्तिवाद' स्थापित हुआ है।

अलंकारों के विषय में क्रोचे की मान्यता उल्लेखनीय है। वह अलंकार तथा अलंकार्य में, रूप तथा अन्तर्वस्तु में कोई भेद, कोई पार्थक्य नहीं स्वीकार करता। उसकी तर्कणा है कि अलंकार अभिव्यक्ति का अविच्छेद्य अंग है। यदि कोई रूपक (मेटाफर) अनुचित है अथवा कोई अलंकार किसी अभिव्यक्ति के वास्तविक अर्थ के लिए बाह्य-भूत है, तो उसे अभिव्यक्ति में आना ही क्यों चाहिए? दूसरी तरफ यदि वह अलंकार उस अभिव्यक्ति का अंतरंग अवयव है, तो उसे अनुचित अथवा अलंकरणात्मक क्यों कहा जाय?

इसी प्रसंग में क्रोचे ने 'आदर्श भाषा' (मॉडेल लैंग्वेज) की अवधारणा का विरोध किया है। उसकी मान्यता है कि भाषा एक 'शाश्वत सृष्टि' है। भाषा में जिसे अभिव्यंजित किया गया है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं की जा सकती। निरन्तर-नवीन मानसिक अंकन अथवा संस्कार ध्वनि तथा अर्थ के अबाधित परिवर्तनों, अर्थात् निरंतर-नवीन अभिव्यक्तियों को उत्पन्न किया करते हैं। 'अतएव आदर्श भाषा की खोज करना 'गति' की 'गतिहीनता' या स्थैर्य की खोज करना है। भाषा पूर्व-निर्मित शस्त्रों का भंडार नहीं है और यह कोई शब्दावली, निष्प्राण तत्त्वों का समुच्चय अथवा लाशों का कब्रिस्तान नहीं है जिन्हें न्यूनाधिक रूप में सुगंधित द्रव्यों से सुरक्षित रखा गया हो।''

---

१४. Literary Criticism : A Short Story, पृ० ५११-१२।

क्रोचे पुनः कहता है—"जिसे हमने (सहज ज्ञान के आधार पर) सौन्दर्य रूप में विजृंभित किया है, केवल उसे-ही हम तार्किक ढंग से पल्लवित कर सकते हैं। किन्तु जो पहले से ही अपना सौन्दर्य रूप प्राप्त कर चुका है, उसे दूसरे ऐसे रूप में हम परिवर्तित नहीं कर सकते जो भी 'सौन्दर्य' हो। वास्तव में प्रत्येक अनुवाद (मूल रचना को) या तो क्षतिग्रस्त तथा नष्ट करता है अथवा फिर, मूल अभिव्यक्ति को पिघलाने वाली कटोरी में पुनः डालकर और उसे तथोक्त अनुवादक के व्यक्तिगत मानसिक संस्कारों से मिश्रित कर, वह एक नवीन 'अभिव्यक्ति' की सृष्टि करता है।"[१५]

उपरिगत उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि क्रोचे की कला-कृति वाली बहिरंग 'अभिव्यक्ति' उसकी अन्तर्ज्ञान-मूलक अंतरंग 'अभिव्यक्ति' की ही प्रतिच्छाया है; अतः जब बाहरी अभिव्यक्ति बदल जायेगी, तब भीतरी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य-मूल्य प्रतिहत अथवा विनष्ट हो जायेगा। अन्य प्रकार से यह कहा जा सकता है कि कवि की सहज-ज्ञान-मूलक अन्तरीण अभिव्यक्ति में ही अपेक्षित भाषा तथा शैली के तत्व गर्भित होते हैं, अपेक्षित पदावली, वक्रोक्ति अथवा स्वभावोक्ति इत्यादि की पद्धतियाँ अन्तर्निविष्ट होती हैं। इसी कारण उसके मतानुसार रूप तथा अन्तर्वस्तु में अलंकार तथा अलंकार्य में में कोई पार्थक्य अथवा द्वैत नहीं होता। इसी कारण, कविता की बाह्य आकृति को सँवारने अथवा अलंकृत करने का प्रश्न अर्थहीन है। शायद सहजानुभवों के आभ्यन्तरिक रूप-संघटन के दौरान-ही, कवि एक प्रकार की भाषा अपने तईं बोलकर, साक्षात्-कृत सौन्दर्य-प्रतिभा को संवेद्य या सम्प्रेषणीय बनाने का अचेतन प्रयास कर लिया होता है। इस दृष्टि से स्कॉट-जेम्स का यह कथन सारगर्भित बन जाता है कि 'क्रोचे का कवि कोई भाषा नहीं बोलता; उसका भाषण अधिक-से-अधिक एक स्वगत-कथन है।[१६]

व्यावहारिक आलोचना— व्यावहारिक आलोचक के रूप में क्रोचे कवि के 'रचनात्मक उद्देश्य' (पोयटिकल मोटिव) की खोज करने की हिमायत करता है। यह उद्देश्य कवि के 'वास्तविक भाव' (ट्रू सेण्टिमेण्ट) की खोज से संलग्न है और इसी की पहचान समीक्षा का प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त, समीक्षा का अन्य कोई उद्देश्य वह नहीं मानता। उसके मान्यतानुसार, यह मूल भाव किसी लघु आकार वाली गीति में अथवा किसी समग्र रचना में 'झलक' सकता है, कदाचित् छोटी रचनाओं में अधिक। वह बड़ी काव्य-

---

१५. Literary Criticism : A Short Story, पृ० ५१२-१३।

16. "Croce's poet speaks no language. At the most, his speech is a sociology."

—'The Making of Literature', p. 331.

कृतियों में 'विशुद्ध गीत्यात्मकता' (प्योर लीरिज्म) वाले अवतरणों की खोज में ही संतुष्टि लाभ करता है, 'समग्रता' में वह शायद कोई गुण या सौन्दर्य नहीं देखता। प्रसिद्ध अमेरिकन कवि एडगर अलनपो का ख्याल था कि बड़ी या लम्बी कविता एक शाब्दिक विसंगति है और लम्बी कविताओं में से सर्वोत्तम कविता भी छोटी-छोटी कविताओं की माला है जो परस्पर गद्य से जुड़ी हुई होती है। क्रोचे ने भी अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में यही दृष्टिकोण अपनाया है।[१७]

जिन नाटकों का स्थापत्य छिद्र-विहीन तथा सामान्यतः सुगठित माना गया है, उनके सम्बन्ध में भी क्रोचे की यही उपर्युक्त मान्यता है। सचाई यह है कि वह किसी भी काव्य-कृति के रचना-विधान को बहुत-ही कम महत्व देता है—इतना ही नहीं, सौन्दर्य अथवा कला की दृष्टि से उसे अनुपयोगी भी समझता है। कविता में प्रतिबिम्बित 'भाव तथा कल्पना' ही उसके लिए मुख्य वस्तु है जो उसकी दृष्टि से, उसमें गुम्फित छोटे-छोटे प्रसंगों अथवा अवतरणों में ही उपलभ्य होती है। शेक्सपियर के सम्बन्ध में भी उसकी यही धारणा है। अर्थात् वह उसकी नाट्य-कृतियों की समग्रता में कोई सौन्दर्य नहीं देखता, अपितु यही मानता है कि उनमें सौन्दर्य-चित्र यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं और इन विकीर्ण या प्रकीर्ण अवतरणों को छाँट कर-ही, उसकी कलात्मक कल्पना का रसास्वादन किया जा सकता है। उसने उस महान् नाट्य-शिल्पी के विषय में जो टिप्पणी की है वह सामान्य सहृदयों के लिए अत्यन्त क्षोभकारक है—"× × × शेक्सपियर स्वच्छतम और सर्वाधिक अगूढ़ कवियों में से एक है जिसे अल्प अथवा बहुत मामूली (कलात्मक) संस्कृति से सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा समझा जा सकता है।"[१८] स्पष्ट है कि शेक्सपियर का सम्पूर्ण गौरव-गाम्भीर्य इस टिप्पणी में कर्पूरवत् उड़ गया है।

'ब्रिटैनिका' वाले निबंध में जब क्रोचे ने प्रगीति, नाट्य तथा महाकाव्य की मूलभूत एकता की बात कही, तब—जैसा विद्वानों ने बताया है—उसका यह मन्तव्य नहीं था कि ये तीनों एक-ही काव्यात्मक तत्त्व को उपलब्ध करने की तीन भिन्न-भिन्न विधाएँ हैं, अपितु यह कि नाटक तथा महाकाव्य, दोनों का अध्ययन, समग्ररूप में नहीं; प्रत्युत गीत्यात्मक प्रसंगों या अवतरणों के संकलन के रूप में किया जाना चाहिए जिन्हें कथानक तथा चरित्र के एक बहुधा असम्बद्ध स्थापत्य में युगपत् गुम्फित कर दिया गया है। अतएव यद्यपि क्रोचे यह स्वयं नहीं मानेगा, तथापि उसे 'स्वच्छन्दतावादी समीक्षकों' की श्रेणी में ही स्थान मिल सकता है जिनका अभिमत है कि 'काव्य-गत उल्लास ऐसी वस्तु

---

17. 'Literary Criticism : A Short History' p. 516.

१८. वही, पृ० ५१७।

है जो केवल शक्ति के अल्पकालिक वेगमय स्मरण में, आंतरिक प्रकाश की आकस्मिक चमकों में घटित होती है।"[१९]

क्रोचे की त्रुटियाँ और उपलब्धियाँ—आलोचकों ने क्रोचे के कला-सिद्धान्त की त्रुटियों तथा उपलब्धियों का लेखा-जोखा तैयार किया है। त्रुटियों के अन्तर्गत यह बताया गया है कि इसके 'अभिव्यक्तिवाद' ने सामान्यतः कवि के व्यक्तित्व —'व्यावहारिक व्यक्तित्व' न सही, 'काव्यात्मक व्यक्तित्व' — को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है और अन्तरीण सहजज्ञान पर, जिसे वह सच्ची अभिव्यक्ति मानता है, बल देकर उसने आलोचना के क्षेत्र में 'प्रभाववाद' को प्रोत्साहित किया है। उसके विरुद्ध सबसे बड़ी शिकायत यह रही है कि शास्त्रीयतावादी विधानों के अपने तीव्र विरोधी उत्साह में, उसने वस्तुतः सभी प्रकार के आलोचनात्मक विश्लेषण और साहित्य-कृतियों के, समंजस वस्तु-रूप तथा अर्थ-संश्लेष-रूप में, समझे-विचारे जाने की मनाही कर दी है। अन्य शब्दों में उसने हमारे सहजानुभवों के आलोचनात्मक समृद्धीकरण के लिए कुछ भी करने से हमें रोक दिया है।

किन्तु क्रोचे की अपनी उपलब्धियाँ भी हैं। उसकी पद्धति की प्रशंसनीय विशेषता यह है कि उसने आलोचना की उपदेशवादी, वैज्ञानिक, यथार्थवादी, कोरी अनुकृतिवादी, जीवन-चरित-निष्ठ तथा परोक्षतः प्रयोजन-सापेक्ष दृष्टियों का प्रत्याख्यान किया है। पुनः उसने साहित्यिक वर्गों तथा उनसे संबद्ध टेकनिकल विधि-विधानों की तुला पर की जानेवाली समीक्षा का भी अपलाप किया है। ऐसी ही एक महत्त्वमयी उपलब्धि यह मानी जायेगी कि 'अभिव्यक्तिवाद' का सिद्धान्त काव्य में 'अलंकरणवाद' (ऑर्नमिण्टलिज्म) को तथा रूप के अन्तर्वस्तु से साधन को उद्देश्य से अलग करने की किसी भी प्रवृत्ति को निरुत्साहित करता है। प्रस्तुत पद्धति की सर्वोत्कृष्ट विशेषता यह है कि वह हमें सहजानुभवों की पूर्णता, अन्विति, समग्रता एवम् समृद्धता पर बलाघात कर, किसी कला-कृति के संघटक भागों में उपलब्ध रूपात्मक अभिव्यक्तियों के आलोक में पूरी रचना का संश्लिष्ट आकलन करने की सामर्थ्य प्रदान करती है।[२०]

(१२) आ० शुक्ल की आलोचना

'अभिव्यंजनावाद' नहीं, अभिव्यक्तिवाद—क्रोचे के 'अभिव्यक्तिवाद' का जो तनिक विस्तृत निरूपण किया गया है, वह इसलिए कि पाठक उसे सही ढंग से समझ सकें और इसलिए भी कि आचार्य शुक्ल ने जो उसकी आलोचना-

१९. Literary Criticism : A Short Story, पृ० ५१७।
२०. वही, पृ० ५१७-५१८।

की है, उसके औचित्य का परीक्षण किया जा सके। इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात यह लक्षित होती है कि उन्होंने क्रोचे की कतिपय मान्यताओं को गलत ढंग से समझा-समझाया है। उदाहरणतः क्रोचे के 'फार्म' अथवा 'रूप' का उनका निर्वचन प्रमादपूर्ण है। इसी आरम्भिक गलती ने 'एक्सप्रेशनिज्म' को 'अभि-व्यक्तिवाद' न कहकर 'अभिव्यंजनावाद' कहलाया है। यद्यपि इन दोनों संज्ञा-पदों का मूल धातु 'अञ्ज्' एक-ही है, तथापि प्रत्यय के भिन्न-भिन्न होने से उनके अर्थ में सूक्ष्म भेद हो जाता है। 'अभिव्यक्ति' = अभि – वि√अञ्ज + क्तिन् : अर्थ होगा, व्यक्त या प्रकट 'होना'। इसके विपरीत 'अभिव्यंजन' (अभि-व्यंजना) = अभि--वि√अञ्ज + ल्युट : अर्थ होगा, प्रकट या व्यक्त 'करना'। अन्तर बारीक है; पहले पद में 'कारक' के रहने पर भी 'कार्य' के घटित होने का भाव प्रमुख बन जाता है और दूसरे पद में 'कार्य' के रहने पर भी 'कारक' का भाव प्रमुख बन जाता है। क्रोचे के 'एक्सप्रेशन' को 'अभिव्यंजनावाद' कहकर शुक्लजी ने अभिव्यक्ति के कारक पक्ष को महत्त्व दिया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने 'एक्सप्रेशन' को कवि की सामान्य 'अभिव्यंजना' समझ लिया है और तब स्वभावतः उसे 'उक्ति' का पर्याय मान लिया है। अन्य शब्दों में क्रोचे की अभ्यान्तर 'अभिव्यक्ति' शुक्लजी की आलोचन-पद्धति में कविता की बाह्य 'अभिव्यंजना' बन गयी है। जिसे ही पकड़कर आचार्य प्रवर ने क्रोचे की पूरी फजीहत कर डाली है।

(ख)

'फार्म' साँचा नहीं—'फार्म' या 'रूप' के विषय में आ० शुक्ल का यह निर्वचन लक्षणीय है—'आत्मा की अपनी स्वतन्त्र क्रिया है कल्पना, जो रूप का सूक्ष्म 'साँचा' खड़ा करती है और उस साँचे में स्थूल द्रव्य को ढालकर अपनी कृति को गोचर या व्यक्त करती है। वह 'साँचा' आत्मा की कृति या आध्या-त्मिक वस्तु होने के कारण परमार्थतः एकरस और स्थिर होता है। उसकी अभिव्यंजना में जो नानात्व दिखाई पड़ता है, वह स्थूल 'द्रव्य' के कारण जो परिवर्तनशील होता है। कला के क्षेत्र में यही साँचा (form) सब कुछ है, द्रव्य या सामग्री (Matter) ध्यान देने की वस्तु नहीं।'[२१]

'फार्म' के लिए 'साँचा' का यह पद उचित नहीं है। 'साँचा' वह वस्तु है जिसमें बाहर से कोई द्रव्य डाला जाता है जिससे एक 'रूप' या 'आकार' जन्म लेता है—जैसे ईंट का साँचा। किन्तु 'फार्म' यहाँ साँचा नहीं, स्वयं 'रूप' या 'मूर्ति' है। 'गोचर' को 'व्यक्त' या पर्याय मान लेना भी युक्ति-संगत नहीं है। 'गोचर' में बाह्य प्रत्यक्षता का भाव सन्निहित है जबकि 'व्यक्त' की ध्वनि में द्वैधता है; बाह्य भी और आभ्यन्तर भी। क्रोचे की अभिव्यक्ति आभ्यन्तर है,

---

२१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १८८।

बाह्य नहीं। इसलिए उसका 'रूप' भी मनोग्राह्य है, गोचर अथवा इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं। 'साँचा' को परमार्थतः 'एकरस' तथा 'स्थिर' बताने में भी उलझाव है। यदि यह 'साँचा' स्थिर है तो उसका अर्थ यह हुआ कि उसमें जो भी द्रव्य पड़ेगा, उसका रूप या आकार भी एक-ही प्रकार का होगा। किन्तु-क्रोचे की यह स्थापना नहीं है। वह मानसी अभिव्यक्तियों को विधि रूप मानता है और ये आभ्यन्तरिक रूप-ही औपचारिक कला या कविता में वैविध्य ग्रहण करते हैं। शुक्लजी का 'नानात्व' जिस 'अभिव्यंजना' से सम्बद्ध है, वह बाहरी, औपचारिक अभिव्यंजना है जो ही 'गोचर' बनती है। यहाँ क्रोचे की भीतरी 'अभिव्यक्ति' शुक्लजी के लिए बाहरी शब्दमयी या चित्रमयी 'अभिव्यंजना' बन गयी है। इसी कारण क्रोचे का 'An aesthetic fact is form and nothing but form' आ० शुक्ल के निरूपण में 'साँचा सब कुछ है, द्रव्य या सामग्री ध्यान देने की वस्तु नहीं' बन गया है। इस अनुवाद में कला या कविता के बाह्याकार को महत्त्व दिया गया है और 'द्रव्य' या 'सामग्री' से अन्तर्वस्तु (विषय-वस्तु) का भाव ग्रहण किया गया है। यहाँ भी क्रोचे का मन्तव्य उलट गया है क्योंकि वह बराबर, तत्त्व-दृष्टि से आन्तरिक अभिव्यक्ति की बात करता है और इस प्रमेय की स्थापना करता है कि अन्तःकरण (स्पिरिट) कल्पना-शक्ति से अपने भीतर जो रूपमयी अभिव्यक्ति करता है, वही 'अभिव्यक्ति' अथवा वही अभिव्यक्त 'रूप' कला है। यहाँ आपाततः शुक्लजी ने इस मूल प्रतिपत्ति को उलट दिया है।

लेकिन वे इसी के बाद कहते हैं—'स्वयं-प्रकाश ज्ञान (Intuition) का साँचे में ढलकर व्यक्त होना ही कल्पना है और कल्पना ही मूल अभिव्यंजना (Expression) है जो भीतर होती है और शब्द, रंग आदि द्वारा बाहर प्रकाशित की जाती है।'[२२]

यहाँ आ० शुक्ल क्रोचे को सही ढंग से पकड़ते हैं, यद्यपि 'साँचा' उनका पिण्ड नहीं छोड़ता। पुनः कल्पना-मूलक 'अभिव्यंजना' की बात स्वीकारते हुए भी वे अपने मन से 'अभिव्यंजना' की बहिरंगता अथवा बाह्योकृत औपचारिकता की धारणा मिटा नहीं पाते। 'अनेक अभिव्यंजनाओं या उक्तियों के बीच कुछ सामान्य लक्षण ढूंढ़ कर काव्य के सम्बन्ध में कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है'—इस कथन में पुनः 'अभिव्यंजना' भीतरी 'अभिव्यक्ति' न रह कर औपचारिक काव्य-रूपों का उपलक्षण बन गयी है।

वास्तव में 'अभिव्यंजना' पद का ग्रहण-ही आचार्य के सम्पूर्ण निर्वचन को दूषित कर देता है। वे आगे चलकर कहते हैं—'× × × कला के क्षेत्र में 'सुन्दर' शब्द को भी क्रोचे एक विशेष अर्थ में स्वीकार करता है। सौन्दर्य से

२२. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १८९।

उसका तात्पर्य केवल अभिव्यंजना के सौन्दर्य से है, किसी प्रस्तुत वस्तु के सौन्दर्य से नहीं।'[२३] यहाँ रहा-सहा सन्देह भी निरस्त हो गया है। वे क्रोचे के 'अभिव्यक्तिवाद' को पूर्णतः 'रूपवादी' (फार्मलिस्टिक) समीक्षा-पद्धति मान बैठे हैं। हमने पहले दिखाया है कि अन्तर्ज्ञान या सहजानुभव ही जिसे शुक्लजी ने 'स्वयं-प्रकाश ज्ञान' कहा है, अभिव्यक्ति है; अभिव्यक्ति रूप ही है, वही कला है, वही सौन्दर्य है। सुतराम् क्रोचे का 'सौन्दर्य' भी उसकी 'कला' के समान आध्यन्तरिक अभिव्यक्ति है जो सर्वदैव रूपमयी होती है। अर्थात् सौन्दर्य 'रूप' है, लेकिन शब्दाश्रित अथवा रंग-रेखाश्रित नहीं, प्रत्युत मानसी, जो कवि या कलाकार के अन्तःकरण में रूपायित होता है।

शोक या करुणा की आनन्दस्वरूपता—शोक या करुणा की अनुभूति काव्य में 'आनन्द-स्वरूप कैसे होगी', इस प्रश्न का जो समाधान आ० शुक्ल ने क्रोचे पर आरोपित किया है, वह भी अ-यौक्तिक है। वे कहते हैं—'क्रोचे कहता है कि वह (कला-सम्बन्धिनी अनुभूति) बहुत तीव्र या क्षोभकारिणी इसलिए नहीं होती कि उसका सम्बन्ध केवल उक्ति के स्वरूप (Form) से होता है।[२४] यहाँ भी वही 'उक्ति', वही शब्द-मयी अथवा चित्रमयी औपचारिक अभिव्यंजना। इसी 'उक्ति' के फलस्वरूप क्षोभ-कारक मनोभावों का स्वरूप बदल जाता है, ऐसा क्रोचे कथमपि नहीं मानता।

हमने पहले दिखाया है कि क्रोचे के मतानुसार कला-कृतियों के साक्षात्कार से भावक 'सौन्दर्यात्मक ज्ञान' का नहीं, अपितु 'सौन्दर्यात्मक आनन्द' का अनुभव करता है। इस आनन्द को वह उस सुख की अनुभूति मानता है जो हमारे सहजानुभव-मूलक अथवा अन्तर्ज्ञानात्मक अभिव्यक्ति की सफलता के साथ सहचरण करता है। अर्थात् सहजानुभव अथवा 'स्वयंप्रकाश ज्ञान' वाली आन्तरिक अभिव्यक्ति का स्वभाव आनन्दमय होता है। क्रोचे ने इसी प्रसंग में आगे कहा है कि काव्य में जो अनुभूतियाँ चित्रित होती हैं, वे जीवन की वैसी भावनाएँ अथवा अनुभूतियाँ होती हैं जो कवि के अन्तःकरण में, कल्पना की क्रियाशीलता के फलस्वरूप, रूपमयी अभिव्यक्ति प्राप्त कर चुकी होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तविक जीवन में उपलब्ध अनुभूतियों की कशमकश (ट्यूमल्ट) सुख-दुःख-रूपात्मक होती है, लेकिन जब कवि उन्हें अपने अन्तःकरण में साक्षात्कृत कर रूपमयी अभिव्यक्ति प्रदान कर देता है, तब दुःखद अनुभूतियाँ भी सुखद बन जाती है। अर्थात् कला या कविता में चित्रित क्षोभकारिणी अनुभूतियाँ भी आनन्दप्रद बन जाती हैं—केवल इस कारण कि कवि या कलाकार के कल्पनाशील अन्तर्मानस की मूषा में विगलित होकर वे सुख-स्वभावा बन

---

२३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १८१।

२४. वही, पृ० १८२।

गयी रहती हैं, यद्यपि ऐसा तभी होता है जब वे पूर्णतः 'रूपायित' हो जाती हैं। यही काव्य-चित्रित क्षोभकारिणी अनुभूतियों के आनन्द-स्वरूप होने की क्रोचे द्वारा दी गयी सफाई है। हम इससे सहमत हों या न हों—यह भिन्न प्रमेय है। विश्वनाथ के 'काव्य-संश्रयात्' में जो अन्तर्निहित बिन्दु है, उसका एक स्पष्टीकरण क्रोचे के प्रस्तुत निरूपण में उपलब्ध होता है।[२५]

उल्लेखनीय बिन्दु यहाँ यह है कि आ० शुक्ल इस बात का भी प्रमाण देते हैं कि उन्होंने क्रोचे के 'अभिव्यक्तिवाद' को सही-सही समझा है, लेकिन इसके बावजूद, वे उसे 'उक्ति' की सीमा में समेट देते हैं। वे वर्तमान संदर्भ में ही आगे कहते हैं—"× × × पर ये कला की अभिव्यंजनाएँ नहीं हैं, भौतिक अभिव्यजनाएँ हैं। × × × कला की असल अभिव्यंजना तो है कल्पना, जो एक आध्यात्मिक क्रिया है। शब्द, रंग, भौतिक रूप, चेष्टा इत्यादि तो कल्पना को, आध्यात्मिक वस्तु को, प्रकाशित करनेवाली 'भौतिक अभिव्यंजना है।" इसी सिलसिले में, 'कला की अभिव्यंजना की प्रक्रिया' में, वे 'अभिव्यंजना अर्थात् कला-परक आध्यात्मिक योजना या कल्पना' को 'मूल प्रक्रिया' मानते हैं।[२६] यहाँ क्रोचे की स्थिति का तथ्यात्मक निर्वचन उपलब्ध है।

क्रोचे की कल्पना का गलत ग्रहण—भारतीय रस-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में शुक्लजी ने क्रोचे की आलोचना की है। "क्रोचे ने कल्पना-पक्ष को प्रधानता देकर उसका (काव्य-संबंधिनी भावना का) रूप ज्ञानात्मक कहा है। हमारे यहाँ रस-सिद्धान्त के अनुसार उसका मूल-रूप भावात्मक या अनुभूत्यात्मक है।'[२७] उनका यह कथन सर्वांशतः युक्तिसंगत है। क्रोचे की पद्धति का यह सामान्य दोष बताया गया है कि वह मूलतः 'ज्ञान की एकता' का निरूपण करती है। किन्तु शुक्लजी ने यहाँ क्रोचे की कल्पना को काव्य-गत सामान्य कल्पना का ठीक-ठीक पर्याय मान लिया है जो अनुचित एवम् तथ्यहीन है।" 'अतः काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त रूप अंग—भाव-प्रधान है, कल्पना उसकी सहयोगिनी।'[२८] इस कथन से स्पष्ट है कि वे कल्पना को काव्यानुभूति से पृथक् वस्तु मानते हैं। क्रोचे के कला-निरूपण में ऐसी स्थिति नहीं है। वहाँ कल्पना और कला अथवा कविता में कोई द्वैत अथवा पार्थक्य नहीं है। हृदय की अनुभूतियाँ भी वहाँ आन्तरिक कल्पना की मूषा में रूप

---

२५. "हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ॥

× ×

अलौकिक-विभावत्व प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ॥"—सौ० द० ३।६-७

२६. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १९३।

२७. वही, पृ० १९७।

२८. वही, पृ० १९८।

ग्रहण करती हैं और वह रूप ही कला या कविता है। संवेदनाओं का सम्मूर्तन या रूपायण ही रस-सिद्धान्त में 'विभावन' व्यापार कहा गया है और यह कहा जा सकता है कि 'विभाव' शब्द रूपायित संवेदनाओं का ही उपलक्षण है। इस प्रकार क्रोचे की कल्पना को रस-सिद्धान्त के आलोक में भी व्याख्यात किया जा सकता है और तब शुक्लजी द्वारा उसका स्थूल एवम् सामान्य रूप में ग्रहण दुर्बल हो जाता है।

इसी प्रकार ईसाई सन्तों के 'आध्यात्मिक आभासों' वाली कल्पना अथवा रॉबर्ट ब्लेक जैसे रहस्यवादियों की कल्पना का क्रोचे की कल्पना के साथ समीकरण भी उचित नहीं है। वस्तुतः क्रोचे द्वारा प्रयुक्त पद 'स्पिरिट' है जिसका सही अर्थ 'आत्मा' (सोल) नहीं, अपितु 'अन्तःकरण' है। किन्तु हिन्दी के विद्वानों ने 'आत्मा' अर्थ-ही ग्रहण कर, क्रोचे के विवेचन में 'आत्मा' तथा 'आध्यात्मिक' शब्दों का भ्रामक प्रयोग किया है। आ० शुक्ल ने भी यही अर्थ ग्रहण किया है और इसी कारण, उनके विवेचन तथा आलोचन में प्रमाद का प्रवेश हो गया है। 'आध्यात्मिक' पद से ही उन्होंने ईसाई सन्तों इत्यादि रहस्यवादियों से क्रोचे के 'आत्मावाली बात' ग्रहण करने की प्रतिपत्ति की है जिसमें तथ्यांश का अभाव है।''[२९] हमने आरंभ में कहा है कि क्रोचे का 'अभिव्यक्तिवाद' एक प्रकार से 'कला के लिए कला' सिद्धान्त का नव-निरूपण है। लेकिन क्रोचे की मान्यता में इस प्रवाद की सही व्यंजना यह है कि कला, विज्ञान अथवा नैतिकता से भिन्न, स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है और उसके रूपायन में आभ्यन्तरिक कल्पना की प्रक्रिया के अतिरिक्त, अन्य कोई विधि-विधान लागू नहीं होता।

शुक्लजी की यह आलोचना सही है कि क्रोचे के लिए प्रकृति मे भी कोई निजी सौन्दर्य नहीं है क्योंकि अन्तर्मानस की कल्पना की मूषा में पड़कर उसके जो बिम्ब बनते हैं, वे-ही 'सुन्दर' (अथवा 'असुन्दर') होते हैं। कला में प्रकृति के लिए प्रकृति का चित्रण वह निरर्थक मानता है। स्थूल दृष्टि से विचारने पर क्रोचे की यह मान्यता अनर्गल प्रतीत होती है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह ज्ञात होता है कि प्रकृति भी कवि या कलाकार की विशिष्ट रसदृष्टि अथवा मनोदशा की अनुरूपता में ही, कला या कविता में चित्रित होती है। प्रत्येक कलाकार प्राकृतिक दृश्यों या व्यापारों को उस आन्तरिक अभिव्यक्ति के संदर्भ में रखकर ही देखता है जो उसके मनोजगत् में स्वतः प्रादुर्भूत हुई है। कालिदास अथवा वाल्मीकि, कोई भी महाकवि हों, (जिन्हें आ० शुक्ल ने बहुधा प्रशस्त्यात्मक भंगी में अन्यत्र उद्धृत किया है)—उनका भी प्रकृति-

---

२९. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १८७, १९८-९९ इत्यादि।

चित्रण विशुद्ध यथार्थ का ऐसा चित्रण नहीं है जिसमें उनके अन्तर्ज्ञानात्मक सहजानुभव द्वारा संशोधन न हुआ हो। इसी कारण प्रसिद्ध कलाकार लियोपार्डी ने कहा था कि प्राकृतिक सौन्दर्य 'अत्यन्त विरल, विकीर्ण तथा नश्वर वस्तु है' और कलाकार की प्रतिभा एवम् मनोदशा के संदर्भ में ही उसका दर्शन हो सकता है। इस प्रसंग में आ० शुक्ल की यह टिप्पणी पुनः युक्ति-विहीन बन जाती है कि 'जो कुछ सौन्दर्य होता है, वह केवल अभिव्यंजना में, उक्ति-स्वरूप में। यदि सुंदर कही जा सकती है तो उक्ति-ही, असुंदर कही जा सकती है तो उक्ति-ही।'' इस प्रसंग में उन्हें 'केशवदास जी भी याद' आ गये हैं।[३०] जैसा पहले कहा है, शुक्लजी की प्रारंभिक गलती यही है कि उन्होंने क्रोचे के 'एक्सप्रेशन' को अभ्यन्तर की 'अभिव्यक्ति' न मानकर, बाह्य 'अभिव्यंजना' मान लिया है।

आ० शुक्ल ने क्रोचे की इस बात के लिए भी आलोचना की है कि वह अलंकार-अलंकार्य का भेद नहीं मानता। इस आलोचना में कोई दम नहीं है, कारण कि इस स्थापना के फलस्वरूप, उस व्यर्थ के आडंबरपूर्ण अलंकरण-प्रवृत्ति को धक्का पहुँचता है जिसके शुक्लजी स्वयं विरोधी हैं।

क्रोचे की पद्धति के छः बिन्दु – उन्होंने क्रोचे की पद्धति में छः बिन्दुओं की खोज की है जिनके आधार पर वे 'अभिव्यक्तिवाद' को दुर्बल कला-सिद्धान्त मानते हैं।[३१] उनमें हमारी समझ से केवल एक ही बिन्दु ऐसा है जो चिन्त्य है : 'जीवन की मार्मिक दशाओं का प्रत्यक्ष करनेवाले प्रबन्ध-काव्यों की ओर से उदासीनता और प्रेम-सम्बन्धी मुक्तकों या प्रगीत मुक्तकों (लीरिक्स) की ओर अत्यन्त अधिक प्रवृत्ति।''[३२] यह सही है कि क्रोचे लंबी कविताओं में से गीत्यात्मक अवतरणों के चयन का समर्थक है। किन्तु यह संकेत करना या समझना कि प्रगीत मुक्तकों के प्रणयन की प्रवृत्ति का मुख्य दायित्व क्रोचे के ऊपर है, भ्रामक है। शुक्लजी ने स्वतः इस तर्क-सरणी का दूर तक स्वीकरण नहीं किया है। शेष पाँच बिन्दुओं में उसी 'आध्यात्मिक रंग' वाली हवाई कल्पना और शिल्प-विषयक बेलबूटे तथा नक्काशी वाली काव्य-प्रवृत्ति की निन्दा सम्मिलित है। हमने अभी दिखाया है कि इन आरोपों में कोई औचित्य नहीं है। उलटे विद्वानों ने यह कह कर क्रोचे की परिशंसना की है कि उसने अपने निरूपण से काव्य में कोरे 'अलंकरणवाद' की प्रवृत्ति को—जिसे-ही शुक्लजी ने शिल्प-गत बेल-बूटे तथा नक्काशी कहा है— निरुत्साहित किया है। जैसा हमने पहले दिखाया है, क्रोचे 'आदर्श भाषा' की धारणा का विरोधी है,

३०. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १९१।

३१. वही, पृ० २२८-२३९।

३२. वही, पृ० २१२।

क्योंकि वह भाषा को एक 'शाश्वत सृष्टि' मानता है। इस दृष्टि से भी यह सोचा जा सकता है कि शिल्पगत नक्काशी का वह कैसे समर्थन करेगा ?

(ग)

क्रोचे की अभिव्यक्ति और भारतीय वक्रोक्ति—आ० शुक्ल ने बार-बार दुहराया है कि 'अभिव्यंजनावाद' की प्रवृत्ति-कल्पना की उड़ान तथा 'वाग्वैदग्ध्य या शब्द-भंगी' को ओर अधिक है और इस प्रकार वह काव्य में अन्तर्वस्तु की अवहेलना कर, 'रूपवाद' को आत्यंतिक महत्त्व देता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने भारतीय 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' की भी आलोचना की है। 'अभिव्यंजनावादियों के अनुसार जिस रूप में अभिव्यंजना होती है, उससे भिन्न अर्थ आदि का विचार कला में अनावश्यक है'—यह टिप्पणी करते हुए, आ० शुक्ल ने वाल्मीकि-रामायण से यह उक्ति उद्धृत की है—'न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः'—और यह कहा है कि 'कवि का कथन यही वाक्य है, यह नहीं कि जिस प्रकार बाली मारा गया, उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो।''[33]

इस विषय में हम नहीं समझते कि 'अभिव्यक्तिवाद' किसी बाह्यीकृत अभिव्यक्ति (उक्ति) में उपलभ्य व्यंग्यार्थ का विरोध करता है। वह तो केवल इतना मानता है कि आन्तर अभिव्यक्ति की बाह्य अभिव्यक्ति भी, यद्यपि उसे वह परोक्ष कोटिक कला मानता है—अपने में पूर्ण होती है और उसे अन्य शब्दावली से बदला नहीं जा सकता क्योंकि ऐसा करने से कवि की मूल रूपमयी अभिव्यक्ति जिसे उसने, आलोक-क्षणों में, सहजानुभव या अन्तर्ज्ञान द्वारा अधिगत किया है, प्रतिहत हो जायेगी। आ० शुक्ल स्वयं 'वाच्यार्थ' में ही कविता का 'रमणीयत्व' मानते हैं, बशर्ते कि उक्ति का अनूठापन रस अथवा भाव से प्रेरित हो। क्रोचे के निरूपण में भी विशिष्ट प्रकार की सहजानुभव-मूलक अभिव्यक्ति ही 'कला' पद की अधिकारिणी बनती है। अतएव जिस-किसी भी उक्ति को कविता मानने का पक्षधर क्रोचे नहीं है—यद्यपि उसके प्रतिपादनों में उलझनें अवश्य आयी हैं तथापि यह आरोप कि 'अभिव्यक्तिवाद'—शुक्लजी की अभिधा में, अभिव्यंजनावाद'—'अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़, केवल वाग्वैचित्र्य को पकड़ कर चला है', अनुचित एवम् अप्रतिष्ठ है।[34]

इसी संदर्भ में किया गया आ० शुक्ल का यह कथन तथ्य से कोसों दूर है कि 'अभिव्यंजनावाद' भारतीय 'वक्रोक्तिवाद' का ही 'नया रूप या विलायती उत्थान है।''[35] 'वक्रोक्तिवाद' 'वैदग्ध्य-भंगी-भणिति' पर बल देते हुए भी,

---

३३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १०४।

३४. वही, पृ० १०५।

३५. वही, पृ० १२७।

यह मानता है कि काव्य का सौन्दर्य वहीं प्रस्फुटित होता है जहाँ एक शब्द दूसरे शब्द के साथ और एक अर्थ दूसरे अर्थ के साथ परस्पर स्पर्धा करते हुए, मनोरम रीति से समन्वित हों, अन्यथा सहृदयों को आह्लाद नहीं प्राप्त होगा—"सहितौ इत्यत्रापि शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यान्तरेण साहित्यं परस्पर-स्पर्द्धित्व--लक्षणमेव विवक्षितम् । अन्यथा तद्विदाह्लादकारित्व-हानिः प्रसज्येत् ।" (वक्रोक्तिजीवित) । अतः कुन्तक भी कोरे शाब्दिक चमत्कार या शिल्पगत वैचित्र्य के हिमायती नहीं है ।

'विलायती उत्थान' वाली टिप्पणी तो नितान्त अनर्गल है । 'वक्रोक्तिवाद' स्पष्टरूपेण 'तद्विदाह्लाद-कारित्व' की घोषणा करता है । 'अभिव्यक्तिवाद' ऐसी कोई मान्यता प्रकाश्यरूप से स्थापित नहीं करता । उसका सम्पूर्ण बलाघात अन्तर्ज्ञानात्मक उस आन्तरिक अभिव्यक्ति पर पड़ता है जो संवेदनों तथा धुँधले मानसिक संस्कारों को हमारे अन्तर्मानस में एक रूप या बिम्ब के आयाम में समंजस करती है । इस प्रकार 'वक्रोक्तिवाद' जहाँ प्रत्यक्षतः आह्लादोत्पादक वाग्-वैदग्ध्य पर जोर देता है, वहाँ 'अभिव्यक्तिवाद' आंतरिक अभिव्यक्ति की पूर्णता एवम् प्राञ्जलता को महत्व देता है जिसमें वचन-वैदग्धी नेपथ्य में चली गयी है ।

आ० शुक्ल ने क्रोचे को 'अधिकांशतः' समझते हुए भी, उसकी आंतर-'अभिव्यक्ति' को बाह्य 'अभिव्यंजना' मान लिया है—यही उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता है ।

(१३) आई० ए० रिचर्ड्स और आ० शुक्ल

आचार्य शुक्ल ने लगभग एक दर्जन प्रसंगों में रिचर्ड्स को उद्धृत किया है अथवा उनका उल्लेख किया है । वर्तमान विद्वान् भी प्रायः इन दोनों को तुलित करते हैं । अतएव, आ० शुक्ल और डॉ० रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का संक्षिप्त तौलनिक परीक्षण यहाँ वांछनीय प्रतीत होता है ।

कविता का लक्ष्य—रिचर्ड्स की मान्यता है कि कविता का लक्ष्य विविध आवेगों तथा अन्तःप्रेरणाओं में सामंजस्य स्थापित करना है । इस सन्दर्भ में उसने अपने प्रसिद्ध 'मूल्य का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त' (साइकोलोजिकल थ्योरी आफ वैल्यू) का निरूपण किया है जिससे उसकी सम्पूर्ण काव्यालोचन-दृष्टि उपरंजित है । उसके मान्यतानुसार मानव-मस्तिष्क में प्रेरणाओं अथवा आवेगों एवं कांक्षाओं (अप्पीटेंसीज) के अनेक छोटे-बड़े संघटन अथवा उप-संघटन वर्तमान होते हैं और प्रत्येक नया अनुभव उन्हें प्रभावित करता है । इस प्रभाव की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता के अनुरूप उस अनुभव का मूल्य निर्धारित होता है । बाह्य उत्तेजनों से प्राप्त अनुभव यदि मानसी संघटन को

पुष्ट करता है, तो वह मूल्यवान है और यदि वह उसे आघात पहुँचाता है या किसी प्रकार उसमें अव्यवस्था उत्पन्न करता है, तो वह गर्हणीय है। रिचर्ड्स कतिपय आवेगीय संघटनों को अन्यों की तुलना में बलवान् तथा महत्वपूर्ण मानता है और जो अनुभव इन संघटनों को क्षति पहुँचाये बिना अन्तर्व्यवस्था में समंजित हो जाता है, वही उसके अनुसार वांछनीय है। प्रेरणाओं तथा कांक्षाओं का न्यूनतम व्याघात और अधिकतम सन्तुष्टि मानसी विकास का 'सिद्धान्त' है और इस आन्तरिक सन्तुलन वा व्यवस्थापन में योग देना कविता का उद्देश्य है। यहाँ अवधेय है कि रिचर्ड्स ने अ-व्याघात (नॉन-फ्रस्ट्रेशन) तथा सन्तुष्टि (सैटिसफैकशन) दोनों को प्रायः पर्याय मान लिया है।[३६]

रिचर्ड्स और सामंजस्य—रिचर्ड्स ने इस सन्दर्भ में प्रायः 'इक्विलिब्रियम', 'बैलेंस', 'प्वायज़' तथा 'आर्गनाइजेशन' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनका तात्पर्य 'सन्तुलन', 'व्यवस्थापन' अथवा 'सामंजस्य' जैसे शब्दों से ही अभिव्यक्त हो सकता है। हिन्दी के विद्वानों में 'सामंजस्य' का अधिक प्रचलन हो गया है। आचार्य शुक्ल ने कई स्थलों पर 'सामंजस्य' शब्द का प्रयोग किया है। हृदय की 'अनेकभावात्मकता' की चर्चा करते हुए, वे कहते हैं—'इन अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी हो सकता है जबकि उन सबका प्रकृत 'सामंजस्य' जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों और व्यापारों के साथ हो जाय। × × × जहाँ व्यक्ति-जीवन का लोक-जीवन में लय हो जाता है, वहीं भाव की पवित्र भूमि है। वहीं विश्व-हृदय का आभास मिलता है। जहाँ जगत् के साथ हृदय का पूर्ण 'सामंजस्य' घटित हो जाता है, वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति भी स्वतः मंगलोन्मुखी हो जाती हैं।'[३७] यहाँ जागतिक रूप-व्यापारों के साथ हृदय के पूर्ण सामंजस्य, अर्थात् तादात्म्य का कथन हुआ है जिसकी विशेषता है, व्यक्ति-सत्ता का परिहार और लोक-सत्ता में उसका विलीनीकरण। स्मरणीय है कि शुक्लजी की 'रसदशा' भी यही है।

इसी सन्दर्भ में उन्होंने आगे अन्तःप्रकृति में निहित अनेक भावों या वृत्तियों और बाह्य प्रकृति में उपलब्ध अनेक रूपों तथा व्यापारों का उल्लेख करते हुए, 'दोनों विधानों' की घोर जटिलता' का कथन किया है, लेकिन उसके ठीक बाद, वे कहते हैं—'इन्हीं परस्पर-सम्बद्ध विविध 'वृत्तियों' का 'सामंजस्य' काव्य का परम उत्कर्ष और सबसे बड़ा 'मूल्य' है। 'सामंजस्य' काव्य और जीवन दोनों की सफलता का मूल मन्त्र है।'[३८]

---

36. 'Principles of Literary Criticism, Chapter VI.

३७. चिन्तामणि, दूसरा भाग, सं० २००२ वि०, पृ० ५०-५१।

३८. वही, पृ० ६०-६१।

हम यहाँ रेखांकित यह करना चाहते हैं कि 'त्रिविध वृत्तियों' के साथ यहाँ 'सामंजस्य' शब्द का प्रयोग शुक्लजी ने अनवधानता से किया है, क्योंकि ये 'वृत्तियाँ' अन्तःप्रकृति की हैं, 'भीतरी विधान' की हैं, बाह्य प्रकृति अथवा 'बाहरी विधान' की नहीं, क्योंकि वहाँ वृत्तियाँ नहीं, 'रूप' वा 'व्यापार' हैं। लेकिन उसी अनुक्रम में, उन्होंने तमसा-तट की क्रौञ्च-वध वाली हृदय-विदारक घटना का उल्लेख करते हुए, 'मा निषाद' वाले प्रसिद्ध छन्द में प्रतिष्ठित काव्य के 'स्वरूप' की प्रशंसा की है और अपने समर्थन में रिचर्ड्स को उद्धृत किया है। लगता है, आचार्य-प्रवर अपने पाश्चात्य सहयोगी के अनावश्यक प्रभाव में आ गये हैं और अपनी ही काव्य-दृष्टि को तनिक प्रदूषित कर दिया है।[३८] रिचर्ड्स ने बाह्य प्रकृति के साथ अन्तःप्रकृति के सामंजस्य की बात कहीं नहीं कही है। उनका सम्पूर्ण निरूपण अन्तःप्रकृति के सामंजस्य पर केन्द्रित है, वह भी हमारी जानी-पहचानी अन्तःप्रकृति नहीं, अपितु 'स्नायु-मंडल' ('नर्वस सिस्टम') वाली गुह्य व्यवस्था जिसकी गतिविधियों की पूर्ण जानकारी का अभाव स्वयं रिचर्ड्स ने बार-बार कथित किया है।

इसके विपरीत, आचार्य शुक्ल ने बराबर 'शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध' के स्थापन को महत्त्व दिया है जिससे व्यक्ति-हृदय लोक-हृदय अथवा 'विश्व-हृदय' में लीन हो जाता है और 'रसदशा' की उपलब्धि होती है। रिचर्ड्स के लिए 'विश्व-हृदय' के साथ सामंजस्य का प्रश्न ही उपपन्न नहीं होता, वे केवल आन्तरवृत्तियों-आवेगों तथा एषणाओं के समंजस समीकरण को महत्त्व देते हैं। 'मा निषाद' के निर्वचन में आचार्य शुक्ल ने निश्चिततया, कवि-हृदय के शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की प्राप्ति के माध्यम से विश्व-हृदय में लीन हो जाने का तथ्य विवृत्त किया है जिसके साथ रिचर्ड्स के अनुभववादी मूल्य-सिद्धान्त की संगति, 'द्राविड़ प्राणायाम' के बिना, कथमपि नहीं स्थापित की जा सकती। उपर्युक्त उद्धरण में 'सबसे बड़ा मूल्य' का कथन रिचर्ड्स के अचेतन प्रभाव की व्यंजना करता है। कतिपय विद्वानों ने 'सामंजस्य' शब्द के आधार पर इन दोनों समालोचकों की मनोभूमियों में सामंजस्य प्रदर्शित करने की चेष्टा की है जो तर्क-प्रतिष्ठित नहीं।

रिचर्ड्स से शुक्लजी की पृथक्ता—आ० शुक्ल को रिचर्ड्स से पृथक् करनेवाला सबसे महत्त्वशाली तथ्य है, उनकी भक्ति-प्रेरित मनोदृष्टि का खमीर। उनका काव्यलक्ष्य-निरूपण विश्व-हृदय को भगवान् के हृदय के पर्याय-रूप में ग्रहण करता है। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' वाले निबन्ध में शुक्लजी ने कहा है—"हमारे यहाँ काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना, जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे

---

३८. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ६१।

से अपने हृदय को निकालकर, उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊँचे-से-ऊँचे उद्देश्य आ जाते हैं। इसी लक्ष्य की साधना से मनुष्य का हृदय जब विश्व-हृदय, भगवान् के लोक-रक्षक और लोकरंजक हृदय से जा मिलता है, तब वह भक्ति में लीन कहा जाता है। भक्ति धर्म और ज्ञान दोनों की रसात्मक अनुभूति है।[४०]

'विश्वव्यापिनी और त्रिकालवर्तिनी अनुभूति' में 'लोकसामान्य भावभूमि' का तत्त्व सन्निहित है जहाँ मनुष्य शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की प्रतीति करता है। शुक्लजी ने उसे 'विश्व-हृदय' से, जिसे उन्होंने अन्यत्र 'परम हृदय' भी कहा है, जोड़कर तत्काल उसका भगवान् के हृदय से समीकरण कर दिया है। फलतः उनका काव्य-लक्ष्य अन्ततोगत्वा भक्तिभाव में पर्यवसित हो गया है जिसमें धर्म, कर्म और ज्ञान तीनों समंजस होकर पाठक को रसदशा की उपलब्धि कराते हैं। शुक्लजी की विचारणा में शेष सृष्टि के साथ मानव-हृदय के रागात्मक तादात्म्य-स्थापन की यह स्वाभाविक परिणति है। विशुद्ध काव्य-विमर्श से प्रस्थान कर वे ऐसी भावदशा तक पहुँच गये हैं जहाँ बुद्धि तथा हृदय में सामंजस्य स्थापित करने वाला भक्तिकाव्य सर्वश्रेष्ठ बन गया है—"× × × हृदय की ऐसी भाव-दशा कभी-कभी होती है जिसका न धर्म से विरोध होता है, न ज्ञान से और न किसी दूसरी भावदशा से। यही 'सामंजस्य' हमारे यहाँ का मूलमन्त्र है। जिस काव्य में यह सामंजस्य न होगा, उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।"[४१]

अतएव यह स्पष्ट है कि जहाँ रिचर्ड्स कठोर मनोवैज्ञानिक प्रतिबद्धता में अन्तर्वृत्तियों के सन्तुलन की कक्षा से बाहर नहीं निकल सके हैं, वहाँ आचार्य शुक्ल का अभीप्सित 'सामंजस्य' व्यक्त विश्व और अव्यक्त विश्वातीर्ण सत्ता की सगुण विभूतियों के साथ रागात्मक सामरस्य का व्यंजक बन गया है।

काव्यानुभव की सामान्यता—काव्यानुभूति की सामान्यता के विषय में आ० शुक्ल तथा रिचर्ड्स दोनों में मतैक्य है। दोनों ने 'कला, कला के लिए' अथवा 'कविता, कविता के लिए' जैसे जीवन-निरपेक्ष सिद्धान्तों का खण्डन किया है।[४२] आ० शुक्ल का कथन है कि रसानुभूति, अर्थात् काव्यानुभूति, वास्तव में 'जीवन के भीतर की ही अनुभूति है, आसमान से उतरी हुई कोई वस्तु नहीं है।'[४३] वे इस अनुभूति को 'प्रत्यक्ष या असली अनुभूति' से कटी हुई

४०. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० २१२-१३।

४१. वही, पृ० २१४।

४२. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८८, दूसरा भाग, पृ० ११७, २०८।

४३. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ११५।

नहीं मानते। अपने इस कथन के समर्थन में उन्होंने रिचर्ड्स को प्रशंसात्मक भंगिमा से पुनः उद्धृत किया है।[४३-क]

उल्लेखनीय है कि शुक्लजी ने 'रसात्मक बोध के विविध रूपों' का प्रतिपादन करते हुए यह प्रदर्शित किया है कि व्यक्त जगत् के कतिपय रूपों तथा व्यापारों के प्रत्यक्ष अवलोकन से सहृदयों को वैसी-ही रसानुभूति होती है जैसी कविता के अनुशीलन से। इस अनुभूति की विशेषताएँ व्यक्ति की पृथक् सत्ता के परिहार तथा लोक-हृदय में उसके लीन हो जाने के रूप में पहचानी गयी है।[४४] तथापि शुक्ल जी का वर्तमान निरूपण कुछ 'रिजर्वेशन' के साथ किया गया है। उनका कथन है— "यदि दोनों बातों को प्रत्यक्ष आलंबनों के प्रति जगनेवाले भावों की अनुभूति पर घटाकर देखते हैं तो पता चलता है कि कुछ भावों में तो ये बातें कुछ-ही दशाओं में या कुछ अंशों तक घटित होती हैं और कुछ में बहुत दूर तक या बराबर।"[४५] उन्होंने उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि की है। अन्त में उनका निष्कर्ष है—"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।[४६]

रसात्मक अनुभूति को वास्तविक अनुभूति से पृथक् आभासित करानेवाले तत्त्व की खोज आचार्य शुक्ल ने 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया में की है जिसका अभिप्राय यह है कि "किसी काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की व्यंजना करनेवाले पात्र (आश्रय) का-ही आलम्बन नहीं रहता, बल्कि पाठक या श्रोता का भी--एक-ही नहीं, अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी-आलम्बन हो जाता है।" इस प्रकार, 'पृथक् सत्ता की भावना का परिहार" इस दशा का आवश्यक अंग है और शुक्ल जी के अनुसार उसे-ही पाश्चात्य समीक्षा में 'अहं का विसर्जन और निःसंगता' कहा गया है। उनकी टिप्पणी है कि इसी को रस का 'लोकोत्तरत्व' अथवा 'ब्रह्मानन्द' 'सहोदरत्व' भी कहा गया है, कहा जा सकता है।[४७]

रिचर्ड्स ने क्लाइव बेल तथा ब्रैडले जैसे कलावादी आलोचकों की आलोचना करते हुए, सौन्दर्यानुभव या काव्यानुभव से परम्परया लिपटी हुई निःसंगता, निर्वैयक्तिकता, विषयिनिष्ठता प्रभृति धारणाओं का अपलाप किया है और कला की तथोक्त रहस्यमयी अकथनीयता को इसी सौन्दर्यवादी मनः-

४३-क. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ५६।

४४. वही, पहला भाग, पृ० १९५-२००।

४५. वही, पृ० २००।

४६. वही, पृ० २०१-०२।

४७. वही, पृ० १९९।

स्थिति की 'समीपी सम्बन्धिनी' बताया है जो कविता के लिए अनिष्टकर सिद्ध हो सकती है। वे कहते हैं, काव्यानुभूति के विमर्श में एक गम्भीर त्रुटि यह रही है कि उसमें 'मूल्य' (काव्यानुभव के मूल्य) का विचार नहीं किया गया है। उनका निष्कर्ष है कि काव्यानुभूति को कोई ऐसी विशेषता नहीं होती जो निराली एवं विलक्षण 'सुई जनरिस' हो।[४८]

तथापि लक्षणीय यह है कि आचार्य शुक्ल और रिचर्ड्स काव्यचित्रित अनुभव की अविलक्षणता की सिद्धि के लिए जो तर्क-सरणी अपनाते हैं, वह भिन्न-भिन्न है। यह भिन्नता उन दोनों के मौलिक विभेद को उत्कीर्ण कर देती है। शुक्ल जी रसानुभूति अथवा काव्यानुभूति की निःसंगता एवं सार्वभौमता को स्वीकार कर, यह प्रदर्शित करते हैं कि प्रत्यक्ष अनुभवों में भी कभी-कभी, पूर्णतः या अंशतः, ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो काव्यवाली 'रसदशा' का व्यवच्छेदक गुण है, अर्थात् उनमें भी हमारी पृथक् सत्ता का परिहार और लोकसत्ता में उनका विलीनीकरण सम्पन्न होता है, और इस प्रकार काव्यानुभव सामान्य अनुभव से विलक्षण नहीं है। रिचर्ड्स, स्मरणीय है, इसे 'आउट-राइट' इनकार करते हैं कि काव्यानुभव में निःसगता, निर्वैयक्तिकता इत्यादि जैसे तत्त्व वर्तमान रहते हैं। उन्होंने प्रतिपादित किया है कि बाह्य उत्तेजनों से मानसिक, अधिक सही शब्दावली में, स्नायवी संघटन में जैसी अनुक्रियाएँ (रेसपांस) घटित होती हैं, वैसी ही कविता या कला के अनुशीलन से भी। अर्थात् न तो कविता में और न जीवन में हमें ऐसी निःसंग तथा निःस्वार्थ मनोदशा की प्राप्ति हो सकती है। यह विचित्र है कि शुक्ल जी ने, फिर भी, अपने समर्थन में रिचर्ड्स के दूसरे ग्रन्थ, 'व्यावहारिक समीक्षा' (प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म) से उद्धरण लिया है और टिप्पणी की है कि रिचर्ड्स को भी "कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति के रसात्मक होने का आभास' मिला है।[४९] कहाँ स्नायुमण्डल से जुड़े रिचर्ड्स और कहाँ हृदय-तत्त्व से जुड़ा भारतीय रसवाद !

आचार्य शुक्ल द्वारा प्रयुक्त दो विशेषण, 'उदात्त और अवदात', रसदशा की उपर्युक्त विशेषताओं—निःसंगता एवं व्यक्ति-सत्ता के लोक-सत्ता में विलीनीकरण—को रेखांकित करते हैं, जबकि रिचर्ड्स के लिये कोई भी अनुभव इन विशेषताओं से समन्वित नहीं है।

लेकिन ऐसी बात नहीं कि रिचर्ड्स सामान्य अनुभव और कलाजन्य अनुभव में कोई भेद ही नहीं मानते। स्थिति उलटी है। उनके मतानुसार यह भेद आवेगों की विरलता या सघनता पर आश्रित है। वास्तविक वस्तु के

४८. Principles, पृ० १७-१८।

४९. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० २०१-२०२ (पाद-टिप्पणी)।

प्रत्यक्ष से कुछ आवेग जगते हैं जो हमारे बाह्याचरण को प्रभावित करते हैं, किन्तु जब हम कला में उस वस्तु का चित्र देखते हैं तब हमारा यह ज्ञान कि वह 'चित्र' है, वास्तविक वस्तु नहीं, हमारे भीतर नये आवेग उत्पन्न करता है। अतः कला या कविता में हमारा अनुभव संशोधित हो जाता है और आवेगों की प्रचुरता या संकुलता से जटिल तथा समृद्ध बन जाता है। इस प्रकार सामान्य अनुभव और कलाजन्य अनुभव का भेद, अन्ततः, विभिन्न अनुभवों के मिश्रण, समायोजन तथा समन्वय से उत्पन्न होता है।[५०] यह स्मर्तव्य है कि रसानुभूति की व्याख्या में प्रकृत वस्तु और उसके चित्र का, 'चित्रतुरग न्याय' के प्रश्रयण से आचार्य शंकुक द्वारा दृष्टान्त दिया गया है जिसमें वस्तु तथा उसके चित्र में वर्तमान भेद को 'रसदशा' में, अनुमान द्वारा, विलुप्त समझा गया है। विवक्षा यह है कि जिस चित्र के दृष्टान्त से हमारे यहाँ काव्यानुभूति की 'रसात्मकता' की व्याख्या की गई है, उसी चित्र के उदाहरण से रिचर्ड्स काव्यानुभव की 'जटिलता' का रेखांकन कर रहे हैं। अतएव रसवादी आचार्य शुक्ल और रिचर्ड्स के मौलिक दृष्टिभेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती-- यद्यपि शुक्ल जी बारम्बार रिचर्ड्स का उद्धरण देकर, स्वयं अपनी विलक्षण वैपश्चिती प्रज्ञा के साथ अन्याय करते-से प्रतीत हो रहे हैं।

रिचर्ड्स की अलंकार योजना—रिचर्ड्स ने अपने अन्य ग्रंथ, 'व्यावहारिक समीक्षा' में 'फिगरेटिव लेंग्वेज' (आलंकारिक भाषा) शीर्षक परिच्छेद में अप्रस्तुत-योजना पर विचार किया है। कवि द्वारा प्रयुक्त उपमानों के संबंध में उन्होंने पाठकों की दो मनोदृष्टियों की पहचान की है, पहली अत्यधिक शब्द-बद्धता (लिटरलिज्म) और दूसरी अत्यधिक स्वच्छन्दता (लिबर्टीज)। पहली से अभिप्राय यह है कि पाठक कविता में प्रयुक्त अप्रस्तुतों के रूप, आकार-प्रकारादि को महत्त्व देकर, 'वैज्ञानिक सटीकता' (साइंटिफिक प्रीसिशन) की माँग करते हैं जिस कठोर वस्तुमूलक कसौटी पर अधिकांश रूपक खरे नहीं उतरते हैं, नहीं उतरेंगे। दूसरी से अभिप्राय यह है कि कुछ पाठक वस्तुगत सादृश्य की एकान्त अवहेलना कर, 'सौन्दर्य-सत्य के वायवी समीकरण' में मनसा विरचरण करने लग जाते हैं। रिचर्ड्स इन दोनों दृष्टियों के बीच मध्यमार्ग के हिमायती हैं।[५१] उन्होंने रूपकों के अतिरिक्त, 'मानवीकरण' (परसनीफिकेशन) और 'अतिशयोक्ति' या अत्युक्ति (हाइपरबोल) के अपनाये जाने की प्रशंसा की है क्योंकि उनके नियोजन से कविता में 'सघनता तथा मितव्ययिता' (कण्डेन्सेशन ऐण्ड एकोनोमी) की रक्षा होती है और इस बात की भी निश्चिति होती है कि अलंकारमयी भाषा के प्रवाह में 'रागात्मक आवेग

---

५०. Principles, पृ० २१०-११।

५१. वही, पृ० १९३।

चूक न जायँ, सर्वथा विलुप्त न हो जायँ।[५२] यहाँ प्रकारान्तरेण, अप्रस्तुत-योजना में शुक्लजी द्वारा बलाघातित 'भाव की प्रेरणा' का परोक्ष समर्थन मिलता है।

तथापि रिचर्ड्स बहुत दूर तक, अन्त तक आचार्य शुक्ल के साथ चलने को तैयार नहीं हैं। अर्थ के चतुर्विध प्रकारों का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि "कविता में निबद्ध कथन भावना को प्रभावित करने के निमित्त होते हैं। कवि अपने कथनों को तोड़-मरोड़ सकता है, वह प्रस्तुत विषय से सर्वथा असंबद्ध कथन कर सकता है, वह रूपकादि की योजना से हमारे विचार में ऐसी वस्तुएँ ला सकता है जो नितान्त तर्कहीन हों, वह तर्कदृष्टि से अत्यन्त मूर्खतापूर्ण कथन कर सकता है, किन्तु इन सबका उद्देश्य रहता है—भाषिक प्रयोगों के अन्य तीन व्यापारों की सिद्धि, अर्थात्, या तो भावना की अभिव्यक्ति के लिए या श्रोताओं अथवा पाठकों के प्रति अपने विशिष्ट सम्बन्ध की रक्षा के लिए, या फिर असली मन्तव्य की पुष्टि के लिए।[५३]

प्रस्तुत उद्धरण से ऐसा समझना प्रमाद होगा कि रिचर्ड्स शुक्लजी की तरह केवल भाव-व्यंजना को महत्त्व दे रहे हैं और कवि-कथनों की विकृतियों का समर्थन इसी कारण कर रहे हैं कि वे भाव-सम्प्रेष्यता में सहायक हों। लेकिन बात ऐसी नहीं है। उनका स्पष्ट कथन है कि कविता में आलंकारिक भाषा की जाँच करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि इसमें उद्देश्य (Aim) का सर्वोपरि महत्त्व है। यह 'एम' मन्तव्य या 'इण्टेन्शन' ही है जिसकी सिद्धि सबसे बड़ा प्रकाम्य है। रिचर्ड्स ने कहा है कि उद्देश्य का अर्थ है "मस्तिष्क की सम्पूर्ण स्थिति, मानसिक अवस्था, जो ही कविता है—साधारणतः, आवेगों अथवा प्रेरणाओं का समूह जिसने आरम्भ में कविता को सम्मूर्तित किया, जिसे उसने अभिव्यक्ति प्रदान की और जिसे वह संवेदनशील पाठक के भीतर पुनः जाग्रत करेगी। × × × उद्देश्य से मेरा मतलब किन्हीं सामाजिक, सौन्दर्य-शास्त्रीय, व्यावसायिक अथवा प्रचारात्मक प्रयोजनों से नहीं है, और न कवि की आशाओं-आकांक्षाओं से है।[५४]

उपर्युक्त उद्धरण से यह निर्भ्रान्त रूप से प्रकट होता है कि रिचर्ड्स की

---

५२. Practical Criticism (1970), पृ० २००-०१।

५३. रिचर्ड्स के चार अर्थ हैं—'सेन्स' या वस्तु, 'फीलिंग' या भावना, 'टोन' या वक्ता का बोद्धव्य के प्रति अपने विशिष्ट सम्बन्ध की चेतना और 'इण्टेन्शन' या मूल उद्देश्य या मन्तव्य। दे० 'Practical Criti-cism', Part III, Chapter I.

५४. वही, पृ० २०१-२०४।

वांछित कल्पना जिस अलंकारमयी भाषा का आश्रय ग्रहण करती है, उसका मुख्य प्रयोजन उन आवेगों की अर्थात् उस समग्र मनःस्थिति की रक्षा तथा सम्प्रेषण है जिसमें कविता का जन्म हुआ था, भाव-व्यंजना तो यहाँ एक गौण वस्तु है। स्पष्ट-ही 'आवेग-समुच्चय' का कथन कर, रिचर्ड्स पुनः परोक्ष रूप से अपने अनुभववादी मूल्य पर लौट आये हैं जिसकी निष्पत्ति स्नायु-संस्थान में सन्निहित प्रेरणापुञ्जों अथवा आवेगीय संघटनों-उपसंघटनों के संतुलन में होती है।

रिचर्ड्स ने अभिव्यक्ति-पक्ष के सन्दर्भ में 'सेन्स मेटाफर' (वस्तु-व्यंजक रूपक) और 'इमोटिव मेटाफर' (भाव-व्यंजक रूपक) का निरूपण किया है। शुक्लजी को पहले प्रकार के रूपक से कोई लगाव नहीं है क्योंकि वे भाव-व्यंजना को मूल महत्त्व प्रदान करते हैं। इसी कारण उन्होंने 'साध्यवसान रूपक' की निन्दा की है। अवधेय यह है कि वे 'भाग्यवादी' हैं जबकि रिचर्ड्स 'मस्तिष्कवादी' हैं।

रिचर्ड्स ने अर्थ के चतुर्विध प्रकारों का निरूपण किया है, यथा--'सेन्स', 'फीलिंग', 'टोन', और 'इण्टेन्शन'। आचार्य शुक्ल ने सामान्यतः इन अर्थों का समर्थन किया है और यह टिप्पणी की है कि "काव्य-मीमांसा की यह वही पद्धति है जो हमारे यहाँ स्वीकृत है।" इस प्रसंग में हमारा निवेदन है कि शुक्लजी ने काव्य के अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बन्धित रिचर्ड्स के निरूपण से प्रभावित होकर-ही ऐसा कथन किया है। उल्लेख्य है कि अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में लगभग एक-जैसी धारणाएँ संसार की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण समीक्षा-पद्धतियों में प्राप्तव्य हैं। व्यवच्छेदक विशेषता जो रिचर्ड्स को आचार्य शुक्ल से पृथक् करती हैं, वह है उनका (रिचर्ड्स का) मानसिक सन्तुलनवाला सिद्धान्त। यह आश्चर्य है, शुक्लजी जैसे सूक्ष्म-भेदिनी प्रतिभा से सम्पन्न आलोचक ने, जो बराबर कविता का लक्ष्य मानता रहा 'हृदय की मुक्ति की सिद्धि', कैसे रिचर्ड्स को भारतीय आचार्यों की कक्षा में प्रतिष्ठित कर दिया?

वस्तु-पक्ष की अवहेलना—त्रासदी (ट्रैजिडी) की रिचर्ड्स ने भूरिशः प्रशंसा की है और यह प्रतिपन्न किया है कि उसमें विरोधी-अवरोधी आवेगों तथा प्रेरणाओं को समंजित एवं संतुलित करने की अपूर्व क्षमता है। हमने अन्यत्र दिखाया है कि रिचर्ड्स की यह मान्यता निराधार है। जिस आन्तरिक सन्तुलन तथा मनोविश्रान्ति को रिचर्ड्स त्रासदी के अनुशीलन की उपलब्धि मानते हैं, उसकी व्याख्या 'रस-दशा' की निष्पत्ति में अधिक औचित्य-पूर्वक की जा सकती है।[५५] इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय यह है कि रिचर्ड्स मानसिक

५५. 'A Critical Approach to Classical Indian Poetics' (लेखक-कृत)।

सन्तुलन का कोई सम्बन्ध उत्तेजन प्रदान करने वाली वस्तु के संघटन (स्ट्रक्चर आफ दि स्टिमुलेटिंग आब्जेक्ट) से नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि त्रासदी या अन्य मूल्यवान् कलाओं से उपलभ्य संतुलनपूर्ण मनोदशा 'एक कालीन, एक बर्तन, एक अंगभंगी से उसी नैश्चित्य के साथ प्राप्त हो सकती है जितनी निश्चितिपूर्वक एथेन्सनगर में निर्मित सौन्दर्य की देवी एथीन के मन्दिर से प्राप्त हो सकती है। यह किसी वैदग्ध्यपूर्ण छोटी कविता से उतनी ही स्पष्टता से घटित हो सकती है जितनी स्पष्टता से पियानो इत्यादि वाद्यों पर गेय किसी रचना से। वस्तु में लक्षित विरोधी विशेषताओं के रूप में इस मनोदशा के कारणों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। उत्तेजन प्रदान करने वाले पदार्थ या वस्तु के संघटन में वह संतुलन नहीं है, अपितु प्रभाव या अनुभव (रेस्पांस) में हैं।''[५६]

प्रस्तुत उद्धरण में रिचर्ड्स द्वारा कविता के वस्तु-पक्ष की ऐकान्तिक अवहेलना द्रष्टव्य है। आचार्य शुक्ल ने निरन्तर 'विभाव-पक्ष' को महत्व दिया है।[५७] कारण कि भाव-व्यंजना का आधार विभाव-ही है—'शून्यभित्ति' पर मनोभावों अथवा मनोवेगों का हवाई महल नहीं खड़ा किया जा सकता। रिचर्ड्स का यह मानना कि उनका अभीष्ट 'मनः सन्तुलन' (बैलेंस्ड प्वायज) वस्तु की रूप-रचना अथवा बनावट में नहीं, अनुभव मे है, काव्यानुशीलन के व्यावहारिक अनुभव के विरोध में पड़ता है। यह तो वैसी-ही बात होगी जैसा यह कथन कि 'हनुमान-चालीसा' से वही मनस्तुष्टि प्राप्त होगी जैसी 'रामचरित मानस' से। रिचर्ड्स के उपर्युक्त कथन की आलोचना स्वयं पाश्चात्यों ने की है क्योंकि उसमें अतिवादी प्रतिबद्धता की गंध साफ-साफ आ रही है। अपने ग्रंथ 'दि न्यू क्रिटिसिज्म' में जोन क्रोरैनसम ने कहा है—'यदि रिचर्ड्स का यह कथन स्वीकार कर लिया जाय कि यह 'मनःसंतुलन उत्तेजन प्रदान करनेवाली वस्तु (कविता) की बनावट में नहीं है, तब तो काव्य-वस्तु के विश्लेषण का सारा प्रयत्न ही व्यर्थ सिद्ध हो जायेगा। यही नहीं, कविता को एक विशिष्ट 'रूप' या 'आकृति' ('शेप') में ढालने का कवि का परिश्रम भी निरर्थक-ही समझा जायेगा। रिचर्ड्स कहते हैं कि वर्तमान रूप में वह कविता रहे, यह आवश्यक नहीं। उसकी उचित आकृति क्या होगी—हमारे लिए उसकी जानकारी सम्भव नही है। अपने तईं तो रिचर्ड्स महसूस करते हैं कि वे इतना जान भी नहीं सकते कि कविता में वह कौन-सी चीज है जो हमें उत्तेजन प्रदान करती है।''[५८] यह समझने में देर नहीं लगती कि रिचर्ड्स

---

५६. 'Principles', पृ० २४८।

५७. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १११, 'रसमीमांसा, पृ० १०६।

५८. 'Literary Criticism : A short History' by William Winscott and Cleanth Brooks (Yale University), Second Indian Reprint', पृ० ६२०-२१।

हमें भूल-भुलैया में डाल देते हैं। उन्होंने वस्तु-तत्त्व की उपेक्षा इसी कारण की है कि ऐसा न हो कि हम यह समझ बैठें कि हमें 'सौन्दर्य' का कोई सूत्र मिल गया है—"By remembering this, we escape the donger of supposing that we have found a formula for beauty."[५९] सौन्दर्य को वस्तु से काटकर, उन्होंने हमें स्नायवी रहस्यलोक में ढकेल दिया है। विद्वानों ने बताया है कि नीत्शे ने भी त्रासदी की प्रशंसा में यह तर्क-सरणी दी थी कि उसके 'विरोधों' तथा 'वैषम्यों' को विजित होना पड़ता है और यह कहा था कि महान् कलाकार वे हैं जो "प्रत्येक भिन्नता अथवा विरोध में से सामंजस्य की ध्वनि निनादित करते हैं।" किन्तु तब नीत्शे ने कविता की समग्र बनावट (टोटल स्ट्रक्चर) को महत्त्व दिया है, वस्तु-विन्यास में ही वैषम्य (डिस्कार्ड) है और "क्षणस्थायी विसंवादी ध्वनियाँ कविता की पूर्ण बनावट में विलीन होकर महत्तर एवं बृहत्तर संगीत को जन्म देती हैं।" रिचर्ड्स का निरूपण सर्वथा निराला है।[६०]

(ग)

निष्कर्ष—आचार्य शुक्ल और डॉ० रिचर्ड्स के समीक्षा सिद्धान्तों की जो तुलनात्मक परीक्षा ऊपर की गयी है, उससे यह साफ हो जाता है कि आपातिक समानताओं के बावजूद, दोनों की मूल मान्यताएँ भिन्न-भिन्न हैं। समालोचना के क्षेत्र में रिचर्ड्स का वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने नये प्रस्थान का निरूपण किया है।

आ० शुक्ल और रिचर्ड्स की मान्यताओं की जो संक्षिप्त विवेचना अभी प्रस्तुत की गयी है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि सतही समानताओं के बावजूद उनकी मौलिक दृष्टियों में अन्तर है— जिधर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है। आचार्य शुक्ल जहाँ विशुद्ध रसवादी आचार्य हैं, वहीं रिचर्ड्स विशुद्ध मस्तिष्कवादी 'न्यूरोलोजिस्ट' (स्नायु-शास्त्री) हैं। दोनों का मौलिक विभेद रिचर्ड्स के इस कथन के आलोक में समझा जा सकता है—

"We are our bodies, more especially our nervous system." रिचर्ड्स के स्नायु-मण्डल तथा आ० शुक्ल के 'हृदय-मुक्ति'— हृदय में बादरायण सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता है।

———

५९. Principle, पृ० २४८।

६०. 'Literary Criticism : A Short History, पृ० ६२१.

(३) व्यावहारिक समीक्षाएँ

(१४) जायसी की 'पद्मावत'
(१५) सूरदास
(१६) तुलसीदास

(१४) जायसी की 'पद्मावत'

तत्त्वाभिनिवेशी समालोचना—जायसी-ग्रंथावली की भूमिका आ० शुक्ल की तत्त्वाभिनिवेशी समालोचन-शक्ति का उन्मीलन करती है। 'प्रेम की पीर' को लेकर चलनेवाले सूफी कवियों की प्रमुख विशिष्टता की उनकी पहचान उनकी लोकमंगल-मूलक काव्य-दृष्टि की परिचायक है। 'एक ही गुप्त तार मनुष्य मात्र के हृदयों से होता हुआ गया है जिसे छूते-ही मनुष्य सारे बाहरी रूप-रंग के भेदों की ओर से ध्यान हटा, एकत्व का अनुभव करने लगता है'—इसे ही प्रदर्शित करना इन भावुक मुसलमान कवियों का प्रदेय है, ऐसी शुक्ल जी की प्रतिपत्ति है। कबीर की 'अटपटी बानी' से हिन्दू-मुसलमानों के बीच रागात्मक सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका था, यह कार्य जायसी ने हिन्दू समाज में प्रचलित प्रेम-कथा के वर्णन से सम्पादित किया। आ० शुक्ल ने अपने प्रिय सिद्धान्त 'लोक-सामान्य भावभूमि' का हा प्रतिबिम्बन जायसी की कहानी में देखा है।

'पद्मावत' की प्रेम-पद्धति—'पद्मावत' की 'प्रेम-पद्धति' का निरूपण करते हुए आ० शुक्ल ने भारतीय काव्य में दाम्पत्य प्रेम के आविर्भाव की चार प्रणालियों का जो निर्देश किया है[1] वह उनके अनुशीलन-पूर्ण गवेषणा पर प्रकाश डालता है। प्रेम-वर्णन की पद्धतियों की यह पहचान हिन्दी समालोचना में सबसे पहली है।

---

१. पहली प्रणाली वाल्मीकीय रामायण की है जिसमें विवाह-सम्बन्ध हो जाने के पश्चात् दाम्पत्य-प्रेम का विकास होता है। दूसरी प्रणाली विवाह-पूर्व प्रेम की है जिसमें नायक-नायिका उपवन, वीथी इत्यादि में मिल जाते और परस्पर अनुरक्त होकर, विवाह-सूत्र में बँध जाते हैं। तीसरी प्रणाली वह है जिसमें प्रेम का पल्लवन राजाओं के अन्तःपुर, उद्यान आदि में, सपत्नियों आदि के बीच होता है। चौथी प्रणाली वह है जिसमें गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन आदि के द्वारा नायक या नायिका में प्रेम का प्रादुर्भाव होता है और तब प्रयत्न-पूर्वक दोनों विवाह में संयुक्त हो जाते हैं।

'पद्मावत' के प्रेम-वर्णन की विशेषताओं का शुक्लजी द्वारा किया गया उद्घाटन महत्त्वपूर्ण है। पहली विशेषता उन्होंने बताई है, मानसिक पक्ष की प्रधानता और शारीरिक पक्ष (चुम्बन, आलिंगन इत्यादि) की गौणता। मन के उल्लास तथा वेदना की विवृत्ति में जायसी की काव्य-कला अधिक प्रवृत्त हुई है। प्रयत्न नायक (रत्नसेन) की ओर से प्रारम्भ हुआ है, किन्तु आगे चलकर, नायक और नायिका (पद्मावती) दोनों में प्रेम की तीव्रता समान बन गयी है। दूसरी विशेषता यह बतायी गई है कि फारसी मसनवियों के 'ऐकान्तिक, लोक-बाह्य और आदर्शात्मक' प्रेम और भारतीय पद्धति के 'लोक-सम्बद्ध और व्यवहारात्मक' प्रेम के बीच जायसी ने सामंजस्य स्थापित किया है।

भारतीय पद्धति का अभिप्राय आ० शुक्ल ने आदिकवि के रामायण से गृहीत किया है जहाँ राम का सीता-विषयक प्रेम राक्षसादि के दमन-रूप कर्म-सौन्दर्य के बीच प्रस्फुट एवं विकसित हुआ है। लेकिन वाल्मीकि तथा तुलसी के आधार पर किसी विशिष्ट भारतीय प्रेम-प्रणाली की पहचान युक्ति-संगत नहीं है क्योंकि उनकी रचनाएँ तत्त्वतः प्रेम-काव्य नहीं है। जैसा शुक्लजी ने स्वयं स्वीकार किया है, कृष्ण-चरित्र, कादम्बरी, नैषधीय चरित इत्यादि कहानियों में प्रेम का स्वरूप ऐकान्तिक बन गया हैं। यह सही है कि जायसी ने मसनवियो की प्रेम-कथाओं में वर्णित प्रेम के स्वरूप को प्रधानता देते हुए भी, बीच-बीच में लोक-व्यवहार से संलग्न तथ्यों का भी सन्निवेश किया है जिसके फलस्वरूप, 'पद्मावत' की प्रेम-पद्धति 'लोक-पक्ष' से समन्वित बन गयी है। जायसी की यह लोकपक्ष-सजगता श्लाघनीय है, किन्तु इसके बीज स्वयं उनकी प्रतिपाद्य कथा-वस्तु में ही सन्निहित हैं। फिर भी इस तथ्य के लिए जायसी प्रशंसनीय हैं कि उनकी चेतना भारतीय गार्हस्थिक परम्परा से जुड़ी हुई है—यद्यपि जैसा आ० शुक्ल ने कहा है, 'पद्मावत' 'शृङ्गार-प्रधान काव्य' ही है और 'राम-चरितमानस' जैसे काव्यों से उसकी तुलना नहीं की जा सकती।

रत्नसेन का पूर्वराग—शुक्लजी ने इस सन्दर्भ में रत्नसेन के 'पूर्वराग' का प्रश्न उठाया है। उनके विचार से, तोते के मुँह से पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर उत्पन्न रत्नसेन के पूर्वराग का चित्रण जैसा जायसी ने किया है, युक्ति-संगत नहीं है। पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनते ही राजा का मूर्च्छित हो जाना और पूर्ण वियोग-दशा को प्राप्त कर लेना अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

आ० शुक्ल ने इस प्रसंग में मनोविज्ञान-सम्मत एक तत्त्व की बात कही है। भारतीय आचार्य परम्परा में विप्रलम्भ शृङ्गार के सन्दर्भ में कतिपय काम-दशाओं का निरूपण किया गया है, यथा—अभिलाष, चिन्ता, गुणकथन, स्मृति,

उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा तथा मरण। प्रश्न उपपन्न होता है : क्या ये सभी दशाएँ 'पूर्वराग' की अवस्था में प्रदर्शनीय हैं ? आ० शुक्ल ने यहाँ ठीक ही कहा है कि 'पूर्वराग' 'पूर्ण-रति' नहीं है, अतः उसमें केवल 'अभिलाषा' स्वाभाविक जान पड़ती है; शरीर का सूखकर काँटा हो जाना, मूर्च्छा, उन्माद आदि नहीं। परन्तु संस्कृत के प्रायः सभी आचार्यों ने इन दशाओं को 'पूर्वराग' में भी समाविष्ट किया है। फिर भी, मम्मट का इस सम्बन्ध में मौन-ग्रहण अर्थगर्भित प्रतीत होता है। वस्तुतः उन्होंने विश्वनाथ के समान 'पूर्वानुराग', 'मान', 'प्रवास' तथा 'करुण' नाम से विप्रलम्भ के चतुष्प्रकारक भेद नहीं किये हैं। उनका वर्गीकरण इस प्रकार का है— 'अभिलाष-हेतुक', 'ईर्ष्या-हेतुक', 'विरह-हेतुक', 'प्रवास-हेतुक' तथा 'शाप-हेतुक'। 'विरह-हेतुक' विप्रलम्भ की कल्पना नवीन एवं तथ्यपूर्ण है जिसमें नायक-नायिका पास रहते हुए भी गुरुजनादि के भय या संकोच से मिल नहीं पाते। 'अभिलाष-हेतुक' विप्रलम्भ एक प्रकार से 'पूर्वराग' ही है। विश्वनाथ के अनुसार, सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की, समागम से पहली दशा का नाम 'पूर्वराग' है। 'श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढ़-रागयोः' का कथन महत्त्वपूर्ण है।[१-क] अर्थात्, दोनों में 'राग' की 'रूढ़ता' आवश्यक है 'पूर्वराग' की उपपन्नता के लिए। किन्तु वर्तमान प्रसंग में; 'राग' केवल रत्नसेन में उत्पन्न हुआ है, पद्मावती में नहीं, क्योंकि वह अभी उसके विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ है। शुक्लजी का कथन है कि इस पूर्वराग में केवल 'अभिलाषा' का चित्रण होना चाहिए—जबकि हमारी समझ में विश्वनाथ के अनुसार इसे 'पूर्वराग' कहना ही नहीं चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व-नाथ के 'पूर्वराग' में रति की इस एकतरफा दशा का ध्यान नहीं रखा गया है जिसमें केवल नायक अथवा केवल नायिका दूसरे के प्रति आसक्ति का अनुभव कर बेचैन हो जाते हैं। इस दृष्टि से 'पूर्वराग' पद समीचीन तथा युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता क्योंकि 'राग' तो ऐसी अवस्था में रहता ही है। भले वह दोनों में से एक में हो अथवा दोनों में हो। अनुमानतः इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मम्मट ने ऐसा वर्गीकरण नहीं किया है। उनका 'अभिलाष-हेतुक' विप्रलम्भ इसी कारण अधिक उचित एवं यौक्तिक प्रतीत होता है। अतः रत्नसेन की विवेच्य दशा 'अभिलाष-हेतुक' विप्रलम्भ कही जानी चाहिए। लेकिन इस दृष्टि से भी उसका मूर्च्छित हो जाना इत्यादि अस्वाभाविक ही समझा जायेगा।

पूर्वराग बनाम पूर्णरति—आ० शुक्ल ने इस सिलसिले में 'पूर्वराग' बनाम

१-क. 'साहित्य-दर्पण', ३-१८८।

'पूर्णरति' का जो विवेचन किया है, वह विचारणीय है। 'पूर्वराग' को वे 'लोभ' का समस्थानीय मानते हैं जो उनके मतानुसार 'सामान्योन्मुख' होता है जबकि 'पूर्णरति' अथवा 'प्रेम' को वे 'विशेषोन्मुख' मानते हैं। इस विषय में स्मरणीय तथ्य यह है कि भारतीय आचार्यों के शृंगार-निरूपण में किसी ऐसी सामान्योन्मुख दशा की पहचान नहीं की गयी है जिसे 'रति' के वैपरीत्य में 'लोभ' कहा जा सके। वहाँ तो आरम्भ से ही 'रति' की विद्यमानता मानी गयी है जिसमें 'लोभ' का तत्व विसर्गतः सन्निहित होता है। 'लोभ' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी है, 'अभिलाषा'[२] और यह 'लोभ' भी 'रति' का समानार्थक बन कर 'विशेषोन्मुख' ही होता है। अतः शृंगार के प्रसंग में जहाँ मनोनुकूल वस्तु (व्यक्ति) के प्रति मन के प्रवणायित होने का तत्त्व प्रधान होता है,[३] सामान्य और विशेष का भेदीकरण अयुक्त है। रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मावती का अलौकिक रूप-वर्णन सुनकर जिस 'भाव-प्रेरणा' से निकल पड़ता है, उसे शुक्ल जी 'रूप-लोभ' कहते हैं।[४] लेकिन यह 'लोभ' अथवा 'अभिलाषा' भी विशेषोन्मुख-ही है।

शुक्लजी की एक प्रिय परिचित धारणा यह है कि बिना परिचय के प्रेम नहीं होता।[५] बात अपनी जगह पर युक्तिपूर्ण प्रतीत होती है। लेकिन 'परिचय' का स्वरूप क्या होगा? यदि सुग्गे के मुँह से पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर रत्नसेन के मन का उसकी ओर प्रवणायित होना 'लोभ' है, तो फिर शिव-मंदिर में 'पद्मावती की झलक देखकर' रत्नसेन का बेसुध हो जाना 'प्रेम का लक्षण' क्यों, क्योंकर है।[६] 'रूप-लोभ' क्यों नहीं? शुक्लजी आगे कहते हैं कि प्रेम के लिए 'विशिष्टता' चाहिए और इस विशिष्टता के लिए 'एक निर्दिष्ट भावना' चाहिए जो एक 'तोते के वर्णन-मात्र से नहीं प्राप्त हो सकती।' उनका कथन है कि शिव-मंदिर में पद्मावती के रूप की झलक पाकर ही रत्नसेन की भावना निर्दिष्ट हुई है—अर्थात् उसके मानसिक आकर्षण, अथवा झुकाव के लिए एक सुपरिभाषित वस्तु या 'अर्थ' मिल गया है। उनका यह तर्क आपाततः विश्वासोत्पादक प्रतीत होता है।

किन्तु इसे वह 'परिचय' नहीं कहा जा सकता जिसे शुक्लजी प्रेम के लिए आवश्यक मानते हैं। और यदि पद्मावती के रूप की झलक पाना-ही 'परिचय'

---

२. संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, १९७१, पृ० १००४।
३. साहित्य-दर्पण, ३/१७६।
४. त्रिवेणी, पृ० २१।
५. वही, पृ० २१।
६. 'प्रेम-लक्षण उस समय दिखाई पड़ता है जब वह शिव-मंदिर में पद्मावती की झलक देख बेसुध हो जाता है।'—त्रिवेणी, पृष्ठ २२।

है, तो तोते के मुख से उसके दिव्य रूप का वर्णन सुनना भी 'परिचय' कहा जायगा– यह भिन्न प्रमेय है कि इस 'परिचय' के परिमाण वा गहराई में भिन्नता है। 'परिचय' सर्वदा उभयनिष्ठ होता है, अर्थात् दो व्यक्ति एक-दूसरे को परस्पर जानने लगते हैं। प्रत्यक्ष है कि रत्नसेन की पहली मनोदशा जो रूप वर्णन सुनने से उत्पन्न हुई है और दूसरी मनोदशा जो रूप की झलक प्राप्त करने से उत्पन्न हुई है—इन दोनों में या तो प्रकृत 'परिचय' का अभाव है अथवा फिर दोनों-ही 'परिचय' हैं। इस दृष्टि से 'झलक' वाली स्थिति को, 'लोभ' के वैपरीत्य में 'प्रेम' मानकर वहीं से 'पूर्वराग' की स्थिति स्वीकार करने में बहुत सार नहीं है। हमने ऊपर दिखाया है कि 'पूर्वराग' की व्यवस्था, उस अर्थ में जिसमें इसे विश्वनाथ ने 'मिथः संरूढरागयोः' कहा है, शायद बहुत युक्त नहीं कही जायेगी क्योंकि उसमें एकनिष्ठ अभिलाष-तत्व की— जिसे शृंगार-राज्य में मान्यता मिली है—अवहेलना हो गयी है।

आ० शुक्ल ने इस प्रसंग में एक अनूठा तर्क यह उपस्थित किया है: यदि तोते के मुँह से पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर रत्नसेन का योगी-रूप में निकल पड़ना उसे 'प्रेमी' ठहराता है, तो फिर राघव चेतन के मुँह से वैसा-ही वर्णन सुनकर अलाउद्दीन का चित्तौर पर चढ़ाई कर देना उस 'रूपलोभी लंपट' क्यों बना देता है?[७] यह तर्कणा अतीव सरल ढंग से की गयी है, यह तर्क के लिए तर्क है। वास्तव में रत्नसेन और अलाउद्दीन के प्रेमी या लंपट समझे जाने का तथ्य पूरे कथा-विन्यास से उभरा है, केवल एक स्थिति-विशेष के आधार पर इन्हें वह संज्ञा नहीं मिली है, नहीं मिलेगी।

रत्नसेन के पूर्वराग-वर्णन में आयी 'अस्वाभाविकता' का कारण आ० शुक्ल ने बताया है "लौकिक प्रेम और ईश्वरीय प्रेम दोनों का एक साथ व्यंजित करने का प्रयत्न। शिष्य जिस प्रकार गुरु से परोक्ष ईश्वर के स्वरूप का कुछ आभास पा कर प्रेम-मग्न होता है, उसी प्रकार रत्नसेन तोते के मुँह से पद्मिनी का रूप-वर्णन सुन बेसुध हो जाता है। ऐसी-ही अलौकिकता पद्मिनी के पक्ष में भी कवि ने दिखाई है।" उनकी यह सफाई युक्त प्रतीत होती है।

पद्मावती का पूर्वराग—रत्नसेन के प्रसंग में आ० शुक्ल ने पद्मावती के पूर्वराग की भी गवेषणा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'वियोग-दशा' और 'कामदशा' में अन्तर किया है। शुक्लजी का कथन है कि रत्नसेन के सिंहल पहुँचते-ही जायसी ने पद्मावती की जिस बेचैनी का वर्णन किया है, वह 'काम' की व्याकुलता है, 'वियोग' की नहीं क्योंकि अभी तक उसे रत्नसेन के आने की कुछ खबर नहीं है। इस बेचैनी का समाधान—वे बताते हैं: कवि के पास रत्नसेन के योग का अलक्ष्य प्रभाव है—

७। त्रिवेणी, पृ० २२।

'पद्मावती तेहि जोग संयोगा। परी प्रेम बस गहे वियोगा।'

यद्यपि शृंगार-संदर्भ में 'काम' को संयोग अथवा वियोग, किसी से विविक्त नहीं किया जा सकता, तथापि प्रस्तुत प्रसंग में आ० शुक्ल का निरूपण अप्रतिष्ठ नहीं कहा जायेगा। 'समागम के सामान्य अभाव का दुःख काम-वेदना है और विशेष व्यक्ति के समागम का दुःख वियोग है। जायसी के वर्णन में दोनों का मिश्रण है।'[८] उनके इस कथन में पर्याप्त तथ्य है। सुतराम् पदमावती की पूर्वोक्त बेचैनी पूर्णतया अनिर्दिष्ट होने से न 'पूर्वराग' है, न 'अभिलाष-हेतुक' वियोग।

इस काम-दशा में जब धाय पदमावती को समझा रही है, तभी हीरामन सुग्गा आकर रत्नसेन के रूपगुण का वर्णन करता और उसके योगी-वेश में वहाँ पहुँचने का संवाद सुनाता है जिस पर पदमावती के हृदय में उसके प्रति दया तथा अनुराग का संचार होता है। यहीं से शुक्लजी का कथन है, पदमावती के 'पूर्वराग' का आविर्भाव मानना चाहिए। वे ठीक-ही कहते हैं कि 'इसके पहले योग की दुहाई देकर भी वियोग का नाम लेना ठीक नहीं जँचता।''[९]

वियोग वर्णन की सराहना—जायसी के वियोग-वर्णन की आ० शुक्ल ने सराहना की है, यह कह कर कि उसमें अत्युक्तियों के बावजूद, गाम्भीर्य सदैव बना रह गया है—इन अत्युक्तियों में भी वेदना की तीव्रता की विवृत्ति कवि का उद्देश्य है। शुक्लजी की यह पहचान उनकी भावयित्री प्रतिभा का द्योतक है। 'अत्युक्ति' अथवा 'अतिशयोक्ति' और 'उत्प्रेक्षा' में उनके द्वारा दर्शाया गया भेद—'सिद्ध' तथा 'साध्य' के रूप में—महत्त्वपूर्ण माना जायेगा। उन्होंने यह भेद यों स्पष्ट किया है : "उत्प्रेक्षा में अध्यवसान (अर्थात् आरोप) साध्य (सम्भावना या संवेदना) के रूप में होता है और अत्युक्ति या अतिशयोक्ति में सिद्ध।" अपनी बात को समझाते हुए उन्होंने उपयुक्त उदाहरण भी दिये हैं। यह उनकी आचार्य-सुलभ प्रतिभा का विज्ञापक है।

वस्तु-व्यंजना की तीन शैलियाँ भारतीय-परम्परा में निर्दिष्ट की गयी हैं : 'स्वतः सम्भवी', 'कवि-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध' और 'कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध।' इनमें अन्तिम दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। अतः वस्तु-वर्णन की दो-ही प्रणालियाँ ठहरती हैं : 'स्वतःसंभवी' और 'प्रौढ़ोक्ति-मात्र-सिद्ध'। आ० शुक्ल ने इन दो प्रथित शैलियों के अतिरिक्त एक तीसरी शैली को निर्दिष्ट किया है जिसमें ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य अथवा स्वतःसंभवी हो, किन्तु उसके हेतु की कुछ और ही कल्पना की गयी हो।

८. त्रिवेणी, पृ० २३।
९. वही, पृ० २३।

अर्थात्, ऐसी ऊहाओं अथवा वर्णनों में 'हेतूत्प्रेक्षा' का अवलम्ब लिया जाता है। शुक्लजी इस तीसरे प्रकार की वस्तु-व्यंजना को सर्वोत्तम मानते हैं और इन्होंने नागमती के विरह-वर्णन से ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें सत्य अथवा स्वतःसंभवी घटना के लिए विरह-ताप की तीव्रता को 'हेतु' बताया गया है। उदाहरणतः उन्होंने उन चौपाइयों को उद्धृत किया है जिनमें मेघों के श्याम होने, राहु-केतु के काला होने, सूर्य के तपने, चन्द्रमा की कला के खण्डित होने, पलास के फूलों के अंगारे-सा लाल होने आदि वास्तविक तथ्यों के लिए नागमती के विरह-ताप को 'हेतु' (कारण) बताया गया है। 'हेतूत्प्रेक्षा' को वस्तु-व्यंजना की एक विशिष्ट शैली निर्दिष्ट करने में शुक्लजी की वैपश्चिती प्रज्ञा की विज्ञप्ति हुई है।

विरह-वर्णन की अद्वितीयता—नागमती के विरह-वर्णन को आ० शुक्ल हिन्दी साहित्य में 'एक अद्वितीय वस्तु' मानते हैं और इस टिप्पणी से असहमति व्यक्त करना कठिन प्रतीत होता है। नागमती के पेड़ों के नीचे रात-रात भर रोते फिरने, पशु-पक्षी-पल्लव आदि से अपना दुखड़ा सुनाने इत्यादि का निर्देश करते हुए, वे कहते हैं—"सब जीवों का शिरोमणि मनुष्य और मनुष्यों का अधीश्वर राजा। उसकी पटरानी, जो कभी बड़े-बड़े राजाओं और सरदारों की बातों की ओर भी ध्यान न देती थी, वह पक्षियों से अपने हृदय की वेदना कह रही है, उनके सामने अपना हृदय खोल रही है।" शुक्लजी की मार्मिक टिप्पणी है कि "वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगने लगते हैं और जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुःख सुनाने से भी जी हल्का होगा।" इस टिप्पणी में आचार्य की पैनी भावक-प्रतिभा, उनकी सहृदयता से संवलित होकर भास्वर हो उठी है। उन्होंने बड़े वैदग्ध्य के साथ विरहिणी-हृदय की कातरता एवं कार्पण्य का उन्मीलन किया है।

बारहमासे के सन्दर्भ में जायसी द्वारा चित्रित नागमती की वियोग-तापित मनोदशा की पहचान आ० शुक्ल ने की है, वह उनकी गहरी रसज्ञता का बोधक है। उन्होंने निम्न दोहा उद्धृत किया है—

> 'पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा ! हे काग !
> सो धनि बिरहे जरि मुई, तेहि क धुवाँ हंम्ह लाग ॥'

नागमती के हृदय में भ्रमर तथा काग से सहानुभूति प्राप्त होने की सम्भावना कैसे उत्पन्न हुई, इसकी व्याख्या उन्होंने यों की है—

'(यह संभावना) यह समझ कर होती है कि भौंरा और कौवा दोनों उसी विरहाग्नि के धुएँ से काले हो गये हैं जिससे मैं जल रही हूँ। सम-दुःखभोगियों में परस्पर सहानुभूति का उदय अत्यन्त स्वाभाविक है। 'सँदेसड़ा' शब्द में स्वार्थे 'ड़ा' का प्रयोग भी बहुत-ही उपयुक्त है। ऐसा शब्द उस दशा

में मुँह से निकलता है जब हृदय प्रेम, माधुर्य, अल्पता, तुच्छता आदि में से कोई भाव लिये हुए होता है। 'हे भौंरा ! हे काग !' से एक-एक को अलग-अलग संबोधन करना, सूचित होता है। आवेग की दशा में यही उचित है। 'हे भौंरा औ काग' कहने में यह बात न होती।"[१०]

"तेहिं क धुवाँ हम्ह लाग"—वास्तव में इस कथन की व्यंजना और भी गवेषणीय है। यह उस जाति की अत्युक्ति है जिसमें—जैसा आ० शुक्ल ने पहले दिखाया है—ऊहा की आधारभूत वस्तु का स्वरूप सत्य होता है, किन्तु उसके हेतु की कल्पना की जाती है। भौंरा और कौवा स्वतः काले हैं, किन्तु उनके कालेपन का हेतु बताया गया है, नागमती की विरहाग्नि से उठनेवाले धुएँ का संयोग। इस प्रकार यहाँ 'हेतूत्प्रेक्षा' गम्य है। लेकिन ऐसी उत्प्रेक्षाएँ स्वयं कवि करता है। यहाँ स्थिति भिन्न है। यहाँ नागमती समझती है कि भौंरे तथा कौवे का रंग उसकी विरहाग्नि के धुएँ के सम्पर्क से काला हो गया है क्योंकि धुआँ काला होता है। जब कवि ऐसे हेतुओं की कल्पना करता है तब उसकी 'बुद्धि' जाग्रत होती है और वह वस्तु-व्यंजना में मुख्यतः कल्पना का लालित्य लाने के लिए ऐसी सम्भावनाएँ करता है। प्रस्तुत प्रसंग में जायसी ने यह भार स्वयं विरहिणी को सौंप दिया है। अन्य शब्दों में नागमती स्वयं समझती है कि भौंरे और कौवे का रंग उसके विरहानल के धुएँ के संसर्ग से काला हो गया है। अर्थात् उसकी यह कल्पना बुद्धि का परिणाम नहीं, अपितु उसकी भावना की सचाई से प्रसूत है। वह सचमुच भीतर से विश्वास किये है कि उसके विरहानल का धुआँ-ही इन प्राणियों की कृष्ण-वर्णता का कारण बना है। ऐसा विश्वास उसके विरह-ताप की अनुभूति को मार्मिकता से संवेद्य बना देता है। 'हे भौंरा ! हे काग !' की व्यंजना उतनी हृदयस्पर्शिणी नहीं, जितनी 'तेहिं क धुवाँ हम्ह लाग' की।

आ० शुक्ल ने जायसी के विरह-वर्णन का जो विश्लेषण किया है, वह उनकी भावयित्री प्रतिभा का अम्लान, ललित-बंधुर स्मारक समझा जायेगा। 'पद्‌मावत' में 'हिन्दू जीवन के परिचायक भावों की प्रधानता' स्वीकारते हुए भी उन्होंने विरह-वर्णन में फारसी प्रभाव के अनुप्रवेश की कदर्थना की है।[११] जायसी की भाषा का भी शुक्लजी ने गंभीर विवेचन किया है और तुलसी की भाषा के साथ उसका तुलनात्मक परीक्षण किया है जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

---

१०. त्रिवेणी, पृ० ३३-३४।

११. विरह के सींखचों से विरहिणी के मांस के भूँजे जाने, सिंह के समान विरह के विरहिणी को चबाने प्रभृति जैसी अत्युक्तियाँ फारसी प्रभाव की परिचायिका हैं। (लेखक)

जायसी की आलोचना में आ० शुक्ल की पैनी समीक्षक-दृष्टि और सहानुभूतिशील सहृदयता की मनोरम तथा प्रभावशाली विवृति हुई है। वस्तुतः जायसी को हिन्दी-जगत् में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हीं को है। एक बार आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कहा था कि उन्हें हिन्दी की सर्वोत्तम आलोचना 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका में मिली है।

(१५) सूरदास

सूर-काव्य का सीमित दायरा—सूर की आलोचना भी आ० शुक्ल की प्रवीण भावक-प्रतिभा को प्रकाशित करती है। तुलसी के व्यापक क्षेत्र के संदर्भ में सूर का कथ्य एक सीमित दायरे में आबद्ध है, किन्तु इस सीमा के भीतर वे अद्वितीय हैं—आ० शुक्ल की यह पहचान सर्वथा युक्तिसंगत है। 'बाल-वृत्ति और यौवन-वृत्ति' सूर की काव्य-परिधि के दो परिभाषक आयाम हैं और शुक्लजी ने यह कह कर उनकी अभ्यर्थना की है—"वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झांक आये।"

सूर और तुलसी—तुलसी आ० शुक्ल के प्रिय आदर्श कवि हैं। सूर की उनकी समीक्षा तुलसी के प्रबन्ध-काव्य 'मानस' को ध्यानस्थ कर प्रवृत्त हुई है। सूर में 'लोक-पक्ष' की न्यूनता ने उन्हें आकर्षित किया है। भगवान् की तीन विभूतियों—'शक्ति, शील और सौन्दर्य'—में से सूर ने केवल सौन्दर्य-पक्ष तक अपने को सीमित रखा है जबकि तुलसी ने इन तीनों पक्षों का आश्रयण कर, भगवान् के 'लोकरंजन-कारी स्वरूप की पूर्ण प्रतिष्ठा की है। शुक्लजी लोकसंग्रही बुद्धि के कारण, इसीलिए सूर की तुल्यता में तुलसी को श्रेष्ठतर समझते हैं।

सूर के प्रेम-पक्ष को ऐकान्तिक मानते हुए, उन्होंने उसे 'लोक से न्यारा' बताया है और तुलसी द्वारा चित्रित 'लोक-व्यापी प्रभाव वाले कर्म और लोक-व्यापिनी दशाएँ' के संदर्भ में उसे परोक्षत्वेन कम लोकोपयोगी ठहराया है। उनकी अपनी अपनायी गयी काव्य-दृष्टि से, जो कर्म-सौन्दर्य तथा लोक-मंगल के ध्रुवों से शृङ्खलित है, प्रस्तुत आलोचना संगत एवम् समीचीन कही जायेगी।

उन-जैसा गंभीर आलोचक स्वभावतः तुलसी द्वारा चित्रित 'जीवन की गंभीर समस्याओं' के साक्षात्कार से जन्य, 'वस्तु-गाम्भीर्य' से मनसा प्रभावित है। इसी मनोभंगिमा में उन्होंने सूर द्वारा चित्रित गोपियों के वियोग की आलोचना की है जिसमें उनके मतानुसार गंभीरता का अभाव है। यहाँ भी

उन्हें 'मानस' की सीता का स्मरण हो आया है जो 'अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं।" इस परिप्रेक्ष्य में उन्हें गोपियों का वियोग 'खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है।' उनका कथन है कि 'गोपियों के गोपाल केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राज-सुख भोग रहे थे।" कृष्ण गोपियों के साथ क्रीड़ा करते-करते किसी कुंज झाड़ी में जा छिपते हैं और तब सद्यः गोपियों को पूर्ण वियोग-दशा आक्रान्त कर लेती है और वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं। अतएव शुक्लजी की टिप्पणी है, "सूर का वियोग-वर्णन वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं।"[१२]

सूर की आलोचना खटकती है—उपर्युक्त आलोचना आपाततः युक्ति-पूर्ण होते हुए भी सहृदयों को खटकती है। पहला बिन्दु प्रिय की भौतिक, निवासमूलक स्थिति से संबद्ध है। यहाँ ध्यातव्य यह है कि वियोगिनी सात समुन्दर पार स्थित हो अथवा दो-चार कोस की दूरी पर-ही हो, उसे वियोग तो वियोग-ही है और वह संतप्त करता ही है। एक दृष्टि से गोपियों की विरह-वेदना तो सीता की तुलना में अधिक तीव्र इस कारण मानी जायेगी कि इनके प्रिय गोपाल, निकटस्थ मधुपुरी में रहते हुए भी, उनसे मिल नहीं पाते और न-ही इन्हें पत्र द्वारा कोई संदेश ही भेजते हैं—जबकि उन्होंने उन तरुणियों के साथ गहरी रंगरेलियाँ की हैं। सीता को न ऐसी क्रीड़ाएँ करने का साक्षात् अनुभव उपलब्ध है और न-ही यही प्रतीति है कि उनके प्रिय जब चाहें तब उनसे मिल सकते हैं। ऐसी दृष्टि से विचार करें तो जान पड़ेगा कि गोपियों की विरह-वेदना की तीव्रता और गहराई अ-युक्त, अ-वास्तविक नहीं कही जायेगी। दूसरा बिन्दु 'परिस्थिति के अनुरोध' से सम्बन्ध रखता है। यहाँ आ० शुक्ल की टिप्पणी यथार्थ मानी जायेगी। गोपियों की हालत वही है जो उन अबोध शिशुओं की होती है जिनके सामने मधुर मिठाइयों की सजी-सजायी थाली रखी हो और उनमें से कुछ चख लेने के बाद, वह थाली उनके सामने से अचानक हटा ली जाय जिससे वे हहराते-ललचाते रह जायँ। सूर ने इसी भंगी में गोपियों के वियोग का एक पक्ष चित्रित किया है। इसमें निश्चिततया 'परिस्थिति के अनुरोध' की अवहेलना हुई है। किन्तु तब स्मरणीय है कि 'सूरसागर' विशुद्ध प्रेम-काव्य है जहाँ प्रणय की वेदनामयी कातरता की अभिव्यंजना अभीष्ट है जबकि 'रामचरितमानस' प्रेम-काव्य नहीं है, प्रत्युत 'नानापुराण-निगमागम-सम्मत' 'रघुनाथ-गाथा' का व्याख्यान करने के उद्देश्य से प्रणीत है। जैसे तुलसी अपने प्रयोजन के संदर्भ में प्रशस्य हैं, वैसे-ही सूर भी अपने उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य में अभ्यर्थनीय हैं।

---

१२. 'त्रिवेणी', पृ० ४६-५०।

शुक्ल जी की सहृदयता—तथापि हमारी यह विवक्षा नहीं कि आ० शुक्ल सूर के समालोचन में एकान्त हृदयहीन हैं। उल्टे, उनकी निजी सैद्धान्तिक मान्यताओं को छोड़ कर, हम पाते हैं कि उनकी रसज्ञता सूर की मधुर वल्लकी के मधुर निनादों के प्रति भी सावधान है। सूर के प्रेम की उत्पत्ति में 'रूप-लिप्सा और साहचर्य' दोनों का योग स्वीकार करते हुए, उन्होंने कहा है कि "इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं, सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं × × ×। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छन्द हैं।"

प्रस्तुत टिप्पणी आ० शुक्ल की इस मानसी प्रतीत से अनुप्राणित है कि उन्हें सूर की कोमल कविता के प्रति सहानुभूतिशील होना चाहिए। इसी मनोभंगी में उन्होंने कहा है कि "सूर का सयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम-संगीत-मय जीवन की एक गहरी चलती धारा है जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता।"[13] वस्तुतस्तु, प्रस्तुत टिप्पणी, हमारी जानकारी में भक्त-कवि की 'प्रस्तुत-रस-संदोहा' सरस्वती के प्रति सबसे गंभीर एवम् सहृदयता-संसिक्त अर्घ्यदान है।

वियोग-वर्णन के प्रसंग में भी शुक्लजी को एक मनोनुकूल तथ्य मिल गया है जिसकी प्रशंसना उन्होंने की है। वे इसकी दाद देते प्रतीत होते हैं कि सूर का वियोग-वर्णन घर की चहार-दीवारी के बाहर, यमुना के कछारों, करील के कुञ्जों तथा वनस्थलियों तक पहुँच गया है—और इस प्रकार उसमें व्यापकता का अनुप्रवेश हो गया है। शुक्लजी कविता में—जैसा हम पहले देख चुके हैं—'मनुष्य के आदम वन्य जीवन के परम्परागत मधुर संस्कारों" के निबंधन के हिमायती हैं। इस कारण उन्हें गोपियों की इस विरह-कातर वाणी में असीम माधुर्य की उपलब्धि हुई है—

'एक बन ढूंढ़ि, सकल बन ढूढ़ौं, कतहुँ न स्याम लहीं।'

उन्होने सूर के हृदय-पक्ष के समान कला-पक्ष की भी अभ्यर्थना की है। 'सूरसागर' में उपलब्ध कतिपय, विशेषतः उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा, अलंकारों के मनोहर एवम् व्यंजनापूर्ण विनियोग के वे प्रशंसक हैं। सूर की काव्य-भाषा पर वे चमत्कृत हैं और उसकी प्रौढ़ता तथा वर्णन-शैली की समृद्धिशोलता की यों दाद देते हैं—' पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांग-पूर्ण कि अगले कवियों की शृङ्गार और वात्सल्य की उक्तियाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं।"[14]

---

१३. त्रिवेणी, पृ० ५६।

१४. वही, पृ० ५१।

आचार्य शुक्ल यद्यपि तुलसी के प्रति समर्पित जान पड़ते हैं, तथापि कुल मिलाकर सूर की उन्होंने जो आलोचना की है, वह मात्सर्य-पूर्ण नहीं है, अपितु कुशल एवम् 'हृदय-संवादी' समीक्षा-दृष्टि का प्रतिफलन है।

(१६) तुलसीदास

आ० शुक्ल ने तुलसी की आलोचना में एक पूरी पुस्तक प्रणीत की है जो तुलसी के प्रति उनकी सर्वातिशायिनी निष्ठा का प्रमाण है। उसमें परिशिष्ट मिलाकर कुल १८ अध्याय हैं जिसमें तुलसी के विविध पक्षों का वैदुष्य-पूर्ण तथा सहृदयता से संवलित उद्घाटन किया गया है। हमने वर्तमान सन्दर्भ में केवल कतिपय चुने प्रसंगों का ही संक्षिप्त अवलोकन किया है जिन्हें हमने शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से अथवा तुलसी को पूर्णतया समझने के लिए आवश्यक समझा है।[1] 'त्रिवेणी' (सं० कृष्णानन्द-ना० प्र० स०) का भी उपयोग किया गया है।

(अ) तुलसी का भक्ति-मार्ग

शुक्लजी के मतानुसार, "भक्ति में आराध्य के प्रति प्रेम के साथ-साथ, उसके महत्त्व और अपने दैन्य की समानान्तर अनुभूति आवश्यक होती है। तुलसी के भक्ति-क्षेत्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण, मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिए मैदान पड़ा हुआ है।" शुक्लजी का यह कथन सर्वांशतः सटीक है।[1-क] वे इस सन्दर्भ में 'उपदेशवाद' के वैपरीत्य में 'हृदयवाद' को वरीयता प्रदान करते हैं और कहते हैं कि तुलसी-सूर जैसे भक्तों का 'शस्त्र भी मानव-हृदय है और लक्ष्य भी।' यह कथन सर्वांशतः यथार्थ है। 'वाक्य-ज्ञान' ही तर्क या उपदेशवाद से उपलब्ध हो सकता है, जबकि भक्ति का मूल तत्त्व है हृदय की अनुभूति। तुलसी के राम में अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति और अनन्त शील का समन्वय है। इन तीन विभूतियों में मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षण स्वभावतः विद्यमान होता है। अतएव तुलसी के मतानुसार, राम में 'लोक-रंजन-कारी स्वरूप' की पूर्ण प्रतिष्ठा हुई हैं जिससे लोक-मंगल का मार्ग प्रशस्त होता है। अनन्त शक्ति तथा अनन्त सौन्दर्य के साथ राम में अनन्त शील की जा प्रतिष्ठा हुई है, उसकी अनुभूति से तुलसी सर्वात्मना अभिभूत हैं—

> 'सुनि सीतापति शील सुभाउ।
> मोद न मन, तन पुलक, नयन जाल सो नर खेहर खाउ॥'

---

१. द्रष्टव्य 'गोस्वामी तुलसी', (ना० प्र० सभा), संवत् २०३३ वि०।

१-क. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १६१।

शुक्लजी कहते हैं—'अनन्त शक्ति और अनन्त सौन्दर्य के बीच से अनन्त शील की आभा फूटती देख, जिसका मन मुग्ध न हुआ, जो भगवान् की लोक-रंजक मूर्ति के मधुर ध्यान में कभी लीन न हुआ, उसकी प्रवृत्ति की कटुता बिल्कुल नहीं दूर हो सकती।'[२]

भक्त में आराध्य के महत्त्व की जितनी अनुभूति होगी, उतनी-ही उसे अपनी लघुता की अनुभूति होगी या होनी चाहिए—यह शुक्लजी की मान्यता है और इसी कारण, वे 'दैन्य' को भक्तों का 'बड़ा भारी बल' मानते हैं। 'विनय-पत्रिका' के लिए उन्होंने जो टिप्पणी की है, वह पूर्णतः यथार्थ है—'चरम महत्त्व के इस भव्य मनुष्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख भाव-विह्वल भक्त-हृदय के बीच जो-जो भाव-तरंगें उठती हैं, उन्हीं की माला विनय-पत्रिका है।'[3] महत्त्व के नाना रूप और इन भाव-तरंगों में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है और उस महत्त्व की अनुभूति के अनुपात में भक्त 'दैन्य, आशा, उत्साह, आत्म-ग्लानि, अनुताप, आत्म-निवेदन आदि' का अनुभव करता है। शुक्लजी का कथन है कि आराध्य के महत्त्व के स्पष्ट साक्षात्कार के फलस्वरूप, जो भाव विकसित होंगे, उन पर भी 'महत्त्व की आभा' चढ़ती जायेगी। वे अपनी बात और भी साफ कर देते हैं—'मानो ये भाव महत्त्व की ओर बढ़ते जाते हैं और महत्त्व इन भावों की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार लघुत्व का महत्त्व में लय हो जाता है।'[४] भक्ति के इस प्रभाव की पहचान निराली है। 'दैन्य' का एतादृश ऊर्ध्वीकरण कोई निराला भक्त ही अनुभूत कर सकता है।

तुलसी ने राम की लोक-मंगल-कारिणी विभूति का दर्शन किया है और इसी कारण उनको कबीर, दादू इत्यादि की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता—ऐसा आचार्य का कथन है।

निर्गुण सन्तों की भक्ति के विपरीत, शुक्लजी का तर्क है कि भारतीय भक्त का मार्ग प्रेम का मार्ग है, जिसका लक्षण है सरलता और जिसका आलम्बन ज्ञात है, अज्ञात नहीं। उस उपास्य की विभूति वह सम्पूर्ण विश्व या जगत् में देखता है। इस भक्ति-मार्ग में रहस्य का कोई समावेश नहीं है। हमारे यहाँ ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग तीनों की पृथक्-पृथक् धाराओं के प्रचलन का कथन करते हुए आ० शुक्ल भक्ति-मार्ग के वैशिष्ट्य का यों निरूपण करते हैं—"जिन-जिन वृत्तियों से लोक की रक्षा और रंजन होता है, उन सबका समाहार अपनी परमावस्था को पहुँचा हुआ जहाँ दिखाई पड़े, वहाँ भगवान्

२. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १६३।

३. वही, पृ० १६३।

४. वही, पृ० १६४।

की उतनी कला का पूर्ण प्रकाश समझकर जितनी से मनुष्य को प्रयोजन है—अनन्त पुरुषोत्तम को उतनी मर्यादा के भीतर देखकर जितनी से लोक का परिचालन होता है—सिर झुकाना मनुष्य होने का परिचय देना है, पूरी आदमियत का दावा करना है। इस व्यवहार-क्षेत्र से परे, नाम-रूप से परे जो ईश्वरत्व या ब्रह्मत्व है, वह प्रेम या भक्ति का विषय नहीं, वह चिन्तन का विषय है।"[५] इस सन्दर्भ में उन्होंने तुलसी की 'लोकदर्शी' बुद्धि की प्रशंसा की है। क्योंकि उनके राम लोक का रंजन तथा रक्षण करनेवाली सभी वृत्तियों की पुंजीभूत मूर्ति हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में उनका एक कथन विचारणीय है—"न भक्तों के राम और कृष्ण उपदेशक हैं, न उनके अनन्य भक्त तुलसी और सूर।"[६] वर्तमान टिप्पणी, हमें भय है, आ० शुक्ल की भावुकता का प्रतिफलन है। कृष्ण की बात अभी प्रसंग-प्राप्त न होने से छोड़ी जा सकती है। तुलसी के 'मानस' के राम अवश्य तत्काल विवेच्य हैं।

साहित्यिक विवेचन में प्रायः 'मानस' के राम की 'द्वैतता' की अनदेखी की जाती है। तुलसी ने राम में 'मानवीयता' एवं 'ब्रह्मस्वरूपता', दोनों की लगभग समान भाव से प्रतिष्ठा की है। प्रायः समस्त अवसरों पर राम की मानवीयता उनकी ब्रह्मस्वरूपता में और ब्रह्मस्वरूपता मानवीयता में संक्रमण कर जाती है। 'मानस' के पाठक के लिए यह सामान्य अनुभव की बात है। इस प्रसंग में हमारी विवक्षा यह है कि राम 'उपदेशक' भी बन गये हैं। बालि के पूछने पर कि उन्होंने उसे 'व्याध की नाईं' क्यों मारा, राम नैतिक आचरण का उपदेश देकर, अपने कार्य का औचित्य-प्रदर्शन करते हैं। नारद के इस विरोध पर कि उन्होंने उनके विवाह को क्यों अवरोधित किया, राम नारियों की सौन्दर्य-माया में फँसने के खतरे तथा भक्ति एवं अपने प्रति समर्पण के महत्व पर एक लम्बी वक्तृता देते हैं। पंचवटी में निवास आरम्भ करने पर लक्ष्मण उनसे ज्ञान, भक्ति, विराग इत्यादि के महत्व पर प्रकाश डालने का अनुरोध करते हैं जिस पर राम ने लम्बा तत्त्व-निरूपण किया है। किं बहुना, 'मानस' के राम कर्त्तव्य तथा दर्शन के उपदेशक-रूप में भी उपस्थित हैं—इस तथ्य को इनकारा नहीं जा सकता। आ० शुक्ल ने उपरि-चर्चित टिप्पणी, भावना के प्रवाह में की है।

(आ) मानस की धर्मभूमि

हम भक्ति-मार्गवाले पूर्व सन्दर्भ में संकेत कर चुके हैं कि तुलसी तर्क की अपेक्षा अनुभूति को महत्त्व देते हैं। यह अनुभूति राम की अनन्त-सौन्दर्य-शक्ति-

---

५. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ६-७।

६. त्रिवेणी, पृ० १६२।

शील-सम्पन्नता की अनुभूति है जिससे ही राम के 'महत्त्व' का साक्षात्कार होता है। भक्त इसी महत्त्व की रस-संचारिणी अनुभूति से पुलकित होता है। 'मानस' की धर्मभूमि के प्रकरण में शुक्लजी दुहराते हैं कि 'धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है।' अन्य शब्दों में भक्ति धर्म से जुड़ी है जिसकी (धर्म की) अनुभूति भक्त-गण हृदयत: किया करते हैं।

आ० शुक्ल के मतानुसार 'ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति' ही धर्म है। इस प्रवृत्ति का दर्शन परिवार और समाज के अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्रों से लेकर 'समस्त भू-मण्डल तथा अखिल विश्व तक के बीच' किया जा सकता है।[७] गृह, परिवार, समाज, देश, विश्व—इन सबकी स्थिति एवं रक्षण में ब्रह्म के सत्य स्वरूप का प्रकाश प्रस्फुट होता है और वही धर्म है। अर्थात् जिस कर्म से यह 'स्थिति' बनी रहे, वह मर्यादापूर्ण व्यापार ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभि-व्यक्ति है और वही धर्म है। इस दृष्टि से धर्म की ऊँची-नीची, संकीर्ण-विस्तीर्ण अनेक छोटी-बड़ी भूमियाँ होती हैं। तुलसी के अनुसार छोटे धर्म को बड़े धर्म की रक्षा के लिए अवहेलित किया जा सकता है। "गृह-धर्म या कुल-धर्म से समाज-धर्म श्रेष्ठ है; समाज-धर्म से लोक-धर्म; लोक-धर्म से विश्व-धर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग। पूर्ण धर्म, जिसका सम्बन्ध अखिल विश्व की स्थिति-रक्षा से है, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है।"[८]

शुक्लजी का कथन है, 'तुलसी के राम अंगिभूत 'पूर्ण-धर्म-स्वरूप' हैं क्योंकि 'अखिल विश्व की स्थिति उन्हीं से है।'[९] इसी दृष्टि से भरत जैसे आदर्श पात्र द्वारा अपनी माता कैकेयी की भर्त्सना और विभीषण द्वारा अपने भाई रावण का परित्याग सर्वथा स्तुत्य है क्योंकि इन दोनों स्थितियों में राम का विरोध धर्म का विरोध या 'जिसे राम प्रिय नहीं, उसे धर्म प्रिय नहीं।' इसी से गोस्वामी जी कहते हैं—

> 'जाके प्रिय न राम वैदेही।
> सो नर तजिअ कोटि वैरी सम, यद्यपि परम सनेही।'[१०]

आ० शुक्ल स्पष्ट कहते हैं कि 'यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की अवहेलना हो, तो उसके मार्मिक और प्रभावशील विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं।'[१०-क] 'मानस'

---

७. त्रिवेणी, पृ० १६७।
८. वही, पृ० १६७-६८।
९. वही, पृ० १६९।
१०. वही, पृ० १७०।
१०-क. वही, पृ० १७१।

की धर्म-भूमि का उनका यह निरूपण उनके व्यक्तित्व तथा संस्कार-सम्पदा का प्रतिफल है। वस्तुतः वेदों में जिस 'ऋत' की चर्चा हुई है, जिसे सत्य तथा धर्म का स्वरूप बताया गया है, जिससे वैश्विक स्थिति बनी हुई है, वही शुक्ल जी का धर्म है और उसी धर्म के मूर्तिमान विग्रह तुलसी के राम हैं जो अपने अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति तथा अनन्त शील के कारण भक्तों के आराध्य बने हैं।

(इ) तुलसी की काव्य-पद्धति

तुलसी की काव्य-पद्धति का विवेचन करते हुए, शुक्लजी ने काव्य के दो स्वरूपों—अनुकृत (इमिटेटिव) या प्रकृत (रियलिस्टिक) और अतिरंजित (एक्जैजरेटेड) या प्रगीत (लिरिकल) की चर्चा की है और बताया है कि गोस्वामी जी की रुचि काव्य के अतिरंजित या प्रगीत स्वरूप की ओर नहीं थी। 'गीतावली' जैसे गीत-काव्य में भी भावों की व्यंजना पूर्णतः स्वाभाविक ढंग से हुई है जिसके उदाहरण उन्होंने उद्धृत किये हैं। केवल एक-दो जगह 'अतिरंजित या प्रमाणित' उक्तियाँ वहाँ उन्हें मिली हैं, जैसा यह कथन—

'जेहि बाटिका बसति तहँ खग मृग तजि भजे पुरातन मौन।
स्वास समीर भेंट भइ भोरेहूँ तेहि मग पग न धर्‌यो तिहुँ पौन॥'

तथापि यह तुलसी की प्रकृत पद्धति नहीं है—"गोस्वामीजी की दृष्टि वास्तविक जीवन-दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्र्य-विधान की ओर नहीं थी।"[११] अतएव 'कल्पना के (यूरोपीय) विश्वामित्रों' के समान, वे 'नूतन सृष्टि-निर्माण' करनेवाले कवि नहीं थे—शुक्ल जी का यह कथन सर्वांशतः यथार्थ है।[१२]

आ० शुक्ल ने इस प्रसंग में 'मानस' तथा 'दोहावली' में प्रदर्शित तुलसी के 'धर्मोपदेष्टा तथा नीतिकार' रूप की चर्चा की और उसका काव्य-दृष्टि से निरनुमोदन किया है। प्रस्तुत लेखक ने ऐसे उपदेशों की भरमार जैसी 'मानस' में देखी है और यह महसूस करता है कि इन अंशों को निकाल देने पर उसका कलेबर एक तिहाई के लगभग घट जायेगा। हमने एक निबन्ध में काव्येतर प्रसंगों के सन्निवेश के आधार पर और दर्शन तथा पुराण के तत्वों के उपनिबन्धन की दृष्टि से 'मानस' के तुलसी को 'महान', किन्तु 'मूल्यवान्' नहीं बताया है।[१३]

शुक्लजी ने 'मानस' की रचना में तुलसी के वाल्मीकि से 'भिन्न पथ' के

---

११. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ४३-४४।
१२. वही, पृ० ४४।
१३. तुलसी-तरु।

अवलंबन का एक कारण यह बताया है कि जहाँ वाल्मीकि ने राम के 'नरत्व और नारायणत्व" पक्षों में से 'नरत्व' का उत्कर्ष दिखाया है, वहाँ तुलसी का अभीष्ट प्रयोजन था 'मानस' को 'भगवद्भक्ति के प्रचार का साधन' बनाना और इसी कारण उन्होंने राम के 'नारायणत्व' का भी प्रदर्शन किया है। 'अध्यात्मरामायण' का इसीलिए प्रचुर अनुसरण उन्होंने किया है। धनुषयज्ञ के प्रसंग में 'फुलवारी' के दृश्य का निबन्धन, जिसमें परस्पर अवलोकन से, राम और सीता के हृदयों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम का उदय चित्रित हुआ है, आ० शुक्ल के मतानुसार तत्सामयिक 'लोक-रुचि और साहित्य की रूढ़ि' के अनुसरण का परिणाम है जिसमें तुलसी ने जयदेव के 'प्रसन्नराघव' का अनुगमन किया है। शुक्लजी ने यह बात रेखांकित की है कि तुलसी ने वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म-रामायण, महारामायण, श्रीमद्भागवत, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव नाटक इत्यादि अनेक ग्रंथों से रचना की सामग्री ली है। तथापि शुक्लजी ने भाषा पर उनके 'अद्वितीय अधिकार' की यह कहकर दाद दी है कि तुलसी ने संस्कृत की उक्तियों को अधिक व्यंजक बना कर 'चमका दिया है।'[१४]

शुक्लजी का ध्यान 'मानस' के उन निन्दकों की ओर भी आकर्षित हुआ है जो 'ढोल, गवाँर, शूद्र, पशु, नारी' जैसी अनेक उक्तियों के आधार पर तुलसी की कटु आलोचना करते हैं। इस प्रसंग में, शुक्लजी का सटीक समाधान यह है कि ऐसे कथन 'सिद्धान्त-रूप में नहीं हैं, अर्थवाद के रूप में हैं। ये पूर्ण सत्य नहीं हैं, आंशिक सत्य हैं × × ×। काव्य का उद्देश्य शुद्ध विवेचन द्वारा सिद्धान्त निरूपण नहीं होता, रसोत्पादन या भाव-संचार होता है।"[१५] उनके इस कथन से असहमत होना कठिन है।

(ई) तुलसी की भावुकता

प्रस्तुत प्रसंग में आ० शुक्ल की भावक प्रतिभा तथा अतुलनीय गहरी रसज्ञता का प्रभावशाली उन्मीलन हुआ है। उनकी स्थापना है कि प्रबन्धकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से लगता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। इस दृष्टि से उन्होंने राम-कथा के भीतर राम का वनगमन, चित्रकूट में राम-भरत का मिलन, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप प्रभृति प्रसंगों को अधिक मर्मस्पर्शी बनाकर, यह दिखाया है कि तुलसी ने इनकी मार्मिकता की पहचान की है और बड़ी सहानुभूति तथा सहृदयता से उनका

---

१४. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ४९।

१५. वही, पृ० ३२।

वर्णन किया है। इसके प्रतिपादनार्थ, उपयुक्त उदाहरण भी उद्धृत किये गये हैं। चित्रकूट-मिलन पर शुक्लजी की टिप्पणी उद्धरणीय है—

"चित्रकूट की उस सभा की कार्रवाई क्या थी, धर्म के एक-एक अंग की पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी। रामचरितमानस में वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना हृदय की इतनी उदात्त वृत्तियों की एक साथ उद्भावना तुलसी के-ही विशाल 'मानस' में सम्भव थी। यह सम्भावना उस समाज के भीतर बहुत से भिन्न-भिन्न वर्गों के समावेश के द्वारा संघटित की गई है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र × × × के परस्पर व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्म-गाम्भीर्य और भावोत्कर्ष के कारण, अत्यन्त मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ। धर्म के उस स्वरूप को देखकर सब मोहित हो गए—क्या नागरिक या ग्रामीण और क्या जंगली।"[१६] इस प्रसंग को 'एक आध्यात्मिक घटना' बताना पूर्णतः सटीक है। इससे शुक्लजी की गंभीर भावक-बुद्धि की विज्ञप्ति होती है।

'पवित्र दाम्पत्य-रति की' मनोहर व्यंजना वे वहाँ पाते हैं जहाँ ग्राम-वनिताओं ने मार्ग में जाते हुए सीता से पूछा है कि उनदोनों युवकों में से 'कोटि मनाज लजावनहारे' श्याम-वर्णवाले उनके कौन हैं। सीता गोरे तन वाले लक्ष्मण को तो अपना देवर बताती हैं, किन्तु नारियों के प्रकृत प्रश्न का उत्तर यों देती हैं—

> बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
> पिय तन चितै भौंह करि बाँकी।।
> खंजनु मंजु तिरीछे नैननि।
> निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि।।

इस प्रसंग की मधुरता एवम् सुन्दरता वही समझ सकता है जो भारतीय कुल-ललनाओं के शील से अभिज्ञ है। शुक्लजी की यह पहचान उनकी रसज्ञता की परिचायक है। इसी सिलसिले में उन्होंने नाना रसों की निष्पत्ति का भी निर्देश किया है।

(उ) बाह्य दृश्य-चित्रण

आ० शुक्ल का कथन है कि संस्कृत के पुराने कवियों ने बाह्य दृश्यों का जैसा संश्लिष्ट चित्रण किया, जैसा 'बिम्ब-ग्रहण' कराया है, वैसा हिन्दी काव्य में उपलब्ध नहीं होता—यदि कहीं मिलता है तो तुलसीदास के दृश्य-वर्णनों में। 'गीतावली में चित्रकूट का वर्णन सूक्ष्म निरीक्षण तथा संश्लिष्ट

---

१६. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ५२।

योजना पर आधारित है। किन्तु तुलसी में एतादृश संश्लिष्ट एवम् बिम्बात्मक चित्रण सर्वत्र नहीं मिलता—इसकी सफाई में शुक्लजी ने 'हिन्दी कवियों की परम्परा' से उनकी 'लाचारी' की बात कही है।[१७] तुलसी के पूर्ववर्ती तीन प्रकार के कवियों—वीरगाथा वाले चारण कवि, प्रेम की कहानियाँ प्रणीत करनेवाले मुसलमान कवि और वंशीवट तथा यमुना-तट तक दृष्टि रखनेवाले कृष्ण-कवि—की चर्चा कर, उन्होंने बताया है कि तुलसी इस परम्परा से निसर्गतः प्रभावित हुए। तो भी जहाँ वे भाव-मग्न हैं, वहाँ यह चित्रण बिम्ब-पद्धति का अनुगमन कर गया है और वे वाल्मीकि, कालिदास इत्यादि प्राचीन कवियों की बिरादरी में उपविष्ट हो जाते हैं।

दृश्यों के वर्णन में तुलसी की 'अत्यन्त परिमार्जित रुचि' के आ० शुक्ल प्रशंसक हैं। भोजन को उदाहरण रूप में लेकर उन्होंने दिखाया है कि तुलसी ने ऐसे अवसरों पर (राम की बाल-लीला और जनकपुर में विवाह) भोजन के दृश्य का अनावश्यक विस्तार नहीं किया है। इसके विपरीत उन्होंने सूर तथा जायसी की इस प्रवृत्ति के लिए, आलोचना की है कि उन्होंने पकवानों तथा मिठाइयों का परिगणनात्मक रीत्या वर्णन किया है और अपने समर्थन में वे 'साहित्य-दर्पण' से नाटक में अप्रदर्शनीय तत्वों के कथनवाली कारिका उद्धृत करते हैं।[१८] इस विषय में कथितव्य यह है कि नाटक अभिनेय होता है और यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तुएँ नाटक में निषेध्य हों, वे श्रव्यकाव्य में भी न चित्रित हों। जहाँ तक सूर की बात है, यह ध्यातव्य है कि ऐसे वर्णनों में भक्त-कवि के हृदयगत उत्साह तथा उल्लास की अभिव्यक्ति हुई है क्योंकि भोजन करनेवाला साधारण 'बालक' नहीं, अपितु उनके आराध्य 'कमलनयन हरि' हैं। शुक्लजी ने निम्नलिखित पद को, पहली तथा अन्तिम पंक्तियों को छोड़कर, अपने मंतव्य की पुष्टि में उद्धृत किया है—

'कमल-नैन हरि करो बिचारी।
लुचुई, लपसी, सद्य जलेबी, सोइ जेंवहु जो लगै पियारी।।
घेवर, मालपुआ, मोतिलाड़, सुघर खजुरी सरस सवाँगी।
दूध, बरा, उत्तम दधि बाटी, दाल मसूरी की रुचि न्यारी।।
आछो दूध औटि धौरी को, लै आई रोहिनि महतारी।
सूरदास बलराम स्याम दोउ जेवँहु जननि जाइ बलिहारी।।'

ऊपर-ऊपर देखने से तो लगता है जैसे सूर ने 'मैकेनिकल' रीति से पक-

१७. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८८।
१८. 'दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादि विप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा।।' (६।१६)

वानों के नाम गिना दिये हैं। लेकिन, भक्त-कवि ने प्रस्तुत पद में नाना पकवानों का कथन कर और माता से यह कहलाकर कि 'सोइ जेवँहु जो लगै पियारी' और 'जेवँहु जननि जाइ बलिहारी'—वात्सल्य-रस की मधुर कुल्या प्रवाहित कर दी है। मूल प्रश्न है, आलोचक की दृष्टि तथा मनोभंगिमा का। यदि आ० शुक्ल पूर्वग्रह से मुक्त होते, तो 'हे कमल-नयन ! बियारी या ब्यालू (रात का भोजन) करो; जो रुचे वह जेओं, और तब, जननी बलिहारी जाय'—इस कथन में गर्भित भाव-माधुरी की प्रशंसा करने से न चूकते। वास्तव में तुलसी ने उनकी पूरी समीक्षा-दृष्टि को निर्मित किया है जो उनके गंभीर स्वभाव के अनुकूल भी पड़ती थी, और इसी कारण वे सूर के साथ शायद समुचित न्याय नहीं कर सके हैं।

आ० शुक्ल ने एक पृथक् प्रकरण में तुलसी के अलंकार-विधान का भी विवेचन किया है। अलंकार के विषय में उनकी मान्यता स्पष्ट उल्लिखित हुई है : 'केवल वस्तुत्व या प्रमेयत्व जिसमें हो, वह अलंकार नहीं। अलंकार में रमणीयता होनी चाहिए।'[१९] उन्होंने तुलसी में कुछ खटकने वाली बातों का भी निर्देश किया है। किन्तु कुल मिलाकर तुलसी उनके लिए सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और सूर को नंबर दो का स्थान ही मिलना चाहिए—ऐसी उनकी मान्यता है।

शुक्लजी और साम्यवादी चश्मा—प्रस्तुत संदर्भ में डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा की गयी एक टिप्पणी पर विचार अपेक्षित प्रतीत होता है। तुलसी-विवेचन के सिलसिले में आचार्य शुक्ल ने रूसी क्रान्ति की चर्चा करते समय जो लेनिन पर कटाक्ष किया है और रूसी जनता को 'मूर्ख' कहा है, उसे डॉ० शर्मा उनके विवेचन का 'सबसे कमजोर पहलू' बताते हैं।[२०] किन्तु वास्तविकता यह है कि शुक्लजी उस 'जनवाद' के समर्थक नहीं हैं जो 'प्रगतिवादी' संस्कृति में प्रतिष्ठित है। इस विषय में वे 'असंगतियों' में नहीं 'फँस' गये हैं जैसा डॉ० शर्मा समझते हैं, प्रत्युत वे ऐसे 'जनवाद' के सचमुच विरोधी हैं। यदि 'साधारण जनता' के मानस पर तुलसी कि 'मानस' के 'अधिकार' का वे कथन करते हैं अथवा यह घोषणा करते हैं कि तुलसी 'भारत-हृदय, भारती-कण्ठ' हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं कि तुलसी वर्तमान जनवादी झंझावात के पोषक हैं जिसमें समस्त परम्पराप्रथित मूल्य तथा आस्थाएँ ढहती जा रही हैं। शुक्लजी की 'जनता' की अवधारणा संश्लेषात्मक तथा समावेशी ('इनक्लूसिव') है,

---

१९. यहाँ शुक्लजी ने विद्याधर का निम्न कथन उद्धृत किया है —
'साधर्म्यं कविसमय-प्रसिद्धं न तु वस्तुत्वप्रमेयत्वादि ग्राह्यम्।'
(गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ९३)

२०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, (तृ० सं०), पृ० ११०

विश्लेषात्मक तथा अपवर्जनशील ('एक्सक्लूसिव') नहीं। तुलसी इसलिए उन्हें प्रिय हैं कि 'रामचरितमानस' को प्रणयन-प्रेरणा 'सुरसरि सम सब कहँ हित होंई' वाली है। इसी अर्थ में तुलसो 'जनसाधारण के कवि' हैं, रूसी अथवा साम्यवादी अर्थ में नहीं। यह सही है कि तुलसी 'घोर व्यवस्थावादी' नहीं हैं, और शुक्लजी ने तुलसी के राम में वैसी 'सहृदयता' पायी है जो 'सब प्रकार के नियमों से परे है'। तथापि यह समझना—जैसा डॉ० शर्मा समझते हैं—कि तुलसी व्यवस्था-मात्र के विरोधी हैं, भ्रान्तिपूर्ण है। उन्होंने आ० शुक्ल के प्रतिवाद में साम्यवाद और लेनिन के पक्ष-प्रतिपादन-हेतु जो लम्बा तर्क-जाल फैलाया है, वह राजनीतिक साम्यवाद से अनुप्रेरित है,[२१] न कि भक्ति-सुलभ साम्यवाद से जो तुलसी तथा आ० शुक्ल दोनों को अभिप्रेत है। यद्यपि डॉ० शर्मा ने कुल मिलाकर अन्ततोगत्वा शुक्लजो की तुलसी-विवेचना की सराहना की है, तथापि उनकी समझो गयो कमियों की आलोचना तथा उनका सफाई देने की प्रक्रिया में डॉ० शर्मा की स्वर-भंगिमा 'पैट्रनाइजिंग' बन गयी है। प्रतीत होता है, वे शुक्लजी को कहीं दुलराते हैं; कहीं मीठी डाँट-फटकार सुनाते हैं; कहीं अन्य आलोचकों के आरोपों का प्रतिवाद करते हैं; कहीं आ० शुक्ल की टिप्पणियों का परिष्कार करते हैं और कहीं उन टिप्पणियों का उपहास करते हैं। इस प्रकार डॉ० शर्मा ने अपनी साम्यवादी 'अप्रोच' को छलपूर्ण 'उदारता' के प्रदर्शन से संशोधित कर, तटस्थ साहित्यालोचक होने की भ्रान्ति उत्पन्न की है।

(ऊ)

डॉ० शर्मा का कथन है कि "शुक्लजी ने हिन्दी में एक मौलिक साहित्य-शास्त्र की नींव डाली जो प्राचीन रूढ़िवाद और पश्चिमी कलावाद से स्वतंत्र ही नहीं है, उनका तीव्र विरोधी भी है। शुक्लजी की इन मान्यताओं के आधार पर हिन्दी आलोचना प्रगति-पथ पर आगे बढ़ सकती है।"[२२] यहाँ मौलिक साहित्य-शास्त्र का कथन निराधार है। पश्चिम में भी प्लैटो-अरस्तू के बाद फ्रायड के अवदमित 'लिबिडो' वाले सिद्धान्त को छोड़कर, अन्य कोई काव्य-सिद्धान्त मौलिक नहीं कहा जा सकता और भारतीय साहित्य-चिन्तन में भी भरत के बाद, आनन्दवर्धन के 'ध्वनिवाद' को छोड़कर अन्य कोई सिद्धान्त मौलिक नहीं माना जा सकता।

डॉ० शर्मा की प्राचीन रुढ़िवाद के खंडन को पहचान से हम सहमत नहीं हैं। उनकी आ० शुक्ल की प्रशंसा इस आधार पर अवलंबित है कि शुक्लजो ने

---

२१. आ० रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ११०-१२।
२२. वही, पृ० ३७।

रीति-कालीन कविता तथा रीतिग्रंथों का पहली बार 'जमकर' विरोध किया जो सामन्ती संस्कृति से अनुप्राणित अथवा उसके पोषक थे। शर्माजी ने रीति-ग्रंथों के विरोध और सामन्ती संस्कृति के विरोध के संलग्न बिन्दुओं को इतना उभार में ला दिया है कि उससे आ० शुक्ल के सही कर्तृत्व तथा उपलब्धियों की पकड़ बाधित हो जाती है, उनका प्रकृत आचार्यत्व धूमिल हो जाता है और उनके समर्थ समालोचक-स्वरूप का उद्‌घाटन नहीं हो पाता, अथच पाठक की सामान्य धारणा यही बँधती है कि शुक्लजी की मौलिक उपलब्धि यही सामन्तीय संस्कृति तथा रीति-ग्रंथों का विरोध है। यह धारणा सही नहीं है।

डॉ० शर्मा अपनी स्थिति और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं : "आज उनके वस्तुवादी दृष्टिकोण, द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति, वाल्मीकि-भवभूति-तुलसीदास के मूल्यांकन और काव्य में कलात्मक सौन्दर्य के महत्त्व के सिद्धान्त को आत्मसात् करके ही हिन्दी आलोचना और हिन्दी साहित्य आगे बढ़ सकते हैं।"[२३] यहाँ भी डॉ० शर्मा ने कई भ्रान्तियों का जनन कर दिया है। क्या शुक्लजी के पूर्व का काव्य अथवा काव्यशास्त्र वस्तुवादी नहीं था ? क्या उनसे पहले काव्य में कलात्मक सौन्दर्य की अवतारणा को महत्त्व नहीं मिला था ? क्या आ० शुक्ल ने तुलसी के अतिरिक्त वाल्मीकि तथा भवभूति का भी स्वतंत्र, पृथक् मूल्यांकन किया है ? पहले दो प्रश्नों का उत्तर, 'आनंद की अभिनवगुप्तीय व्याख्या को 'माइनस' कर देने पर, स्पष्टतया स्वीकारात्मक है जबकि तीसरे प्रश्न का उत्तर निषेधात्मक है। पुनः शर्माजी उसी साँस में 'शाश्वत साहित्य' रचने की बात का उपहास-सा करते हैं।[२४] तब क्या इन कवित्रय का साहित्य शाश्वतीय तत्वों से उपहित नहीं है ? मजे की बात यह है कि डॉ० शर्मा ने पहले वाल्मीकि, भवभूति तथा तुलसीदास के साथ नम्बर दो पर कालिदास को भी सम्मिलित किया है (पृ० ३८)। किन्तु, जब हिन्दी आलोचना तथा हिन्दी साहित्य की भविष्यत्-प्रगति की चर्चा करते हैं, तब कालिदास को नजरन्दाज कर देते हैं। इसका कारण यही है कि वे कालिदास में सामन्ती संस्कृति का विलसन देखते हैं और उनमें सन्निहित कलात्मक सौन्दर्य-सम्पदा की जानबूझकर उपेक्षा कर जाते हैं।

वास्तविकता यह है कि डॉ० शर्मा वाल्मीकि से चली आती हुई सम्पूर्ण काव्य-परम्परा को प्रगतिवादी चश्मे से देखते हैं और उसमें सन्निहित तत्त्वों की प्रगतिशीलता के आलोक में व्याख्या करने के अभ्यासी बन गये हैं—अन्यथा भवभूति और तुलसी को तो वे क्यों हिन्दी-आलोचना के नवविकास के लिए उपयोगी समझते और कालिदास को क्यों अनुपयोगी ? हम अभी ऊपर कह-

---

२३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ४८।
२४. वही, पृ० ४८।

चुके हैं कि भवभूति की नाट्यकृतियों में वह लोकजीवन चित्रित नहीं है जो शर्मा का प्रकाम्य है।

उन्होंने शुक्लजी में 'राजनीति और साहित्य के सम्बन्ध' के निरूपण का तत्त्व या तथ्य भी देख लिया है[२५]—जो उनकी निजी दृष्टि का प्रतिबिम्बन है। आ० शुक्ल के जिस कथन को उन्होंने उद्धृत किया है, उसका संदर्भ है 'काव्य और व्यवहार' का सम्बन्ध। इस प्रसंग में शुक्लजी ने इस विषय पर बल दिया है कि मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करनेवाली मूल वृत्ति 'भावात्मिका' है, केवल 'तर्क-बुद्धि या विवेचना' नहीं। इस सम्बन्ध में उन्होंने पाठक के 'राग' या भाव को उत्तेजित करने में समर्थ 'दृश्य' के अंकन को काव्य में महत्व प्रदान किया है। डॉ० शर्मा ने जो उद्धरण दिया है, उसी से यह तथ्य उभार में आ जाताहै।[२६] 'भाव-प्रसार' के मूल बिन्दु को छोड़कर, प्रस्तुत उद्धरण में राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध-निरूपण देखना डॉ० शर्मा के प्रगतिवादी पूर्वग्रह की उपज है। 'सामाजिक प्रश्नों की ओर साहित्यकारों की उदासीनता' के 'घोर विरोध' का प्रगतिवादी बिन्दु भी शुक्लजी में खोज लिया गया है।[२७] यहाँ जो उद्धरण लिया गया है—'जाने दो, हमसे क्या मतलब × × × ×' इत्यादि। वह आ० शुक्ल द्वारा वर्णित 'मनुष्यता की उच्च भूमि' प्रसंग से गृहीत है, जिसमें 'हृदय-प्रसार' को काव्य का गुण बताया गया है।[२८] अभिप्राय यह है कि आ० शुक्ल यहाँ सामाजिक प्रश्नों के प्रति साहित्यकारों की उदासीनता अथवा दिलचस्पी की बात नहीं करते, यह उनकी विचार-भूमि-ही नहीं है—अपितु इस बात को रेखांकित कर रहे हैं कि काव्य मनुष्य की असंवेदनशीलता का जिसे-ही वे उसकी अर्ध मृत्यु कहते हैं, निवारण करता है। इसी सिलसिले में वे कहते हैं, 'कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई, उसे मनुष्यता की उच्च भूमि पर ले जाती है।''[२९]

निष्कर्षतः यह स्पष्ट हो जाता है कि आ० शुक्ल न-तो कविता तथा राजनीति के संबंध का और न-ही सामाजिक प्रश्नों में साहित्यकारों की दिलचस्पी अथवा उदासीनता का विचार कर रहे हैं। डॉ० शर्मा ने अपना-ही वक्तव्य उनके मुँह में रखने का प्रयास किया है। हमें स्मरण रखना है कि आ० शुक्ल का पूरा 'थ्रस्ट' इस बिन्दु पर है कि कविता को लोकसामान्य भावभूमि से

---

२५. आ० रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ४९।
२६. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १२६।
२७. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ४८-४९।
२८. चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १२७-२८।
२९. वही, पृ० १२८।

शृंखलित होना चाहिए और शेष-सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सामंजस्य की रक्षा एवं निर्वाह उसका प्रमुख कर्त्तव्य होना चाहिए। इस मूल वक्तव्य की स्थापना तथा उपबृंहण में यदि राजनीति अथवा समाजशास्त्र के तत्त्व सहजतः सन्निविष्ट हो गये हैं, तो वह भिन्न स्थिति है। शुक्लजी ने राजनीतिक अथवा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कभी काव्य पर विचार किया ही नहीं। ऐसे प्रश्नों से उदासीन नहीं होना एक बात है, किन्तु उन्हें साहित्य-चिन्तन की मूल भूमि बनाना बिल्कुल दूसरी बात है।[३०] शुक्लजी 'लोकवादी' हैं, 'जनवादी' नहीं; उनकी आस्था तुलसी में हैं, निराला में नहीं।

डॉ० शर्मा का यह कहना सही है कि आ० शुक्ल ने भारत के चार महाकवियों—वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास—को अपना 'आदर्श और आधार' बनाया। यह कहना भी सही है कि उन्होंने इन कवियों के प्रकृति वर्णन को, इनकी लोक-हृदय में लीन होने की दशा को 'अपनी कसौटी' बनाया। किन्तु वे हिन्दी-संस्कृत के आचार्यों के 'अवैज्ञानिक सिद्धान्तों और अस्वाभाविक कृतियों की आलोचना' करते रहे[३१] यह कथन तथ्यपूर्ण नहीं है। शुक्लजी ने 'आनन्द' वाले बिन्दु को छोड़कर, कहीं प्राचीन साहित्यचार्यों की उल्लेखनीय आलोचना नहीं की है। यदि उन्होंने पंडितराज के चमत्कार' से चिढ़ व्यक्त की है, तो जैसा हमने अन्यत्र दिखाया है, यह इस कारण कि उन्होंने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः' शब्दावली से शृंखलित चमत्कार को अलंकारवादियों के शब्दगत चमत्कार का पर्याय-सा मान लिया है। हमने अयन्त्र दिखाया है कि उनका शास्त्रीय प्रतिपादन विश्वनाथ से भूरिशः अनुप्राणित है। भाव-विवेचन के प्रसंग में उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों से भी उद्धरण लिये हैं—यह भिन्न बात है कि 'वे उन लक्षणकारों के निरूपणों को प्रौढ़ तथा मौलिक नहीं मानते।

'अवैज्ञानिक सिद्धान्तों और अस्वाभाविक कृतियों' से डॉ० शर्मा की क्या विवक्षा है, स्पष्ट नहीं होता। आज प्रत्येक प्रसंग में 'वैज्ञानिक' तथा 'वैज्ञानिकता' के प्रयोग का जो 'फैशन'-सा चल पड़ा है, उसी के शिकार डॉ० शर्मा हो गये प्रतीत होते हैं। 'अस्वाभाविक' से अभिप्राय यदि 'कृत्रिम' से है, तो बात कुछ समझ में आती है। किन्तु यदि उसका आशय मानव-स्वभाव की प्रतिकूलता से है, तो यह प्रयोग भी भ्रामक माना जायेगा। शुक्लजी ने रीतिकवियों के शृंगार-वर्णनों की अवश्य आलोचना की है, किन्तु वहीं जहाँ वे भावशून्य-ऊहाओं के दलदल में पड़ गये हैं, अथवा कोरे चमत्कार-प्रदर्शन से अनुप्राणित बन गये हैं, अथवा सामन्तीय विलासिता को उत्तेजन देते प्रतीत होते हैं।

---

३०. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ३१-४९।
३१. वही, पृ० ३८।

आलोचना के क्षेत्र में आ० शुक्ल 'भवभूति के समानधर्मा' हैं[30] यह कथन भ्रान्तिपूर्ण है। पहली बात तो यही है कि इस कथन से यह भ्रम उत्पन्न होता है कि भवभूति साहित्यशास्त्री वा आलोचक थे जो तथ्य नहीं है। रह गयी बात भवभूति के इस कथन की, कि भविष्य में उनका कोई समानधर्मा उत्पन्न होगा जो उनके नाटकों का आस्वादन करेगा। यहाँ स्मरणीय है कि भवभूति ने यह कथन 'मालतीमाधव' में सूत्रधार द्वारा कराया है—

"ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥"

—'जो लोग हमारी इस रचना के प्रति अवज्ञा प्रकट करते हैं, वे क्या यह जानते हैं कि मेरा यह प्रयत्न उनके लिये नहीं है? मेरा समानधर्मा (काव्य-रस का मर्मज्ञ) कोई व्यक्ति उत्पन्न होगा ही (जो इस कृति की प्रशंसा करेगा) क्योंकि यह काल असीम है और पृथ्वी बड़ी विस्तीर्ण है।'

भवभूति के इस कथन से स्पष्ट है कि 'मालतीमाधव' को उचित सम्मान उनके समकालीन आलोचक नहीं दे रहे थे। भगवान् कालप्रियनाथ की यात्रा के शुभ अवसर पर भवभूति के नाटकों का अभिनय हुआ करता था। पहले 'मालतीमाधव' पंडितों की अवमानना का भाजन बना होगा। जिस कारण अन्तिम दौर में भवभूति को यह टिप्पणी जोड़नी पड़ी होगी। 'मालतीमाधव' के अनादरण का कारण उसकी कथावस्तु रही होगी जो कालिदास आदि प्राग्वर्ती नाटककारों की कथानक-योजना से भिन्न प्रकार की थी। उसमें मालती और माधव की मुख्य प्रणय-कथा के साथ मदयन्तिका और मकरन्द की प्रणय-कथा भी चलती है और मूल कथा के साथ इस कथा का अवसान भी, मधुर मिलन तथा परिणय में सम्पादित हुआ है। वस्तु-विन्यास ही जटिलता है, उद्वेगकारिणी हिंसा है, मालती जैसी रमणीय युवती का विवाह नन्दन जैसे वयोवृद्ध के साथ सम्पन्न होने की योजना है; भयंकर आकृति वाली योगिनी कपालकुण्डला है और उसके गुरु अघोरघंट नामक तांत्रिक हैं, माधव नरमांस-विक्रय का धन्धा करता है, बौद्ध संन्यासिनी कामंदिकी की पूर्व-शिष्या सौदामिनी है जो अपनी सिद्धि के प्रभाव से मकरन्द को श्रीपर्वत से उड़ा ले जाती है; इत्यादि—अनेक ऐसे बिन्दु तथा घटनाएँ परस्पर अनुस्यूत हैं जिनसे कालिदास-जैसे महाकवियों की कृतियों के पाठकों और भावकों की सुरुचिपूर्ण शालीनता पर आघात पहुँचा होगा। इसी कारण भवभूति की इस रचना की उपेक्षा हुई होगी और उन्होंने क्षुब्ध होकर उपर्युक्त कथन किया

३२. आ० रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ३८।

होगा। परवर्ती तथा अन्तिम प्रौढ़ रचना 'उत्तर रामचरित' में कथानक अथवा स्थापत्य का वह जटिल तथा तिलिस्मी झमेला नहीं है जिसमें ज्ञात होता है कि भवभूति ने अनुभव के आलोक में 'मालतीमाधव' के शील एवं संस्कृति का परित्याग कर दिया और पुनः 'महावीर चरित' में वर्णित रामकथा की ओर लौटकर, राम के उत्तरवर्ती चरित का कलापूर्ण तथा सहज बोधगम्य निबन्धन किया। हमें मालूम है कि इस रचना की उचित प्रशंसा हुई—'उत्तरेराम-चरिते भवभूतिर्विशिष्यते'।

अतएव यदि भवभूति को सम्मान मिला तो इस कारण कि उन्होंने सम-कालीन समालोचकों की प्रतिकूल टिप्पणियों से लाभ उठाया, न कि 'मालती-माधव' की टेकनीक को आगे बढ़ाया। इस सही परिप्रेक्ष्य में देखने से साफ हो जाता है कि आ० शुक्ल को आलोचना के क्षेत्र में भवभूति का समानधर्मा बताना कितना युक्तिविहीन है। यह सही है कि भवभूति ने 'मालतीमाधव' में 'दरबारी साहित्य' (अभिजात साहित्य) की उपेक्षा की थी और संभवतः लोकजीवन तथा गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से अनुप्राणित हुए थे। किन्तु वे इस नवीनता पर टिक नहीं सके क्योंकि तत्कालीन सहृदय-समुदाय ने उसे पसन्द नहीं किया। आ० शुक्ल की 'लोक-सामान्य भावभूमि' तथा 'लोक-संग्रह' वही नहीं हैं जो भवभूति की लोकबद्धता है। दरबारी साहित्य का विरोध कर, भवभूति जटिल छलछद्मपूर्ण लोकप्रचलित असंस्कृत प्रणयभूमि पर पहुँच गये, जबकि शुक्लजी दरबारी साहित्य का विरोध कर, तुलसी के 'मानस' की प्रशस्त तथा मर्यादा-निचित भावभूमि से प्रतिबद्ध हैं।

डॉ० शर्मा ने विवेच्य कथन के सन्दर्भ में, ठीक पहले, भवभूति के 'एको रसः करुण एव' का उल्लेख किया है और बाद में यह कथन किया है कि 'शुक्लजी ने साहित्य में वाल्मीकि और भवभूति की परम्परा को फिर जगाया।''[33] इस टिप्पणी का कारण यह है कि शुक्लजी ने भारतीय महा-काव्यों का बीजभाव करुणा को ठहराया है। यहाँ पर डॉ० शर्मा ने आदिकवि के करुण रस को भवभूति के करुण रस के साथ समेट लिया है जो अयुक्त तथा तर्कविहीन है। शुक्लजी वाल्मीकि की करुणा के समर्थक तो हैं, किन्तु भवभूति ने वाल्मीकि के रामचरित का 'उत्तररामचरित' में जैसा गल-दश्रुपूर्ण संस्करण प्रस्तुत किया है वह शुक्लजी को कत्तई पसन्द नहीं आयेगा कारण स्पष्ट है—उनके राम शक्ति, शील तथा सौन्दर्य के मूर्तिमान् विग्रह हैं जबकि भवभूति के राम कातर-विह्वल प्रणयी हैं जो सीता के वियोग में सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर बारंबार मूर्छित हो जाते हैं। सुतराम्, भवभूति के 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्' वाले राम शुक्लजी के राम

३३. आ० रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, पृ० ३८।

नहीं है और इसी कारण शुक्लजी का अभीष्ट करुण रस भवभूति का करुण-रस नहीं है जिसे यों वर्णित किया गया है—

'अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ।।'

(उ० रा० च०, ३/१)

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि दरबारी साहित्य के विरोध के नाम पर और लोकजीवन में करुणा की महत्त्व-प्रतिष्ठा के आधार पर शुक्लजी को भवभूति की पंक्ति में उपविष्ट कराना अनुचित है—यह भिन्न बात है कि करुणा-भाव की व्यापकता के निरूपण-प्रसंग में उन्होंने भवभूति का उल्लेख किया है। (चिन्तामणि, पहला भाग, पृ० १८०)

(१७) आचार्य शुक्ल की इतिहास-दृष्टि

खण्ड एक (क)

इतिहास नीरस वर्णन नहीं—पुरातात्त्विक अथवा ऐतिहासिक अनुसंधान-कर्त्ता को कार्लाइल ने 'धूलिवत् शुष्क' ('ड्राई-ऐज-डस्ट') कहा है। व्यंजना स्पष्ट है : इतिहासकार की तथ्यान्वेषी मनोभंगी इतिहास को प्रायेण शुष्क एवं नीरस बना देती है और वह मात्र इतिवृत्त का कोष बन जाता है, जिसमें उसके 'व्यक्तित्व' का, उसकी निजी भावनाओं एवं संवेदनाओं का प्रवेश नहीं हो पाता। किन्तु इतिहास तब निरर्थक बन जाता है जब तथ्यों का सीधा-सपाट उपन्यास प्रभविष्णुता को क्षतिग्रस्त बना देता है। वक्तव्य वस्तु के प्रभावी सम्प्रेषण के लिए इतिहास को उपस्थापन-सौन्दर्य से मण्डित भी होना चाहिए। जार्ज मैकाले ट्रेवेलियन ने तो यहाँ तक कहा है कि (अतीत का) इतिहास, अन्ततः सच्ची कविता है और वास्तविकता है कि यदि उसे सही ढंग से वर्णित किया जाय तो गल्प ('फिक्शन') से अधिक भव्य ('ग्रैण्डर) बन जाती है।'[1] गिबन की 'रोमन साम्राज्य का उदय एवं पतन' तथा एडमंड बर्क की 'वैरेन् हेस्टिंग्ज का महाभियोग' ऐसी-ही रचनायें हैं जिनमें वास्तविकता का बोध अत्यन्त प्रभावशाली बन गया है। तब जब मानव के मन-मस्तिष्क की सर्वश्रेष्ठ प्रसूति साहित्य के इतिहास की बात आती है, तब नितान्त आवश्यक एवम् स्पृहणीय है कि उसे इतिवृत्त-संग्रह की कक्षा से ऊपर उठकर सर्जनात्मक सौष्ठव से भी अनुप्राणित होना चाहिए।

---

1. G. U. Trevelyan : 'English Social History', Introduction, Page 11.

यूरोप में उल्लेखनीय है—उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में इस विषय पर प्रभूत वादविवाद चलता रहा कि साहित्य का इतिहास लिखा भी जा सकता है या नहीं। हेनरी मार्ले, लेपसी स्टीफेन इत्यादि जैसे साहित्यकारों ने यह स्वीकार किया कि साहित्य का इतिहास या तो समाज का इतिहास होता है, या फिर साहित्य में चरितार्थ विचारों का इतिहास होता है, या फिर कालक्रम से संयोजित विशिष्ट रचनाओं के विषय में मतस्प्रभाव एवम् निर्णय का इतिहास होता है। कोर्ट होप ने 'राजनीतिक संस्थाओं से संबद्ध कर राष्ट्रीय कल्पना' के इतिहास का वर्णन प्रस्तुत किया और यह स्थापना की कि व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद में लम्बा द्वन्द्वात्मक संघर्ष रहा है। लगभग इन सभी लेखकों ने साहित्य के इतिहास को 'बौद्धिक इतिहास' के रूप में देखा है। इस तमाम बहस में से एक बिन्दु यह निकलता ही है कि साहित्य, ललित साहित्य (Belles-lettres) का इतिहास मूलतः जातीय प्रतिभा के कल्पनात्मक स्वरूप के विकास का इतिहास है जिसके प्रादुर्भाव एवम् संवर्धन में व्यक्ति तथा समष्टि, दोनों का स्पष्ट अवदान स्मरणीय है।

(ख)

विधेयवाद— साहित्येतिहास के संदर्भ में 'विधेयवाद' की भूरिशः चर्चा की गयी है। विधेयवाद काण्ट के अध्यात्मवादी दर्शन की परम्परा के विरोध में आविर्भूत हुआ था जिस पर भौतिक विज्ञान के नव-निरूपणों का अतिशय प्रभाव पड़ा। इसके प्रमुख प्रणेता फ्रान्स के आगस्त काम्ते हैं जिन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पौजिटिव फिलोसफी' में अपने विचारों का प्रतिपादन (१८३०-४०) किया। उन्होंने भौतिक क्षेत्र में लागू होनेवाले 'कार्य-कारण' सिद्धान्त को वैचारिक क्षेत्र में भी अपनाया और अध्यात्म-दर्शन की सूक्ष्म, अभौतिक स्थापनाओं का विरोध किया। इस प्रकार काम्ते का विधेयवाद सूक्ष्म मस्तिष्कशास्त्र (मेटा-फिजिक्स) तथा स्वयंप्रकाश्य धर्म (रिवील्ड रेलिजन) के सिद्धान्तों का सर्वथा बहिष्कार करता है; मानव-जगत् में घटित प्रत्येक परिवर्तन को बहिरंग दृश्यभूत घटनाओं ('ओब्जर्वेबुल फेनामेना') का परिणाम मानता है, और धर्म की जगह मानवता एवम् सामाजिक नीति-शास्त्र को प्रस्थापित करता है जिन्हें मानव-जाति की उन्नति में कारणभूत होने का अनुमोदन इतिहास से प्राप्त है। इस प्रकार काम्ते ने ज्ञान की तीन अवस्थाएँ मानी हैं: पहली धर्मनिष्ठ, दूसरी सूक्ष्मविचारनिष्ठ तथा तीसरी विधेयवादी, जो मानव-जगत् में दृष्टिगोचर होने वाले प्रत्येक परिवर्तन की खोज मनोबाह्य, भौतिक अथवा दृष्टिगोचरीभूत कारणों में करता है।[2]

---

2. The Oxford Companion to English Literature, p. 180.

ताइन की मान्यता—साहित्येतिहास-निरूपण के क्षेत्र में विधेयवाद का सर्वप्रथम प्रवर्तन फ्रान्स के-ही प्रसिद्ध समालोचक तथा इतिहासकार हिपोलाईट ताईन (टेन) ने किया जब वे अंग्रेजी साहित्य का इतिहास (१८५६-५६) लिख रहे थे। ताइन की मान्यता में साहित्यकार सम्मिलित सृष्टि होता है अपनी जाति की, अपने समाज की और तात्कालिक परिस्थितियों की जो किसी काल-विशेष एवम् किसी देश-विशेष को शासित करती हैं। इस प्रसंग में उन्होंने क्रमशः 'जाति' ('रेस'), 'पर्यावरण' ('मिल्यू') तथा 'क्षण' ('मोमेण्ट') का प्रसिद्ध सिद्धान्त निरूपित किया। उनका अंग्रेजी साहित्य का इतिहास अंग्रेज जाति के विभिन्न क्रमिक युगों के प्रादुर्भूत विशिष्ट व्यक्तियों की विशिष्ट रचनाओं का विवरण है; इनमें से प्रत्येक व्यक्ति के विचारों तथा रचनाओं पर उस समाज तथा सभ्यता का, जिसमें वह जाता है तथा उन विचारों का प्रभाव पड़ता है जो उस हवा में तैरते हैं जिसमें वह साँस लेता है। ताइन ने यह भी दिखलाया है कि इन दो प्रमुख कारकों के अतिरिक्त, साहित्य पर 'क्षण' का भी प्रभाव पड़ता है जिससे उसका अभिप्राय रचना के विशिष्ट क्षण अथवा काल से उतना नहीं जितना उस 'मोमेण्टम' से है, अर्थात् विकास के किसी 'निश्चित प्रक्रम पर क्रियाशील उस अन्तःप्रेरणा' से जिसके द्वारा लेखक की रचनाधर्मिता की आन्तरिक शक्ति विशिष्ट सरणियों में फूट पड़ती है।[3]

आश्चर्य नहीं कि ताइन की इस मान्यता का विरोध फ्रान्स में ही हुआ क्योंकि साहित्य अथवा काव्य को एकान्त बाहरी, भौतिक वा दृष्टिगत कारकों की उपज बताना जातीय परम्परा तथा व्यक्ति के 'निजत्व' का पूर्णतः अपलाप करना कथमपि तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। फोर्ड मैडाक्स फोर्ड ने 'साहित्य-कला' की सृष्टि के लिए 'व्यापक आकर्षण के व्यक्तित्व' की आवश्यकता पर बल देते हुए, ठीक-ही कहा है—"साहित्य का गुण मानवता का गुण है। यह वह गुण है जो व्यक्ति एवम् व्यक्तियों के बीच मानव-हृदय के रहस्य तथा हमारे परिवर्तनों की कहानी को सम्प्रेषणीय बनाता है।"[4] इसी प्रसंग में लुई कजामियाँ (प्रसिद्ध आधुनिक फ्रान्सीसी साहित्यकार) की यह टिप्पणी उद्धरणीय है जिसने ताइन के उदाहरण से सावधान होकर, उसके संशोधित प्रत्याख्यान में, अंग्रेजी साहित्य का आधुनिक-कालीन (१८६०-१६३७) इतिहास प्रणीत करते समय, 'भूमिका' में लिखा है: "(ताइन-जैसी) कठोर निश्चयकरण की योजना आज कल्पनीय नहीं है। तथापि अब समय आ गया है जब प्रतीत होता है, साहित्येतिहास के व्यापक तथ्यों को अधिक

---

3. R. A. Scott James, 'The Making of Literature', pp. 253-58.
4. Ford U. Ford, 'The March of Literature', p. 15.

समापता से, न केवल भौतिक किंवा सामाजिक कारकों से, अपितु एक 'नैतिक' (मौरल) कारण के साथ जोड़ा जा सकता है, अर्थात् राष्ट्रीय मानस विकास के साथ जोड़ा जा सकता है।"[५]

कजामियाँ ने इस सिद्धान्त को व्यवहृत करते हुए यह दृष्टि अपनायी है : "इस दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य के ढाई-सौ वर्षों को, अँग्रेजी मानस के इतिहास में क्षणों की एक अटूट शृङ्खला के रूप में, समझना संभव हो सका है जिसका प्रत्येक सोपान नवीनता एवम् विषमता (पार्थक्य) की आकांक्षा के द्वारा शासित हुआ है और साथ ही, जाने-अनजाने, पूर्व के अनुभवों की संचित पूंजी की रक्षा भी हुई है। वस्तुतः यही उस सामष्टिक व्यक्तित्व का—जिसे 'राष्ट्र' कहते हैं—सामान्य विकास है।"[६]

अतः विधेयवाद साहित्य के इतिहास-निरूपक्ष में एकांगी अतिशयवादी दृष्टि अपनाता है—यह उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है : वह भूल जाता है कि साहित्य, काव्य अथवा कला बहिरंग प्रभावों के प्रति प्रत्युत्तरशील होते हुए भी जातीय रचना-प्रतिभा से कहीं-न-कहीं जुड़ा हुआ, मूलतः व्यक्तिनिष्ठ है, व्यक्ति-मानस की प्रसूति है, और व्यक्ति की ग्राहिका-शक्ति कैसे, कब क्रियाशील होगी, इसके विषय में कोई पूर्वनिर्धारित 'फार्मूला' नहीं निरूपित किया जा सकता। इटली के लियोनार्डो-डा-विंशी द्वारा आलेखित 'मोनालिसा' का विस्मयकारी प्रसिद्ध चित्र, जिसमें एक नारी की विचित्र मुसकान चित्रित है, जिस मुसकान की व्याख्या अद्यावधि नहीं की जा सकी है, कलाकार की उसी रहस्यमयी प्रतिभा का विज्ञापक है जिसे एकान्त बाह्य कारणों की पहचान में आनेवाले प्रभाव के सहारे निर्वचित नहीं किया जा सकता। साहित्य अवश्य मोनोलिसा का अ-व्याख्येय चित्र नहीं है, तथापि वह इस सत्य का संकेत करता है कि काव्य अथवा ललित साहित्य की व्याख्या नितान्त बाहरी कारकों के प्रकाश में नहीं की जा सकती। आचार्य शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास को विधेयवादी दृष्टि की उपज बताया गया है। इस मान्यता का परीक्षण आहूत बनता है।

(ग)

आ० शुक्ल और ताइन—हमारा अभिमत है कि साहित्येतिहास-लेखन के क्षेत्र में ताइन (टेन) ने विधेयवाद को जिस रूप में अंगीकृत किया है, उसी के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत प्रश्न विवेचनीय बनता है। यहाँ हम कहना चाहेंगे कि

---

5. E. Legouis and L. Cazamian, 'A History of English Literature', Introduction Part II, p. XX-XXI.
6. वही, Introduction, p. XX.

आचार्य शुक्ल ने उपरि-निरूपित 'कारकत्रय' में से मूलतः 'पर्यावरण' ('मिल्यू') को-ही ग्रहण किया है, यद्यपि 'जाति' एवम् 'क्षण' की भी पूर्णतः अनदेखी नहीं की है। तथापि पर्यावरण अथवा परिवेश को इतनी दृढ़ता से प्रकाश-केन्द्रित कर दिया है कि उनका इतिहास-बोध विकलांग-सा बन गया है और आज सन्तुलनविहीन आलोचना का भाजन बन गया है। इस प्रश्न पर सीधे विचार करने से पहले यह विचारणीय है कि साहित्य के विषय में उन्होंने अपने प्रसिद्ध इतिहास में कौन-सी सरणि अपनायी है।

जनता और शिक्षित जनता—प्रथम संस्करण के 'वक्तव्य' में उन्होंने साहित्य को 'शिक्षित जनता की प्रवृत्तियों' की उपज बताया था और संशोधित एवम् प्रबर्धित संस्करण (सं० २०२५) में जो, आज हमें उपलब्ध है, 'कालविभाग' के प्रारम्भ में-ही वे 'जनता' की चित्तवृत्ति' का कथन करते हैं—"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए, साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना-ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।"[७] वास्तविकता यह उभरती है कि शुक्लजी के अन्तर्बोध में 'जनता' और 'शिक्षित जनता' का द्वन्द्व आद्योपान्त चलता रहा है।

इस सन्दर्भ में उनके सम्मुख, हमारा अनुमान है, एक तरफ तुलसी-जैसे सगुणवादी भक्त-कवि रहे हैं, तो दूसरी तरफ निर्गुणवादी सन्त-कवियों की पृथुल परम्परा भी रही है और तीसरी तरफ रीतिकालीन प्रभूत काव्य भी रहा है जो उन्हें 'जनता' एवं 'शिक्षित जनता' के डोले पर एक ओर से दूसरी ओर झुलाता रहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की यह टिप्पणी भी, जो व्याजस्तुति-सी ध्वनित होती है, उद्धरणीय है—'वृत्तसंग्रह की परम्परा इसमें (शुक्लजी का इतिहास में) भी समाप्त नहीं हुई है और साहित्य को मानव-समाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति के रूप में न देखकर, केवल शिक्षित समझी जानेवाली जनता की प्रवृत्तियों के परिवर्तन-विवर्त्तन के निर्देशक के रूप में देखा है। शुक्लजी की यह विशेष दृष्टि थी और इस दृष्टि-भंगिमा के कारण इनके इतिहास में भी विशिष्टता आ गई है।'[८] कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी की 'मानव-समाज के सामूहिक चित्त की अभिव्यक्ति' भी, यद्यपि उसमें शिक्षित-अशिक्षित दोनो प्रकार की जनता का सम्मिलित बोध है,

---

७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, (सं० २०२५), काल-विभाग।

८. हजारीप्रसाद ग्रंथावली, तृतीय खण्ड, पृ० ५४६।

साहित्य-रचना के कारकभूत तत्वों की केवल आंशिक-ही पहचान करती है। 'सामूहिक चित्त' में व्यक्ति वैसे-ही विलीन हो जाता है जैसे समुद्र में बूंद। पुनः यह भी द्रष्टव्य है कि द्विवेदीजी के प्रिय कबीर में यह सामूहिक चित्त प्रतिफलित है अथवा तुलसी के 'मानस' में।

साहित्य में 'समाज' का अभिप्राय—इस प्रसंग में पहली बात तो यही रेखांकनीय है कि साहित्य को जनता अथवा शिक्षित जनता अथवा मानव-समाज के सामूहिक चित्त के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रणीत समझना-ही भ्रामक या भ्रान्तिजन्य है। जैसा मैंने अन्यत्र कहा है, 'साहित्य जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब नहीं है, जैसा कहा गया है। साहित्य वास्तव में, उस 'डोमिनैण्ट', प्रमुख विचारधारा अथवा प्रचलित प्रतीतियों (Prevalent perceptions) की प्रसूति है, जो उस परिवेश अथवा समाज-विशेष की गति-विधियों को अनुशासित करती हैं जिसमें कवि अथवा साहित्यकार रचनाशीलता अपनाता है। साहित्य में व्यक्तित्व प्रधान होता है, किन्तु जहाँ वह व्यक्तिवाद की ओर झुकता है, वहाँ भी उस प्रमुख विचारधारा अथवा प्रतीतियों का प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रभाव विद्यमान रहता है जो उसके परिवेश या समाज की प्राणधारा को स्वरूप तथा स्वभाव प्रदान करती हैं। अतएव साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब बताना उतना-ही सरल है जितना साहित्य को समाज का दर्पण बताना। साहित्य के संदर्भ में 'जनता' अथवा 'समाज' सर्वदा अपनी व्यापकता खोकर, उस संकीर्ण वा सीमित परिवेश का द्योतन करता है जिसमें रचनाकार की रचनाशीलता फलती-फूलती है। तथापि सारस्वत-वर्त्म के ऐसे भी कालजयी अनुसर्त्ता हो चुके हैं जिनकी रचनाएँ देश-काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के लिए शाश्वतिक महत्व रखती हैं।"[९]

व्यक्ति का महत्व—वर्तमान उद्धरण में, मैंने, जाने-अनजाने 'व्यक्ति' के महत्त्व को रेखांकित नहीं किया है, किन्तु यदि ताइन की उपर्युक्त कारकत्रयी में 'व्यक्ति' भी जोड़ दिया जाय तो हम समझते हैं, साहित्य की अधिक स्वीकार्य व्याख्या हो सकेगी। अर्थात्, 'जाति + पर्यावरण + क्षण + व्यक्ति।' यही चतुष्टयी साहित्य के प्रादुर्भाव, प्रवर्धन एवं परिपोषण में कारणभूत होती है—यह भिन्न प्रमेय है कि किसी कृति-विशेष, अथवा किसी कालविशेष की रचनाओं में—इन कारकों में से किसी एक-या-दो का अतिशय्य प्रतिफलित हो। जब शुक्लजी रीतिकाल, प्रकरण (सामान्य परिचय) के अन्त में यह टिप्पणी

---

९. 'वीणा' (इन्दौर), मार्च १९८५ में 'साहित्य का तुलनात्मक अनुशीलन : आधार तथा आयाम' शीर्षक निबन्ध।

करते हैं कि (श्रृङ्गार-वर्णन के अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाने का) कारण 'जनता' की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था, 'तब उनकी यह प्रतिज्ञा स्वयं खंडित हो जाती है कि साहित्य 'जनता की चित्त-वृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब है।' यहाँ कवि का वही पर्यावरण या परिवेश कार्यशील रहा है जिसमें रीतिकालीन कवि जीते एवं साँस लेते थे, और साथ-ही उनकी व्यक्तिगत अभिरुचियों का भी कर्तृत्व स्वीकार्य होगा। फिर दुहरा देना आवश्यक प्रतीत होता है कि साहित्य न 'जनता' की, न-ही 'शिक्षित जनता' की 'चित्तवृत्तियों' अथवा 'मानव-समाज के सामूहिक चित्त' का परिणाम होता है, अपितु वह उपजता है उस विशेष सन्दर्भ से जिसमें रचनाकार जीता और प्रोत्साहन प्राप्त करता है और जो तात्कालिक प्रमुख विचारधारा से अनुशासित भी होता है। तथोक्त वीरगाथाकाल, भक्तिकाल अथवा रीतिकाल की रचनाएँ इसी फार्मूले की परिधि में सामान्यतः व्याख्यात हो सकती हैं।

सामाजिकता बनाम साहित्यिकता—'जनता' और 'शिक्षित जनता' के उक्त अन्तर्द्वन्द्व को कुछ लेखकों ने 'सामाजिकता' एवम् 'साहित्यिकता' के द्वन्द्व-रूप में विवेचित किया है। इन लोगों ने शुक्लजी के 'विधेयवादी नहीं होने का आधार यह बताया है कि उन्होंने 'विधेयवादी निर्धारणवाद' को मान्यता न देकर 'ऐतिहासिक और वस्तुवादी' दृष्टिकोण अपनाया है, और सामन्ती तथा पूँजीवादी मूल्यों का विरोध किया है।[१०] हमने एक प्रकरण में दिखाया है कि मार्क्सवादी आलोचक किस प्रकार शुक्लजी को विचित्र तर्काभासों द्वारा अपने राजनीतिक शिविर में स्थापित करने का मनोरंजक प्रयास करते रहे हैं। आचार्य शुक्ल 'अंशतः' विधेयवादी हैं, इसका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता।

सामाजिकता और साहित्यिकता के द्वन्द्व का अपने ढंग से समाधान निकालनेवाले उपर्युक्त लेखकों ने निरूपित किया है कि 'सामाजिकता की कसौटी' सामान्य जनता है और 'साहित्यिकता की कसौटी' सामान्य जनता है। सामान्य जनता को सामाजिकता से और शिक्षित जनता को साहित्यिकता से श्रृङ्खलित करने का अर्थ यह होता है कि शिक्षित जनता 'सामाजिक' नहीं है और सामान्य जनता 'साहित्यिकता' के प्रभावों से वंचित अथवा शून्य है। इस तर्क-सरणी का एक अन्य स्वाभाविक अनुमान ('कारोलरी') या परिणमित प्रमेय यह भी होगा कि जिस देश वा राष्ट्र का नागरिक-समुदाय 'शिक्षित होगा, वहाँ 'साहित्यिकता'—साहित्य के सौन्दर्य-वर्धक धर्मों का ह्रास होगा। अनुभव

---

१०. डॉ० मैनेजर पांडेय : 'साहित्य और इतिहास-दृष्टि', पृ० १०४-०५।

एवं इतिहास इस अनुमान का उपलालन नहीं करता। यहीं यह भी कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जब ऐसे उत्साही लेखक 'सामाजिकता के मूल में लोकसंग्रह का भाव' वर्तमान बताते हैं, तब यह भी ध्वनित होता है कि 'साहित्यिकता' लोकसंग्रह की प्रतिवादिनी वा विरोधिनी है। 'मानस' में साहित्यिकता नहीं है, यह कौन कहेगा और यह भी कौन कहेगा कि 'मानस' में लोकसंग्रह की ऊष्मा नहीं है ? वस्तुतः मार्क्सवादी समीक्षक अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता से मजबूर रहते हैं और, 'काले-अकाले', प्रत्येक राष्ट्रीय महिमा वाले कवि या साहित्यकार को अपने विशिष्ट अर्थ में 'प्रगतिवादी' सिद्ध करने का प्रयास करते रहते हैं।

अस्तु आचार्य, शुक्ल "जनता' और 'शिक्षित जनता' के अन्तर्द्वन्द्व से विचलित अवश्य रहे हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। तब उसे कैसे व्याख्यात किया जाय, यह प्रश्न उठता-ही है।

लोकसामान्य भावभूमि—'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने 'लोकसामान्य भावभूमि' की चर्चा की है और कविता के इसी 'भूमि' से शृङ्खलित रहने की संस्तुति की है। तुलसी के काव्य में यह 'भूमि' उन्हें साफ दिखायी पड़ी है और हम भी मानते हैं कि 'मानस' की लोकप्रियता इसी लोकसामान्य भावभूमि की उपज है। प्रसिद्ध आंग्ल कवि वर्ड्सवर्थ ने 'व्यापकतम जनसमूह के आनन्दों एवं विषादों' (ज्वायज ऐण्ड सारोज इन दि वाइडस्ट कामनैल्टी स्प्रेड') की बात कही है। वर्ड्सवर्थ का व्यापकतम जनसमुदाय शुक्लजी का-ही 'लोकसामान्य' है। और तब, आचार्य का वक्तव्य नितराम् स्पष्ट हो जाता है। उनकी 'जनता' या 'सामान्य जनता' इसी 'लोकसामान्य भावभूमि' के संसारी प्राणी हैं। शिक्षित जनता भी इस भावभूमि से विच्छिन्न नहीं है।

शुक्लजी मार्क्सवादी नहीं—उल्लेखनीय हैकि जब आचार्य शुक्ल भक्तिकाल, प्रकरण १ में, ज्ञानाश्रयीवाली निर्गुणवादी रचनाओं का प्रभाव 'शिष्ट और शिक्षित जनता' पर नहीं पड़ने की बात कहते हैं, तब उनका ध्यान 'लोकसामान्य भावभूमि' की व्यापकता पर है। इस जाति की रचनाओं में भाषा तथा शैली का अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटांग होना 'ज्ञानमार्ग की सुनी-सुनायी बातों का पिष्टपेषण' इत्यादि ऐसे तथ्य हैं जो एक ओर साहित्यिक सौष्ठव का अपकार करते हैं और दूसरी ओर अपनी भावभूमि को संकीर्ण अथवा विशिष्ट बनाते हैं। अन्य शब्दों में उनकी ग्राहिणी 'जनता' की व्यापकता क्षतिग्रस्त हो जाती है और तब शुक्लजी का 'लोकसामान्य भावभूमि' वाला प्रिय प्रस्थान खंडित हो जाता है। इसी कारण वे 'शिक्षित जनता' वाले अधीनस्थ, सहयोगी बिन्दु पर चले आते हैं, जहाँ से वे इन रचनाओं के

साहित्यिकता की कोटि में परिगणित होने के दावे का आसानी से प्रत्याख्यान कर सकें। सच्चाई यही है कि शुक्लजी जनता, व्यापक जनसमुदाय, की रागात्मक अपेक्षाओं की पूर्ति साहित्य वा काव्य से चाहते हैं, और जब विवेच्य रचना अथवा रचनाकार इस कसौटी पर खरा नही उतरता, तब उसकी आलोचना में वे कभी 'जनता', कभी 'सामान्य जनता' और कभी 'शिक्षित जनता' का अवलंब ग्रहण करते हैं। रीतिकालीन कवियों की अतिशय शृङ्गारी रचनाओं की जब वे भर्त्सना-सी करते हैं और उन्हें 'जनता की रुचि' से विश्लिष्ट कर देते हैं, तब भी उनका मन्तव्य इसी लोकसामान्य भावभूमि की रक्षा करना होता है। 'अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता' पर जब वे इन 'संत-महात्माओं' के बड़े 'भारी उपकार' की बात कहते हैं, तब निश्चित-ही, उनका अभिप्राय ऐसी रचनाओं की 'साहित्यिकता' से नहीं होता, जैसा उन्होंने स्वयं वर्तमान प्रसंग के अन्त में कह दिया है। 'कबीर आदि दो-एक प्रतिभा-सम्पन्न संतों' को वे अपनी इस आलोचना से मुक्त रखते-ही हैं। तब, यदि यह तर्क उपस्थित किया जाय कि शुक्लजी अपनी काव्य-कल्पना मे 'बुर्जुआ' हैं अथवा प्रतिक्रियालु हैं, तब वे स्वयं इसका प्रतिवाद नहीं करेंगे इस कारण नहीं कि वे सचमुच मनोभंगी में 'बुर्जुआ' हैं, बल्कि इस कारण कि वे साहित्य का मर्म समझते हैं और मार्क्सवादी नहीं हैं जिसके लिए उन्हें 'प्रगतिशील' आलोचकों से क्षमा-याचना करनी पड़े।

आचार्य शुक्ल के इस कथन पर भी प्रतिकूल टिप्पणी की गयी है कि इस धारा की रचनाओं में 'संस्कृत-बुद्धि, संस्कृत-हृदय और संस्कृत-वाणी का वह विकास' नहीं पाया जाता जो 'शिक्षित समाज' को अपनी ओर आकर्षित करता।' अवश्य-ही, सरहपा 'पंडित' थे; गोरखनाथ की अनेक रचनाएँ संस्कृत में हैं; सुन्दरदास काव्यशास्त्र के 'अच्छे जानकार' थे। तब, शुक्लजी स्वयं जानते हैं कि ये योगीसिद्ध संस्कृत में रचनाएँ करते थे।[११] किन्तु, शुक्लजी की आपत्ति इन संतों-सिद्धों की 'रचनाओं' पर है जिनमें साहित्य के प्रमुख तत्त्व, 'हृदय-पक्ष' की नितान्त अवहेलना हुई है जिसका सम्बन्ध रचनाकार को 'पण्डिताई' अथवा शास्त्रज्ञान से नहीं, अपितु उसकी रचनाशीलता से है।

वस्तुतः, जैसा पहले कहा है, शुक्लजी इस सत्य की अवधारणा से वंचित रह गये, आरम्भ में-ही, कि साहित्य उस विशिष्ट जनसमूह अथवा परिवेश में मान्य वा प्रचलित बोध की उपज है जिसमें रचनाकार जीता है, भोगता है। लोकसामान्य भावभूमि के प्रति अपने प्रगाढ़ मोह में वे इस सत्य को भूल गये कि ऐसे महान् रचनाकार भी एक जनसमुदाय विशेष के 'नागरिक' होते हैं, न

---

११. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (सं० २०२५), पृ० ११-१२।

कि उनकी 'भौतिक' पहुँच और प्रसार सर्वव्यापी होता है। तुलसीदास ने अकबर की मनसबदारी को अस्वीकार कर दिया, किन्तु उन्होंने 'मानस' में जिन तत्त्वों एवम् मूल्यों को प्रस्थापित किया, वे अकबर अथवा 'अकबरी' संस्कृति वालों को भी आकर्षित करते हैं। पुनः, यह भी स्मरणीय है कि कवि के अभ्यस्त पर्यावरण की संकीर्णता अथवा व्यापकता के अनुपात में-ही उसकी रचना की प्रभावशीलता की इयत्ता होती है।

भक्ति-साहित्य का 'बारह आना'—'अपने पौरुष से हताश-जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था'—यह निर्वचन अवश्य संतुलनविहीन है। सूर-तुलसी जैसे भक्त-कवि अपने परिवेश से प्रभावित होने के साथ, ताइन के उस तात्कालिक 'क्षण' से भी अनुप्राणित थे जिसमें उनकी रचनात्मिका 'शक्ति' का प्रवाह उनकी कविता में फूट पड़ा। भक्ति की सांस्कृतिक विचारधारा ने, जिसे शुक्लजी स्वयं दक्षिण से आयी बताते हैं, इन भक्त-प्रवरों की कारयित्री-प्रतिभा को तात्कालिक 'धक्का-सा' ('पुश') दिया और वे भक्तिभाव से परिपूर्ण कालजयी रचनाओं से साहित्य-मन्दिर को आलोकित कर सके। यह बात नहीं कि शुक्लजी सामयिक, राजनीतिक सन्दर्भ के अलावा सांस्कृतिक वा पारम्परिक जैसे अन्य कारणों से अनभिज्ञ थे। भक्ति-प्रवाह, निर्गुणोपासक सन्तों तथा अष्टछापीय कवियों जैसे कई प्रकरणों में उन्होंने अपनी परम्पराविषयक जानकारी का परिचय दिया है। तथापि, वे विधेयवाद के एक-ही पक्ष से इतने प्रभावित हुए कि 'वैज्ञानिकता' के व्यामोह में उन कारणों को प्रमुखता से उद्घाटित नहीं कर सके। किन्तु, जैसे वे अपने निरूपण में एकांगी सिद्ध हुए, वैसे-ही आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी भी एकांगी कहे जायेंगे—यद्यपि भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास निरूपित करते हुए, यह कहने के साथ-ही कि यदि इसलाम नहीं आया रहता तो भी हिन्दी-साहित्य 'बारह आना' वही रहता; उन्होंने 'चार आना' की गुंजाइश छोड़-ही दी है। एफ० ई० की महोदय ने अपने छोटे-से हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के आविर्भाव के वही कारण बताये हैं जिन्हें शुक्लजी ने प्रस्तुत किया है। शुक्लजी इस-जैसे साम्राज्यवादी अंग्रेज लेखकों के 'झाँसे' में आ गये—यह हमें नहीं मालूम। वल्लभाचार्य ने भी तो म्लेच्छाक्रान्त-देशवासियों के लिए 'भगवान् की शरण' की बात कही थी—"देश म्लेच्छाक्रान्त है; गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं; अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है; सत्पुरुष पीडित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है। ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।"—इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं।[१२]

---

१२. 'रामचन्द्र शुक्ल' ('सम्पर्क', १९८५), पृ० १८४।

खण्ड दो

(क)

पूर्ववर्ती रचनाएँ—हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की ज्ञात परम्परा १८३९ ई० से प्रारम्भ होती है जब फ्रान्सीसी विद्वान् गार्सा द तासी ने 'इस्तार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई ए हिन्दुस्तानी, नामक ग्रंथ, प्रथम भाग, का प्रकाशन किया। कहा गया है कि तासी ने मौलवी करीमुद्दीन के इतिहास से सहायता ली थी। उसका दूसरा तथा तीसरा भाग क्रमशः १८४७ एवं १८७१ में प्रकाशित हुए। इस ग्रन्थ में ७० कवियों, हिन्दी तथा उर्दू दोनों, का वर्ण-क्रमानुक्रमेण संग्रह हुआ है। इसमें काल-विवेचन अथवा युगीन-प्रवृत्तियों का निरूपण नहीं है। सम्पूर्ण साहित्य-परम्परा को आख्यान, आदिकाव्य, इतिहास तथा काव्य के चार खंडों में विभाजित किया गया है। आ० शुक्ल ने हिन्दी-उर्दू विवाद पर तासी से असहमति व्यक्त की है और इस ग्रंथ को कोई महत्त्व नहीं दिया है। १८७८ ई० में प्रसिद्ध 'शिवसिंह सरोज' प्रकाशित हुआ जिसमें १००३ कवियों का अकारादि-क्रम से विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसी क्रम में जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन का 'दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर आव हिन्दुस्तान' १८०८ ई० में प्रकाशित हुआ जो पहले 'एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल' के जर्नल में शोध-निबंध-रूप में छप चुका था। इसमें ९५२ कवियों-लेखकों का कालक्रमानुसार विवेचन है और साथ-ही, युगीन प्रवृत्तियों का निरूपण भी किया गया है। शुक्लजी का काल-विभाजन तथा युगीय प्रवृत्तियों का निरूपण इस ग्रंथ से प्रभावित हुआ है। ग्रियर्सन के बाद इटैलियन विद्वान् एल० पी० टैसीटरी की पुस्तक 'दि डेस्क्रिप्टिव कैटेलोग आव बार्डिक ऐण्ड हिस्टोरिकल मैनुसक्रिप्ट्स' १९१७ में छपी जिसमें राजस्थानी भाषा डिंगल के काव्य-ग्रंथों के विवरण एवं उदाहरण सन्निविष्ट किये गये हैं। इसी परम्परा में कर्नल जेम्स टाड ने 'ऐनल्स ऐण्ड ऐण्टीक्विटीज आव् राजस्थान' पुस्तक प्रकाशित की जिसमें ८३९ कवियों की जीवनियाँ तथा रचनाएँ वर्णक्रमानुसार प्रस्तुत की गयी हैं। तदनन्तर, उसी वर्ष पादरी एडविन ग्रीव्ज का 'ए स्केच आव् हिन्दी लिट्रेचर' प्रकाश में आया जिसमें साहित्यिक गतिविधि का परिचय देने के साथ हिन्दी के भविष्य का आकलन किया गया है। तत्पश्चात्, पादरी एफ० ई० की ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आव हिन्दी लिटरेचर' १९२० में प्रकाशित करायी जिसमें कोई विशेष नवीनता नहीं है और भक्तिकाल की प्रेरक परिस्थितियों में, अन्य विदेशी लेखकों के समान, इसमें भी मुसलिम आक्रमण तथा शासन को कारणभूत माना गया। उल्लेख-नीय है कि इन उपर्युक्त पुस्तकों में छोटी-बड़ी सभी आकार की पुस्तकें सम्मि-लित हैं—ग्रीव्ज की पुस्तक में केवल ११२ पृष्ठ और की की पुस्तक में ११६ पृष्ठ हैं।

हिन्दी लेखकों में 'शिवसिंह सरोज' के बाद मिश्रबन्धुओं का प्रसिद्ध 'मिश्र-बन्धु-विनोद' आता है जिसे 'इतिहास' तो स्पष्ट नहीं कहा गया है, किन्तु इसे 'एक आदर्श इतिहास सिद्ध' करने का प्रयास अवश्य किया गया है। इसके तीन भाग १९१३ में और चौथा भाग १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में ४५९१ कवियों का विवरण, आठ से अधिक काल-खण्डों में, प्रस्तुत किया गया है और काल-विभाजन एवम् नामकरण में प्रवृत्ति-परक दृष्टि अपनायी गयी है। इसी सन्दर्भ में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'हिन्दी साहित्य विमर्श' (१९२३) तथा बदरीनाथ भट्ट की 'हिन्दी' (१९२५) पुस्तकें भी उल्लेख्य हैं जो इतिहास-संज्ञा से विरहित होते हुए भी, उपादेय हैं। गौरीशंकर द्विवेदी की रचना 'सुकवि-सरोज' भी इसी श्रेणी की खोजपूर्ण कृति है। आ० शुक्ल-पूर्व (१९४० से पहले के) इतिहास-ग्रंथों में डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' (१९३०); डॉ० रसाल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३४); कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९३४); बाबू गुलाबराय का 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' (१९३८); और आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०) परिगणित किये जा सकते हैं।

(ख)

शुक्लजी के आधार-ग्रन्थ—अनेक त्रुटियों तथा कमियों के बावजूद आ० शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास आज भी अपना महत्त्व रखता है। उन्होने ठीक ही कहा है कि उनके पूर्व-रचित सभी इतिहास समझे जानेवाले ग्रन्थ 'कविवृत्त-संग्रह' हैं। 'मिश्र-बन्धु-विनोद'—भी, जिसमें सामान्यतः कवियों के परिचय उन्होंने लिये हैं, केवल 'प्रकांड कविवृत्तसंग्रह'—ही हैं।[१३] जैसा पहले कहा है, 'आदि से अन्त तक (जनता की) इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए, साहित्य-परम्परा के साथ सामंजस्य दिखाना' वे साहित्य के इतिहास के लिए आवश्यक समझते हैं। चित्तवृत्तियों की इसी परम्परा के परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध लिखित सामग्री की परम्परा की छानबीन जिससे दोनों परम्पराओं में सामंजस्य स्थापित हो सके, इन वृत्तसंग्रहों में नहीं हो पायी थी। शुक्लजी ने अपने ढंग से, अपने चिन्तन एवं अध्ययन की अनुरूपता में, अपने इतिहास का प्रणयन किया। छात्रों के उपयोग-हेतु तैयार किये गये 'कुछ संक्षिप्त नोट' से प्रारम्भ कर, नागरी प्रचारिणी पत्रिका में शोध-पत्रों के रूप में छपते हुए, 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका में गृहीत सामग्री-ही यह इतिहास है। स्पष्ट-ही, अतः विद्यार्थियों तथा विद्वानो दोनों

---

१३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (२०२५ सं०) प्रथम सं० का 'वक्तव्य' पृ० ७।

का समान आकर्षण इसके प्रति रहा है और अद्यापि बना हुआ है। शुक्लजी के पास 'जरूरी' सामग्री का अभाव था और कवियों के 'परिचयात्मक वृत्तों' की जाँच-पड़ताल में उनकी मनोवृत्ति भी नहीं रमी। उनका उद्देश्य "अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था, न कि कवि-कीर्तन करना"।[१४] इस उद्देश्य में वे सफल रहे हैं क्योंकि आज भी वह ढाँचा ढाहा नहीं जा सका है।

विद्वानों ने बताया है कि ग्रियर्सन का "दि माडर्न वर्नाक्यूलर लिट्रेचर ऑफ हिन्दुस्तान", नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपियों की खोज-रिपोर्टें तथा 'मिश्रबन्धु-विनोद' के अतिरिक्त 'शिवसिंह सरोज' भी शुक्लजी का आधार-ग्रन्थ रहा है। 'सरोज' महत्त्वपूर्ण काव्यसंग्रह है। इसके पूर्वार्द्ध में ८३८ कवियों की कविताओं के नमूने हैं और उत्तरार्द्ध में एक हजार कवियों का परिचय भी दिया गया है जिनमें से अधिकांश के सन्-संवत् भी लिखित हैं। ये संवत् कवि के स्थितिकाल हैं; न कि उनके जन्मसंवत् हैं। ग्रियर्सन ने इन संवतों को उत्पत्ति-संवत् मान लिया है जो सही नहीं है। सभी की खोज-रिपोर्टें तथा शुक्लजी का इतिहास भी इस प्रमाद के शिकार हुए हैं।[१५] 'हिन्दी कोविद-रत्नमाला' के दो भागों की चर्चा कर, उन्होंने बाबू श्यामसुन्दरदास तथा सभा के प्रति भी अपनी अधमर्णता स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त, रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' तथा वियोगी हरि के 'ब्रज-माधुरी-सार' से भी सामग्री ली है।[१६] किन्तु इन आधारों के अतिरिक्त भी, प्रभूत अन्यान्य प्रकार की सामग्री उनके इतिहास मे उपलब्ध होती है जो उनके स्वाध्याय तथा स्वतन्त्र चिन्तन-मनन की प्रसूति है।

उल्लेखनीय है कि शुक्लजी का इतिहास-लेखन १९२९ ई० से १९४० तक लगातार चलता रहा था। प्रथम संस्करण १९२९ में तथा प्रवर्धित संस्करण १९४० में प्रकाशित हुआ। 'कविता क्या है' शीर्षक लेख को शुक्लजी १९०९ से १९२९ तक बार-बार लिखते और सँवारते-संशोधित करते रहे जिससे उनकी मान्यताएँ सुतराम् स्पष्ट एवं व्यवस्थित हो जाँय। अपने इतिहास में भी उनकी यह दृष्टि प्रतिफलित हुई। 'विनोद' में समाविष्ट लगभग ५००० रचनाकारों में उन्होंने केवल लगभग ८०० लेखकों को-ही गृहीत किया है जिससे व्यर्थ की भीड़ छँट जाय। काल-विभाग में भी लगभग ऐसी-ही दृष्टि उपलब्ध होती है।

---

१४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, वक्तव्य, पृ० ५।

१५. डॉ० किशोरीलाल गुप्त : 'सरोज-सर्वेक्षण' (प्रथम सं०)।

१६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, (सं० २०२५), प्रथम संस्करण, 'वक्तव्य', पृ० ७।

यह भिन्न बात है कि प्रवृत्तियों के निर्धारण में उन्होंने कुछ प्रवृत्तियों को 'रसोपयोगी' और कुछ को 'बाधक' बताया है।[१७]

(ग)

काल-विभाजन तथा नामकरण—आचार्य शुक्ल के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता उनका काल-विभाजन तथा नामकरण है। हिन्दी साहित्य के नव सौ वर्षों के इतिहास को उन्होंने चार भागों में विभाजित किया और 'आदिकाल', 'पूर्वमध्यकाल', 'उत्तर मध्यकाल' तथा 'आधुनिक काल' की मुख्य अभिधाओं के साथ, विकल्परूपेण, उन्हें प्रवृत्ति की दृष्टि से क्रमशः 'वीरगाथा-काल', 'भक्तिकाल', 'रीतिकाल' तथा 'गद्यकाल' भी अभिहित किया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि शुक्लजी के इतिहास के साथ-साथ या कुछ आगे-पीछे जो ४०-५० इतिहास प्रकाशित हुए हैं, उन सभी में उन्हीं का कालविभाजन, थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ स्वीकृत हुआ है। तथापि, इस काल-विभाजन तथा नामकरण को लेकर आलोचनाएँ हुई हैं जिनमें सर्वाधिक विवादास्पद रहा है, आदिकाल अथवा वीरगाथा-काल। अतः इस पर थोड़ा विचार आवश्यक बन जाता है।

हिन्दी साहित्य का आविर्भाव—हिन्दी साहित्य के उद्भव के विषय में मुख्य वैशिष्ट्य डॉ० रामकुमार वर्मा के 'आलोचनात्मक इतिहास' का है। उन्होंने शुक्लजी के आदिकाल (सं० १०५०-१३७५) से पूर्व एक 'सन्धि काल' जोड़ दिया है जिसकी व्याप्ति सं० ७५० से सं० १००० तक मानी है और इसके बाद वाले काल को 'चारण-काल' की संज्ञा प्रदान की है। यह 'चारण-काल' ग्रियर्सन की नकल पर 'वीरगाथाकाल' के विकल्प रूप में निरूपित किया गया है। सन्धिकाल में अपभ्रंश के सिद्धों, जैनों तथा नाथपंथी योगियों की रचनाएँ गृहीत हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने भी हिन्दी साहित्य का आविर्भाव सं० ७५० के आस-पास माना है। ऐसे लेखक सिद्ध सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि मानते हैं। किन्तु, आज तक सरहपाद की हिन्दी में रचित एक भी कृति नहीं मिली है। राहुलजी ने 'दोहाकोश' में सरहपाद के नाम से जो कविता के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे तिब्बती भाषा से प्राप्त प्रति के स्वयं राहुलजी के द्वारा किये गये अनुवाद हैं। शुक्लजी को इस तथ्य की जानकारी थी कि 'अपभ्रंश का या प्राकृताभास हिन्दी में रचना होने का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी में मिलता है। इस काल की रचना के नमूने बौद्धों की वज्रयान-शाखा के सिद्धों की कृतियों के बीच मिले हैं।'[१८] सिद्धों

१७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, 'वक्तव्य', पृ० ६।
१८. वहीं, आदिकाल, अपभ्रंश काव्य, पृ० १०।

सबसे पुराने सरह को भी वे जानते हैं जिनका समय डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य ने विक्रम संवत् ६९० निश्चित किया है।[१९] इस जानकारी के बावजूद, शुक्लजी हिन्दी साहित्य का आविर्भाव सं० १०५० ही क्यों मानते हैं, इसके पीछे उनका पुष्ट आधार है : "(सिद्धों) की रचनाएँ तान्त्रिक विधान, योग-साधना, आत्म-निग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अन्तर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं।"[२०] चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने अपने शोधपूर्ण 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक निबन्ध में यह निष्कर्ष दिया था कि पुरानी हिन्दी में लिखे गये प्राचीनतम दोहे भोज के चाचा मुंज-द्वारा रचित हैं। अतः भोज के समय, अर्थात् संवत् १०५० से शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना है। यही पुरानी हिन्दी 'उत्तर अपभ्रंश' है या 'अवहट्ट' है।

आ० द्विवेदी की टिप्पणी—सिद्धों की रचनाएँ शुद्ध साहित्य में नहीं आतीं, इस मान्यता का कड़ा विरोध आ० द्विवेदी ने, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के तत्त्वावधान में दिये व्याख्यान (१९५२ ई०) में किया है।........................
"××× केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य-सीमा से बाहर निकालने लगेंगे, तो हमें आदिकाल से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी के 'मानस' से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार करना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत् करके विदा कर देना होगा।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी की यह आलोचना सुचिन्तित नहीं है। शुक्लजी का सिद्ध रचनाओं के हिन्दी साहित्य से बहिष्करण का प्रकृत आधार धार्मिक अथवा आध्यात्मिक उपदेशों का सन्निवेश नहीं, अपितु साम्प्रदायिकता का अतिरेक है। तुलसी, जायसी इत्यादि की रचनाओं में मानव-हृदय की अनुभूतियों की रसपूर्ण अभिव्यक्ति का प्राधान्य है जिस कारण उन्हें सिद्धों की पंक्ति में स्थापित करना अन्याय है। शुक्लजी के बाद अनेक इतिहास लिखे गये हैं जिनमें से बहुतेरे व्यक्ति-प्रयास के तथा कुछ सामूहिक प्रयास के परिणाम हैं। कुछ में साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या की गयी है और शुक्लजी के काल-विभाजन में परिवर्तन किये गये हैं। किन्तु, कुल मिलाकर, उनका काल-विभाजन आज भी बहुमान्य है।

---

१९. हिन्दी साहित्य का इतिहास, अपभ्रंश काव्य, पृ० १२।
२०. वही, अपभ्रंश काव्य, पृ० २२।

'रासो' ग्रंथों की संदिग्धता – आदिकाल को 'वीरगाथाकाल' संज्ञा देने पर भी आपत्ति उठायी गयी है। आधुनिक खोजों से पता चला है कि आचार्य शुक्ल द्वारा परिगणित विजयपालरासो, हम्मीररासो इत्यादि 'साहित्यिक पुस्तकों' एवं खुमानरासो, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो इत्यादि 'देशभाषा' की काव्य-पुस्तकों-कुल बारह पुस्तकों-में से उन्होंने स्वयं जिन नव पुस्तकों को वीरगाथात्मक कहा है, उनमें से कई परवर्ती रचनाएँ हैं और 'नोटिसमात्र' हैं और कई संदिग्ध हैं जिनके मूलरूप के विषय में प्रचुर मतभेद हैं। विजयपालरासो के रचयिता नल्लसिंह का परिचय भी प्रामाणिक नहीं है और पूर्ण वृत्त भी अनुपलब्ध है। ज्ञात सामग्री के रूप में मुन्शी देवीप्रसाद ने कुल तेरह पद एवं मोतीलाल मेनारिया ने केवल बयालीस पदों का उल्लेख किया है। इधर एक विद्वान् ने यह बताया है कि विजयपालरासो ने सम्बद्ध एक सौ छन्द उन्हें 'एक मित्र' से प्राप्त हुए हैं जिनके अवलोकन से यह रचना, वीररसात्मक होते हुए भी, परवर्ती काल की कृति प्रतीत होती है क्योंकि भाषा आदिकालीन न होकर परवर्ती है।[२१] किन्तु, स्वयं आ० शुक्ल इन कृतियों की विश्वसनीयता में विश्वास नहीं करते हैं। बीसलदेवरासो में वर्णित घटनाएँ उन्हें 'बीसलदेव के बहुत पीछे की जान पड़ी थीं।' चन्दबरदाई के विषय में उनका अनुमान था कि वह पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज या उनके कोई भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वशज के यहाँ रहने वाला कोई भट्ट-कवि रहा होगा। इसी प्रकार, खुमानरासो में महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन देखकर, उन्होंने उसके वर्तमान स्वरूप को विक्रम सवत् की सत्रहवीं शताब्दी की रचना घोषित किया था। तथापि, इन रचनाओं को परवर्ती तथा संदिग्ध मानते हुए भी, शुक्लजी जब इनकी गणना वीरगाथाकाल के अन्तर्गत करते हैं, तब यह उनकी विवशता ही कही जायेगी। उल्लेख्य है कि डा० मेनारिया ने भी इन रचनाओं का उल्लेख 'प्रारम्भकाल' में ही किया है। आ० द्विवेदी का यह कथन भी समस्या का समाधान नहीं करता –"इस निरर्थक मंथन से जो दुस्तर फेनराशि तैयार हुई है, उसे पार करके ग्रन्थ के साहित्यिक रस तक पहुँचना हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी के लिए असम्भव-सा व्यापार हो गया है।" वास्तविकता यह है कि इन सभी विवादास्पद ग्रन्थों के कुछ अंश अवश्य प्राचीन हैं और इसी कारण, चाहे-अनचाहे, सभी इन्हें आदिकाल में उपन्यस्त करते हैं।

शुक्लजी के बहुमान्य इस 'आदिकाल' नाम को प्रायः स्वीकार कर लिया

---

२१. रामचन्द्र शुक्ल ('सम्पर्क', मार्च, १९८५)

गया है। उनकी मान्यताओं का मौलिक प्रत्याख्यान करनेवाले आ० द्विवेदी का 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' प्रसिद्ध ही है। नागरी-प्रचारिणी सभा वाले इतिहास में यही नाम स्वीकार किया गया है। डॉ० नगेन्द्र 'वीरगाथाकाल' अभिधान को अस्वीकृत करते हुए भी, विवशता में 'आदिकाल' की संज्ञा स्वीकार कर लेते हैं—"अतः ऐसी स्थिति में 'आदिकाल' जैसा निर्विशेष नाम ही अधिक उपयोगी होता है।"[२२]

'आदिकाल' नहीं, 'प्रारम्भ-काल'—इस प्रसंग में एक महत्त्व का प्रश्न उल्लसित होता है—'आदिकाल' का अभिधान क्या हमारे अथवा मानव-जाति के व्यापक इतिहास के आदिकाल से मेल खाता है। मानव-इतिहास का आदिकाल प्रायः पाषाण युग से प्रारम्भ माना जाता है। उस युग से अधिक विकसित युग का प्रतिनिधित्व करने वाली आदिम जातियाँ जिन्हें प्रायः 'आदिवासी' कहा जाता है, आज भी अपनी पुरानी आदिम संस्कृति बनाये हुई हैं। हिन्दी साहित्य का 'आदिकाल' निश्चय-ही मानव-जाति का आदि-काल नहीं है। अतः, 'आदिकाल' संज्ञा खटकती-सी है। पुनः भारतीय इतिहास का आदिकाल अथवा प्राचीन काल सामान्यतः वैदिक युग से, अर्थात्, ईसा के लगभग २००० वर्ष पूर्व से ईसा की सातवीं शताब्दी, हर्षवर्धन की मृत्यु तक माना गया है। स्पष्ट-ही, हिन्दी साहित्य का यह आदिकाल भारतीय इतिहास के आदिकाल से भी मेल नहीं खाता। तब, हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन में 'आदिकाल' की संज्ञा से चिपके रहना अधिक औचित्य-पूर्ण ध्वनित नहीं होता। अतः, इसे 'प्रारम्भकाल' अभिहित करना अधिक समीचीन होगा, जैसा मिश्रबन्धुओं ने कहा भी था। नगेन्द्रजी की विवशता की बात समझ में नहीं आती। जहाँ तक 'वीरगाथाकाल' वाले वैकल्पिक अभिधान का प्रश्न है, हम यह सुझाव देना चाहेंगे कि जब इस काल से सम्बन्धित साहित्य में किसी प्रवृत्ति-विशेष का प्राधान्य नहीं दीखता, तब इसे 'मिश्रितकाल' कहना पूर्णतः तर्कसंगत प्रतीत होता है।

रीतिकाल—इसी प्रकार, 'रीतिकाल' का अभिधान भी विचारणीय बनता है। वह भी आज तक सर्वमान्य-सा बना रह गया है। स्व० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'शृङ्गारकाल' कहा है। किन्तु, शुक्लजी पहले ही इस नाम की सम्भावना व्यक्त कर चुके थे—'इस काल को कोई रस के विचार से शृङ्गारकाल कहे तो कह सकता है।'[२३] मिश्रजी ने अवश्य उस काल के

२२. डॉ० नगेन्द्र—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पूर्व पीठिका, पृ० २३।
२३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३३।

भीतर 'रीतिबद्ध', 'रीतिसिद्ध' तथा 'रीतिमुक्त' तीन उप-विभाग किये हैं, किन्तु इस विभाजन की प्रेरणा भी उन्हें शुक्लजी से मिली है क्योंकि रीतिकाल के भीतर 'रीतिबद्ध' रचनाओं की बात शुक्लजी ने कही ही है।[२४]

रीतिकाल के विषय में आ० शुक्ल की कतिपय टिप्पणियाँ आलोचनीय बनती हैं। रीतिग्रन्थों की अखण्ड परम्परा की चर्चा करते हुए, उन्होंने कहा है—"कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना, फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। हिन्दी साहित्य में यह एक अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणी के व्यक्ति रहे। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा।"[२५]

'रीतिकाल' नहीं, 'शास्त्रकाल'—शुक्लजी का यह कथन गंभीरतापूर्वक विचारणीय है। यहाँ एक मौलिक समस्या उल्लसित होती है। संस्कृत साहित्य के अथवा आंग्ल-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में 'रचनात्मक' (क्रियेटिव) साहित्य के अतिरिक्त, 'शास्त्रीय' अथवा 'वैज्ञानिक' साहित्य के लिए भी पृथक्तः विभाग प्रायः रहता है। शुक्लजी का ध्यान इधर नहीं गया। वस्तुतः सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य का उन्होंने 'जनता' अथवा 'शिक्षित जनता' की चित्तवृत्तियों अथवा प्रवृत्तियों के प्रतिफलन-रूप में पहले-ही जो एक सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता-सी स्वीकार कर ली, वही उनका ध्यान इस तथ्य की ओर स्थिरतापूर्वक खिंचने में बाधक बनी कि रचनात्मक अथवा 'लक्ष्यग्रन्थों' की रचनाएँ जब एक परिमाण में साहित्य-संसार में संकलित हो जाती हैं, तब समीक्षात्मक शास्त्रीय ग्रन्थ भी रचित होने लगते हैं, यद्यपि रीतिकाल के सामान्य परिचय वाले प्रकरण में वे स्वीकार करते हैं कि 'हिन्दी काव्य अब प्रौढ़ता को पहुँच गया था' और इसी सातत्य में वे कृपाराम, मोहनलाल मिश्र इत्यादि के द्वारा साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन का तथ्य भी स्वीकार करते हैं। पुनः जैसे पहले कहा है, शुक्लजी, अपनी विधेयवादी दृष्टिभंगी में, ताइन द्वारा निरूपित 'कारकत्रयी'

---

२४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, "रीतिकाव्य के भीतर 'रीतिबद्ध' रचना की जो परम्परा चली उसका उप-विभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला।" (प्रथम संस्करण का 'वक्तव्य', पृ० ५)। 'रीतिबद्ध' पद के इस प्रयोग से मिश्रजी को 'रीति-सिद्ध' तथा 'रीति-मुक्त' अभिधान स्वाभाविक रीत्या मिले होंगे—ऐसा सोचना निरर्गल नहीं है।

२५. वही, रीतिकाल, सामान्य परिचय, पृ० २२६।

में केवल 'पर्यावरण' या 'परिवेश' को—ही समधिक प्रकाश-केन्द्रित कर सके और 'जाति' एवम् 'क्षण' के तत्व उनकी गहरी पकड़ में वैसे-ही नहीं आ सके जैसे वे 'व्यक्ति' के महत्व को भी स्पष्टतः नहीं पहचान सके। हमारी 'जातीय' प्रतिभा साहित्य-क्षेत्र में 'ललितकाव्य' के साथ शास्त्रीय रचनाओं को भी समाहित करते जा रही थी और इस शास्त्रीय चिन्तन का प्रवाह कभी एकान्ततः, लम्बी अवधि के लिए, विलुप्त नहीं हो सका था। 'जातीय' प्रतिभा का वही पटल रीतिकाल में, 'पर्यावरण' का पोषण पाकर, उद्‌भासित हो उठा और रीतिग्रन्थों की 'भरमार'—सी हो गयी। 'प्रारम्भकाल' तथा 'भक्तिकाल' के बाद जिस कालावधि में यह ग्रन्थ-राशि संचित हो गयी, उसे 'रीतिकाल' के बदले 'श्रृंगारकाल' नहीं, 'शास्त्रकाल' कहना अधिक युक्तियुक्त होगा क्योंकि रचनाकारों की मुख्य प्रवृत्ति शास्त्र—रचना थी जिसके लिए उन्होंने कविता का पल्ला पकड़ा। इससे रस, अलंकार इत्यादि से सम्बन्धित शास्त्र-प्रणयन का जो बाहुल्य उपलब्ध होता है, उसके साथ अधिक न्याय होगा और पाठकों को यह तात्कालिक बोध भी हो जायेगा कि हिन्दी साहित्य में शास्त्रीय ग्रन्थों की कमी नहीं है, अपितु वहाँ एक काल-विशेष ही है जिसे 'शास्त्रकाल' के अभिधान का विशिष्ट गौरव प्राप्त है। पुनः, मिश्रजी ने रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध तथा रीतिमुक्त की जो तीन विभाजक संज्ञाएँ प्रयुक्त की हैं, उनके बदले 'शास्त्रबद्ध', 'शास्त्रसिद्ध' तथा 'शास्त्रमुक्त' अभिधान अधिक उपयुक्त समझे जायेंगे। हिन्दी का 'अपना' काव्यशास्त्र तो इन्हीं शास्त्रीय रचनाओं के आधार पर खड़ा किया जाना चाहिए, भले उनका भी स्रोत संस्कृत के पुराने आचार्य रहे हों अथवा उनके उपजीव्य ग्रन्थ इन आचार्यों की रचनाएँ-ही रही हों।

'आचार्य' और 'कवि'—यह शास्त्रीय प्रवृत्ति संस्कृत-साहित्य के प्रवाह से छनकर आयी हुई प्रवृत्ति ही थी जो समयानुकूल, देववाणी का आश्रय छोड़कर, लोकभाषा के नये कलेवर में सहसा चमक उठी। 'संस्किरत हैं कूपजल, भाखा बहता नीर', कबीर ने घोषित कर दिया था। शास्त्रानुगामी ये रचनाकार, आश्चर्य नहीं, अपनी शास्त्रीय विरासत को 'भाषा' के माध्यम से-ही उज्जीवित रखने का प्रयास करते रहे। इसी कारण, विवेच्यकाल के अंतर्गत प्रमुखतः 'कवि' संज्ञा का प्रयोग नहीं होना चाहिए; उपयुक्त अभिधान होगा 'आचार्य' ही। यदि इनके शास्त्रीय निरूपण में त्रुटियाँ हैं, तो उनका दिग्दर्शन तो किया-ही जा सकता है। आज संस्कृत के क्षेत्र में भी साहित्यशास्त्रीय चिन्तन चल रहा है और उसमें अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज आदि की उपपत्तियों का खंडन हो रहा है। किन्तु, स्मरणीय है, इस खंडन से उनकी 'आचार्य' संज्ञा विलुप्त नहीं हो जाती और इस प्रकार, 'प्राधान्येन व्यप-

देशा भवन्ति' वाले न्याय के अनुसार—जिसे शुक्लजी भी मानते हैं—'शास्त्र-काल' में पहले इन आचार्यों का विवेचन होना चाहिए और बाद को, दूसरे वर्ग में शुद्ध 'कवियों' का। अधिक स्पष्ट शब्दों में, शास्त्रीयकाल के अन्तर्गत दो उप-विभाग रचनाकारों के होंगे 'आचार्य' और कवि'। यह उल्लेखनीय है कि विवेच्य काल के अधिकांश ग्रन्थों में प्रायः यही कहा गया है कि उनकी रचना दूसरों को काव्य-रचना का ज्ञान कराने के लिए है—

'भाषा भूषण ग्रन्थ को, जो देखै चित लाय।
विविध अर्थ साहित्य रस, ताहि सकल दरसाय।'

(भाषा भूषण)

'जान्यो चहै जु थोरे-ही, रस कवित्त को बंस।
तिन्ह रसिकन के हेतु यह, कीन्हों रससारांस।'

(रससारांश)

'बाँचि आदि तें अन्त लों, यह समुझै जो कोइ।
ताहि और रस ग्रन्थ को, फेरि चाह नहि होइ॥'

(रसप्रबोध)

'रीति' शब्द की रूढ़ता—अब स्पष्ट है कि इन जैसे कथनों के आलोक में इन रचनाकारों को 'आचार्य' ही समझना अधिक समीचीन है—यह भिन्न प्रमेय है कि हमें इनके निरूपणों में यत्र-तत्र असंगतियाँ दीख पड़ें। 'रीति' शब्द संस्कृत साहित्य में 'शैली' का बोधक रूढ़ शब्द है जिसे दण्डी ने 'मार्ग' भी कहा है। इसी अर्थ में आज का पाश्चात्यों का 'स्टाइलिस्टिक्स' 'रीति-विज्ञान' अथवा 'शैली-विज्ञान' कहलाता है। शुक्लजी जानते थे कि भारतीय साहित्य में 'रीति सम्प्रदाय' एक अलग सिद्धान्त का द्योतन करता है और वह पूरे साहित्यशास्त्र का पर्याय नहीं है, तथोक्त रीतिकाल में रस, अलंकार इत्यादि विषयों का भी निरूपण मिलता है। तब, रीतिकाल नाम से अधिक व्यापक एवं सार्थक संज्ञा होगी 'शास्त्र-काल'।

मूलतः 'आचार्य', गौणतः 'कवि'—आचार्य शुक्ल का यह कथन स्वीकार्य नहीं—यद्यपि संभवतः वह अधुना सर्वमान्य-सा हो चुका है—कि 'लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले, जो सैकड़ों कवि हुए, वे आचार्य-कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे।'[२६] हमारा निवेदन है कि ये रचनाकार मूलतः 'आचार्य'-ही थे, 'कवि' नही, शास्त्र-निर्वचन उनका उद्देश्य था, सामान्य कविता नहीं।

२६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२७।

प्रथम श्रेणी का उनका शास्त्रज्ञान न रहा हो, यह भिन्न प्रमेय है। आखिर, संस्कृत में भी भरत के बाद आने वाले, ध्वनिकार एवं वक्रोक्तिकार के अतिरिक्त, सभी आचार्य गतानुगतिकता के शिकार रहे हैं। 'वाग्देवतावतार' मम्मट भी मूलतः इसके अपवाद नहीं समझे जा सकते और न-ही पंडितराज जगन्नाथ। भाव तथा विचार के अलावा, शब्दों या पदों की पुनरावृत्ति भी इस आचार्य-परम्परा के किसी भी सावधान विवेचक को तत्काल आकर्षित करती है। पुनः, इन संस्कृत-आचार्यों में अधिकांश तो टीकाकार हैं। तब, यदि हिन्दी के इन आचार्यों में कोई 'मौलिकता' नहीं, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ? जब शुक्लजी यह कहते हैं कि 'इन रीतिग्रन्थों पर ही निर्भर रहने वाले व्यक्ति का साहित्यम्ज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए[२७], तब हमारा विनम्र प्रश्न है कि संस्कृत के किस एक या दो शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से हमारा काव्यशास्त्रीय ज्ञान पूर्ण अथवा सम्यक् समझा जा सकता है ? वर्तमान लेखक संस्कृत साहित्यशास्त्र से परिचित है और उसी आधार पर यह उसका प्रश्न है। इसमें गर्वोक्ति नहीं पढ़ी जानी चाहिए।

शास्त्र लिखने की प्रणाली—शुक्लजी पुनः जब कवि और आचार्य की दो कोटियों की बात करते हैं, तब भी यह कहना युक्तिविहीन नहीं होगा कि तथोक्त रीतिकाल के रचनाकारों में भी ये दो वर्ग हैं, कवि और आचार्य के। 'लक्षणकार' 'आचार्य' हैं और अन्यान्य 'कवि' हैं। इन्हें एक समझना-ही प्रमाद है। संस्कृत में भी यह परम्परा रही है कि कतिपय आचार्य अपने सिद्धान्तों अथवा लक्षणों के प्रतिपादन में स्वयं अपनी रचित कविताएँ उदाहरणर्थ प्रस्तुत करते थे जैसा हमने पूर्व-पीठिका वाले प्रकरण में दिखाया है। अतएव, 'कविता लिखने की यह एक प्रणाली' नहीं, अपितु 'शास्त्र' लिखने की एक प्रणाली थी जिसकी प्रेरणा इन आचार्यों को सीधे संस्कृत आचार्यों से मिल रही थी। इसलिए 'हिन्दी साहित्य में यह एक अनूठा दृश्य' नहीं था, अपितु पुरानी आचार्य-परम्परा का उज्जीवन या प्रसार था जिसमें लक्ष्य-ग्रन्थों से उदाहरण लेने के साथ, कवित्वशक्ति-सम्पन्न आचार्य निजी रचनाएँ भी दिया करते थे। यह गर्व का विषय है कि हिन्दी साहित्य का यह 'शास्त्र-काल' ऐसे आचार्यों से जगमगा रहा था जो आचार्यत्व के साथ कवित्व के भी धनी थे। 'इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा', यह कथन भी शुक्लजी के ही इस कथन से खंडित हो जाता है कि "अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृङ्गार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही

---

२७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२७।

उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें, तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।''[२८] तब, उनके-ही इस कथन के आलोक में यह कैसे कहा जाय कि 'इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा।' अथवा, शुक्लजी का अभिप्राय यह तो नहीं है कि इस एकीकरण से 'आचार्यत्व' क्षतिग्रस्त हो गया? यदि उनका अभिप्राय यही है, तो भी यह सोचना तर्कयुक्त नहीं होगा। वस्तुतः, इन आचार्यों का अभी तक सम्यक् अनुशीलन हुआ-ही नहीं है और इस उपेक्षा के लिए शुक्लजी की वर्तमान टिप्पणियाँ भी बहुत कुछ उत्तरदायी हैं।

आधुनिक काल—आधुनिक काल को आचार्य शुक्ल ने तीन चरणों में विभाजित किया है और उन्हें 'प्रथम उत्थान', 'द्वितीय उत्थान' तथा 'तृतीय उत्थान' की संज्ञा दी है। पहले तथा दूसरे उत्थान को क्रमशः 'भारतेन्दुकाल' तथा 'द्विवेदीकाल' भी कहने का संकेत दिया है। तीसरे उत्थान को, जैसा डॉ० नगेन्द्र का कथन है, 'कदाचित् उसके प्रवाहमय रूप के कारण, उन्होंने कोई नाम नहीं दिया।' इस तीसरे उत्थान को 'छायावादकाल' कहा जा सकता है। संभवतः छायावाद के प्रति अपनी सामान्यतः प्रतिकूल मनोभंगी के कारण-ही शुक्लजी उसे यह गौरव नहीं प्रदान कर सके। उनके द्वारा अपनाये गये 'गद्यखंड' तथा 'काव्यखंड' शीर्षक विभाग पर आपत्ति की गयी है—'ये दोनों खंड एक-दूसरे से इतने पृथक् हैं कि इनमें कोई एकतानता नहीं है।' एकसूत्रता के अभाव का यह आरोप कहाँ तक उचित है, यह चिन्त्य है।[२९]

'नवजागरणकाल', 'सुधारकाल' नहीं—भारतेन्दुकाल को विकल्पतः 'नवजागरणकाल' अथवा 'पुनर्जागरणकाल' तो कहा जा सकता है, किन्तु द्विवेदीकाल भी इस नवजागरण की परिधि से अलग नहीं है, अतः इसे 'जागरण-सुधार-काल' या केवल 'सुधार-काल' कहना निरर्थक है। कहना-ही है तो पहले तथा दूसरे दोनों उत्थानों को 'नवजागरणकाल' कहा जा सकता है। इसी प्रसंग में यह भी कथनीय है कि छायावादोत्तर काल को 'प्रगति-प्रयोग-काल' एवम् 'नवलेखनकाल' के दो उपविभागों में बाँटना बहुत संगत नहीं है। इन दोनों में 'नवलेखन' का बिन्दु छोड़ दें तो 'प्रगति-प्रयोग' वाली बात मुख्यतः कविता के क्षेत्र में-ही लागू होती है, गद्य के क्षेत्र में नहीं। यदि यह कहें कि 'छायावाद' भी मुख्यतः काव्य से संलग्न अभिधान है, तो

---

२८. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २२९।

२९. वही, पृ० ४३५।

उत्तर होगा कि छायावादी काव्य इतना समृद्ध एवम् वैशिष्ट्यपूर्ण बन गया है कि उसे काल-विभाजन के परिप्रेक्ष्य में एक केन्द्रीय बिन्दु माना जा सकता है, जैसा डॉ० नगेन्द्र आदि भी मानते हैं। किन्तु, यही बात 'प्रगति-प्रयोग' तथा 'नवलेखन' के विषय में नहीं घटती।

(घ)

'दूसरी परम्परा' की खोज—अब हम कतिपय आपत्तियों की चर्चा करेंगे जो आचार्य शुक्ल के इतिहास पर अन्यान्य विद्वानों द्वारा उत्थापित की गयी हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम सर्वप्रथम स्मरण होता है। उनका हिन्दी साहित्य का 'बारह आना' वाला सिद्धान्त प्रसिद्ध है। भक्तिकाव्य की धारा का उत्स वे पांचरात्र तथा सात्वतों की उपासना-पद्धति एवम् आगमों की उपासना-पद्धति से जोड़ते हैं और निर्गुण सन्तों की परम्परा को नाथों एवं बौद्ध सिद्धों से जोड़ते हैं। किन्तु, शुक्लजी इस तथ्य से अनभिज्ञ थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। तथोक्त 'दूसरी परम्परा' की खोज की उपलब्धि में प्रश्न है, केवल किसी एक या दूसरे तथ्य अथवा कारक को प्रकाश-केन्द्रित, 'हाई-लाइट', करने का। अपनी मान्यताओं में आचार्य शुक्ल इस तथोक्त परम्परा से सर्वथा अनभिज्ञ थे, ऐसा समझना पक्षधरता का ध्वनन करता है। जैसा एक विद्वान् ने कहा है, "यदि दो विरोधी धर्मों और संस्कृतियों की टकराहट न होती, तो मानवी मूल्यों की टकराहट का अहसास न होता।"[30] यह विचारणीय है कि आखिर, भक्तिपरक काव्य की इतनी बाढ़ इसी मध्यकाल में क्योंकर घटित हो गयी। आ० द्विवेदी ने 'परम्परा के विराट परिदृश्य' में हिन्दी साहित्य को रखकर देखा,[31] यह सही है, किन्तु आचार्य शुक्ल का निरूपण पूर्णतः ध्वस्त हो जाता है - ऐसा समझना प्रमाद होगा। वास्तविकता यह है कि ये दोनों महान् लेखक एक-दूसरे के 'पूरक' ही समझे जायेंगे, जैसा डॉ० नगेन्द्र ने भी कहा है। यह भी कहा गया है कि द्विवेदीजी स्वयं अपनी मान्यता का अपने किसी ग्रन्थ में सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाये हैं।

काव्य की कसौटी, जीवनबोध—इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि जैसे आ० शुक्ल ने काव्यमापन का मानदण्ड तुलसी को बनाया, वैसे-ही आचार्य द्विवेदी ने कबीर को। यह भी इन आचार्यों का दृष्टिभेद ही है, किसी मौलिक

---

३०. डॉ० भोलाशंकर व्यास, साहित्य का इतिहास-लेखन (१९७७), पृ० ५१।

३१. डॉ० नामवरसिंह, इतिहास और आलोचना, पृ० १७६।

आपत्ति का विषय नहीं है। हम स्वयं ऐसा समझते हैं कि काव्य का निकष 'जीवनबोध' होना चाहिए। अर्थात्, जिस काव्य से हमारे जीवन-बोध में जितने परिमाण में व्यापकता अथवा गहराई आती है, उस काव्य से उतने-ही परिमाण में हमारा जीवनबोध समृद्ध होता माना जायेगा और वह काव्य उतने ही अनुपात में अन्य की अपेक्षा महनीय माना जायेगा। इस दृष्टि से तुलसी निश्चित ही कबीर अथवा सूर अथवा जायसी से महत्तर माने जायेंगे—यद्यपि व्यास, वाल्मीकि तथा कालिदास के निचले स्तर पर प्रस्थापणीय होंगे। हमने अपनी पुस्तक 'ललित की खोज में' में काव्य के मूल्यमापन की यही कसौटी निर्धारित की है और कतिपय कवियों की सापेक्षिक श्रेष्ठता भी स्थापित की है।

शुक्लजी के इतिहास की त्रुटियाँ—शुक्लजी अपनी मान्यताओं में अत्यधिक दृढ़, प्रायः अविचलायमान थे—यह हम सभी जानते हैं। छायावाद के संदर्भ में उनकी तनिक कठोर मनोदृष्टि के विषय में आचार्य द्विवेदी की यह टिप्पणी उद्धरणीय है—"यदि किसी को उन्होंने एक बार नवीनता की गुलामी करते देख लिया, तो फिर दीर्घकाल तक वह उनके अविश्वास का पात्र बना रहा।" यह सही है कि उन्होंने श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि को स्वच्छन्दतावादी कवि माना है। किन्तु, यदि आपाततः इस परम्परा में विकसित होने वाले छायावाद-रहस्यवाद को उन्होंने विदेशी मान लिया है, तो वह भी एकदम निराधार नहीं है क्योंकि छायावादियों पर आंग्ल स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव कम नहीं है। इसी प्रसंग में द्विवेदी जी की उक्त टिप्पणी स्मरणीय है। किन्तु, यह भी हमें ज्ञात है कि छायावाद-रहस्यवाद का उत्स प्राचीन भारतीय चिन्तन में खोजने में प्रसादजी को कितना मानसिक व्यायाम करना पड़ा है। शुक्लजी ने सनेही युग की राष्ट्रीय काव्यधारा, हालावादी मधु-काव्य-परम्परा तथा प्रगतिवादी आन्दोलन की भी पहचान नहीं की। प्राचीन काव्यधारा के अन्तर्गत योग-सिद्ध साहित्य उनकी उपेक्षा का भाजन बना। आदि सूफी कवि मुल्ला दाऊद उनकी आचार्य-दृष्टि से ओझल हो गये। रीतिकाल की मधुर काव्योपलब्धियों की पहचान करते हुए भी, वे प्राकृत की गाथाओं, आर्याओं, अमरु तथा भर्तृहरि के शतकों तथा अपभ्रंश के अनगिनत प्रकीर्ण दोहों की ओर नहीं ध्यान दे सके जिनकी प्रत्यक्ष वा परोक्ष छाया बिहारी जैसे रीति-कवियों पर दिखायी पड़ती है।

यह भी आरोप लगाया है कि शुक्लजी ने लेखकों के चयन में स्वेच्छाचारिता बरती है, कतिपय गौण रचनाकारों को ले लिया है और कतिपय

समर्थ लेखकों को छोड़ दिया है जो इतिहासकार के लिए अनुचित है। एक विद्वान् की यह शिकायत है कि "अपने प्रखर, साहित्यिक विवेक के बावजूद, शायद उसी से उत्पन्न रुचिभेद के कारण, शुक्लजी ने अनेक विधाओं, प्रवृत्तियों और कृतियों का, चाहे-अनचाहे, अवमूल्यन भी किया है। जैसे चन्दबरदाई उनकी दृष्टि में व्यर्थ का कवि है; बीसलदेव रासो असफल कृति है, विद्यापति मात्र शृङ्गारी-दरबारी कवि हैं; कबीर आदि निर्गुणियों में काव्य का पूर्ण अभाव है; केशव हृदयहीन हैं; रीतिकाल मात्र विलास का उद्गार है; महावीरप्रसाद द्विवेदी का लेखन केवल सतही है; प्रेमचन्द अधिकांशतः प्रोपैगैण्डिस्ट हैं, इत्यादि।"[३२] प्रस्तुत उद्धरण में बहुत-कुछ सही है यद्यपि शुक्ल जी की ये मान्यताएँ कान्त निराधार नहीं हैं।

घाघ का वृष्टि-विज्ञान— यह भी कहा गया है कि आचार्य शुक्ल गद्य-साहित्य का वैसा विवेचन नहीं कर सके जैसा काव्य का। संभवतः इसका कारण उनका रुचिभेद-ही हो। जनपदीय भाषाओं के साहित्य की भी उन्होंने उपेक्षा की। आदिकाल में मैथिल-कोकिल विद्यापति को तो उन्होंने ग्रहण कर लिया, किन्तु मैथिली के अन्य कवियों को छोड़ दिया— ऐसी भी शिकायत सुनने में आती है। एक बात और जो हमें आकर्षित करती है, वह यह है कि लोकसाहित्य की अवहेलना करने के अपने शास्त्रीय स्वभाव में उनका ध्यान घाघ-भड्डरी जैसे रचनाकारों की ओर नहीं जा सका जिन्होंने अवधी में कृषि-विज्ञान, वृष्टि-विज्ञान इत्यादि जैसे वैज्ञानिक विषयों पर दोहे-चौपाइयों वाले मध्यकालीन छन्दों में रचनाएँ की हैं। (हमने एक शोध-प्रबन्ध देखा है जिसमें घाघ के वृष्टि-विज्ञान पर शोध किया गया है और घाघ की अनेक उक्तियों को प्राचीन संस्कृत साहित्य में उपलब्ध आर्ष ग्रन्थों की कारिकाओं के अनुवाद बताया गया है।) इससे एक क्षति यह हुई है कि हमारे साहित्य के इतिहास में वैज्ञानिक विषयों पर भी रचनाएँ उपलब्ध हैं, इस तरफ अद्यावधि किसी का ध्यान नहीं जा सका है।

शुक्लजी का इतिहास और आलोचना—आचार्य शुक्ल के इतिहास में उनका आलोचक उनके इतिहासकार पर हावी हो गया है—ऐसी भी आपत्ति की गयी है। प्रथम संस्करण के 'वक्तव्य' में शुक्लजी ने लिखा है—"रीतिकाल या और किसी काल के कवियों की साहित्यिक विशेषताओं के सम्बन्ध में मैंने जो संक्षिप्त विचार प्रकट किये हैं, वे दिग्दर्शन-मात्र के लिए। इतिहास

३२. हिन्दुस्तानी, शुक्ल-विशेषांक, १९८३, पृ० १३५।

की पुस्तकों में किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती।"[33] तब, लगता है शुक्लजी अपने इतिहास में सन्निविष्ट आलोचना-परिमाण से स्वयं संतुष्ट नहीं हैं—जबकि आलोचकों को उसमें इतिहास की तुलना में आलोचना-ही अधिक दिखायी पड़ती है। यह सही है कि शुक्लजी के इतिहास में आलोचनांश हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। किन्तु, हम जानते हैं कि ये आलोचनाएँ-ही उनके इतिहास का वैशिष्ट्य परिलक्षित करती हैं और पाठकों को उनसे गहरी तृप्ति मिलती है। आचार्य शुक्ल कवियों या साहित्यकारों का वृत्तसंग्रह तो तैयार नहीं कर रहे थे। इतिवृत्त के शुष्क अस्थिपंजर में प्राणों का उन्मेष तो तभी सम्भव बनता है जब इतिहासकार तथ्यों की रक्षा करता हुआ, अपनी प्रस्तुति को रोचकता के तत्त्व से समंजित कर देता है। साहित्य के इतिहास के लिए यह और भी अपेक्षणीय सिद्ध होता है क्योंकि साहित्य मूलतः व्यक्तिनिष्ठ होने से, स्वयं कल्पना के सौष्ठव से समन्वित होता है। तब, जब विवेच्य वस्तु-ही कल्पना-सौन्दर्य की धनी हो, तब उसकी ऐतिहासिक प्रस्तुति यदि तथ्यपरकता की रक्षा में तत्पर हो जाय, तो उस इतिवृत्त से हमें क्या संतृप्ति मिलेगी? आचार्य शुक्ल के इतिहास में यदि तथ्यात्मक त्रुटियाँ रह गयी हों, तो वह उनकी वैपश्चिती प्रतिभा का दोष नहीं, अपितु वह तत्सामयिक साहित्यिक अनुसन्धान की कमी है। आलोचनाएँ उनके इतिहास की जान हैं। स्मरणीय है कि इतिहास तथा आलोचना यद्यपि दोनों भिन्न-भिन्न अनुशासन हैं, तथापि साहित्य का इतिहास लिखते समय दोनों के बीच जलप्रस्रवण को अवरुद्ध करने वाला एकान्त पृथक्करण सम्भव नहीं है। शुक्लजी स्वयं इतिहास तथा आलोचना का विभेद समझते हैं जो उनके अभी ऊपर उद्धृत कथन से स्पष्ट होता है। शुक्लजी ने कविताओं के लम्बे उद्धरण नहीं दिये क्योंकि वे अपने इतिहास को आलोचना का ग्रंथ नहीं बनाना चाहते थे।

अंग्रेजी साहित्य के अध्येता जानते हैं कि क्राम्पटन-रिकेट ने अपने आंग्ल साहित्य के इतिहास में कविता की तो बात अलग रही, गद्य के भी लम्बे-लम्बे उद्धरण दिये हैं जिनसे सम्बन्धित लेखकों की मान्यताएँ हृदयंगम करने में हमें प्रचुर सहायता मिलती है। पुनः, संक्षिप्त आलोचनाएँ प्रस्तुत करते हुए, आचार्य शुक्ल ने कतिपय ऐसी टिप्पणियाँ की हैं जिनका महत्त्व साहित्य-मर्म के जिज्ञासुओं के लिए स्थायी बन गया है। बिहारी की समीक्षा-सरणी में 'मुक्तक'

---

३३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं० २०२१), प्रथम संस्करण का 'वक्तव्य', पृ० ६।

को उनकी परिभाषा आज तक बेजोड़ बनी हुई है। हमारी जानकारी में अमरूक के मुक्तकों की प्रशंसा में 'प्रबन्धशतायते' वाली प्रसिद्ध टिप्पणी करते हुए भी, ध्वनिकार अथवा अभिनवगुप्त मुक्तक की ऐसी सटीक, सुन्दर परिभाषा नहीं कर सके। शुक्लजी के इतिहास का आधुनिक 'समीक्षा-खंड' एक प्रकार से 'आधुनिक समीक्षा का लघुतम इतिहास कहला सकता है।"[३४]

शुक्लजी के प्रवृत्ति-निर्धारण को लेकर कतिपय लेखकों ने उन पर 'फुटकर खाता' खोलने का आरोप लगाया है। किन्तु, यह आरोप अत्यन्त हलके ढंग से व्यंग्य की भंगिमा में किया गया है जो सर्वथा अनुचित है। अद्यावधि कोई ऐसा हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रणीत नहीं हुआ है जो अपने में 'पूर्ण' भी रहे और जिसमें ऐसे अतिरिक्त स्तम्भ न जोड़ने पड़े हों—भले उनके नामकरण में 'फुटकर' संज्ञा बचायी गयी हो।' 'औसतवाद' वाली आपत्ति भी महत्त्वहीन है क्योंकि साहित्येतिहास का प्रवृत्ति-निर्धारण 'औसत' के आधार पर होता ही है।

अन्त में, अंग्रेजी साहित्य के सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० अर्थर क्राम्पटन-रिकेट का, जिनकी चर्चा मैंने अभी की है, यह कथन उद्धरणीय बनता है—"× × × अतीत के युगों से संबद्ध, किसी राष्ट्र का कोई भी वृत्त, कुछ परिमाण में, उसकी मानसिक विशेषताओं का अवश्य उद्घाटन करेगा, ठीक उसी प्रकार जैसे उसके साहित्य का कोई अभिलेख उसके सामाजिक जीवन के स्पन्दनों का अवश्य-ही उन्मीलन करेगा। अतएव, जबकि अंग्रेजी साहित्य का कोई इतिहास उसके आन्तरिक जीवन का इतिहास है, उसके स्वप्नों तथा आदर्शों का अभिलेख है, वहीं यह आवश्यक है कि उसे उस राष्ट्र के सामाजिक क्रियाकलापों की पृष्ठभूमि में चित्रित किया जाय जिससे उसे स्पष्टतया देखा-समझा जा सके।' ('ए हिस्ट्री आव इंग्लिश लिटरेचर', पार्ट वन, पृ० १—१९४६ ई०)।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य शुक्ल का विवेच्य इतिहास हिन्दी-भाषी जनसमूह के आन्तरिक जीवन का प्रामाणिक इतिहास है जिसे उन्होंने, उस समाज की बदलती पृष्ठभूमि में, मनोरोचक ढंग से वर्णित किया है और साथ-ही, साहित्य के कुछ ऐसे मूल्यों को भी प्रस्थापित किया है जिनका तात्त्विक प्रत्याख्यान आसानी से नहीं किया जा सकता।

---

३४. रामचन्द्र शुक्ल (सम्पर्क, मार्च १९७५), पृ० २०८।

(१८) आचार्य शुक्ल पर चतुष्कोणात्मक प्रहार

आचार्य शुक्ल की आलोचना का कारण मुख्यतः उनका आलोचक 'व्यक्तित्व' है जो अपनी अवधारणाओं में हिमालयी दृढ़ता से संवलित है। आचार्य द्विवेदी ने ठीक-ही कहा है—"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना सम्भव नहीं है। वे इतने गंभीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'ना', बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका अपना मत सोलह आने अपना है। वे तनकर कहते हैं—मैं ऐसा मानता हूँ, तुम्हारे मानने, न मानने की मुझे परवा नहीं। फिर भी, शुक्लजी प्रभावित करते हैं। नया लेखक उनसे डरता है, पुराना घबराता है, पण्डित सिर हिलाता है। वे पुराने की गुलामी पसन्द नहीं करते और नवीन की गुलामी तो उनके लिए एकदम असह्य है। शुक्लजी इसी बात में बड़े है और इसी जगह उनकी कमजोरी हैं।" (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १४१)

द्विवेदीजी के उक्त उद्धरण से आचार्य शुक्ल की अविचलायमान दृढ़ता तथा अपनी उपपत्तियों के प्रति उनकी अतिशय विश्वस्तता की विज्ञप्ति होती है। आलोचकों ने प्रायः उनका 'बड़प्पन' स्वीकार किया है, किन्तु उनके अधिकांश निरूपणों से अपना वैमत्य भी उतनी-ही 'दृढ़ता' से अभिव्यक्त किया है। यही दृढ़ता शुक्लजी के आलोचकों की भी कमजोरी है।

आचार्य शुक्ल और आचार्य वाजपेयी—आ० नन्ददुलारे वाजपेयी शुक्लजी के शिष्यों में से थे। जितनी प्रखरता से उन्होंने शुक्लजी की आलोचना की है, उससे ध्वनित होता है कि वे अपने समय की हिन्दू विश्वविद्यालय की अन्तरंग विभागीय राजनीति से भी कुछ-न-कुछ अवश्य अनुप्राणित रहे हैं। १९३१ ई० में ही उन्होंने आचार्य शुक्ल के विरुद्ध शंखनाद कर दिया था। उनका 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' नामक ग्रंथ १९४९ ई० में प्रकाशित हुआ जिसके तीन निबन्ध शुक्सजी से संबंधित हैं। वाजपेयीजी के आक्षेपों का सार यों प्रस्तुत किया जा सकता है—

"शुक्लजी का युग अब बीत चुका है। उनके साहित्यिक संस्कारों में द्विवेदीयुगीन नैतिकता, शैशव-कालीन आदर्शवादिता तथा मध्यकालीन जीवन-बोध स्पष्ट दीख पड़ते हैं। उनका लोकधर्म वर्णाश्रम की पुरानी जड़ीभूत मर्यादाओं से ग्रस्त है। उनका साहित्य-चिन्तन अनेक स्थूल धारणाओं से शृंखलित है। उनका 'लोकमंगल' भी अस्पष्ट तथा अनिर्णीत है। जब शुक्लजी

ब्राह्मण तथा क्षात्र धर्म के सहयोग से लोक का मंगल आयोजित करना चाहते हैं, तब वे प्रकारान्तरेण मध्ययुगीन अवतारवाद और गीता के कर्मवाद का-ही प्रतिध्वनन कर रहे हैं। उनकी लोक-धारणा ब्राह्मणीय व्यवस्था में आस्था का प्रतीकत्व करती है। उन्होंने समाजशास्त्र, संस्कृति एवम् मनोविज्ञान की वस्तून्मुखी मीमांसा नहीं की है। हम किसी पूर्व-निर्धारित दार्शनिक अथवा साहित्यिक सिद्धान्त को लेकर काव्य अथवा कला की परख नहीं कर सकते क्योंकि कला की कोई सीमा नहीं है। शुक्लजी के पास कठोर शास्त्रीय आग्रह है और पश्चिम के नव्य-शास्त्रियों की तरह वे अपने समय के तेजस्वी रचनाकारों को दबदबे में नियंत्रित रखना चाहते हैं।"

छायावाद-विषयक शुक्लजी की मनोदृष्टि का विरोध करते हुए वाजपेयी जी का कथन है : "यदि एक ओर रामायण है, तो दूसरी ओर 'विनयपत्रिका' भी तो है। इसमें तो भक्त और भगवान ही पक्ष हैं, कोई तीसरा पक्ष तो नहीं। रवि बाबू ने टालस्टाय की नकल की होगी, पर तुलसीदासजी ने नहीं की? आधुनिक 'गीतिकाव्य' (यानी छायावादी प्रगीत) 'विनय-पत्रिका' के ही वंशज हैं। पश्चिमी शैली का प्रभाव पड़ा, पर परम्परा वही है; 'विनयपत्रिका' में दूसरे रूप में थी। 'मानस' में यदि कर्मसौन्दर्य खिल उठा है, तो 'विनयपत्रिका' में प्रेम-भावना चमक उठी है।"

उपरि-उद्धृत वाजपेयीजी की आलोचना में पर्याप्त सार वर्तमान है। शुक्लजी अवश्य द्विवेदी-युगीन नैतिकता, मर्यादावादिता एवम् प्राच्योन्मुखी आदर्शवादिता से प्रभावित हैं। उनका 'लोकधर्म' अथवा 'लोकमंगल' भी आजकल की मार्क्सीय समाज-व्यवस्था अथवा जीवन-दर्शन से मेल नहीं खाता। छायावाद के संबंध में शुक्लजी की अनुदारता का आरोप भी बहुत-कुछ सही है। तथापि, वाजपेयीजी ने जिस ढंग से अपना पक्ष प्रस्तुत किया है, उसमें सुविचारित संतुलन का अभाव है। छायावादी प्रगीतकाव्य को 'विनयपत्रिका' का वंशज संभवतः ये कवि भी नहीं बतायेंगे। इस तरह यदि वंशावली मिलानी हो, तो फिर वेद की कतिपय ऋचाएँ अथवा कालिदास के 'ऋतु-संहार' एवम् 'मेघदूत' से-ही क्यों नहीं प्रारम्भ किया जाय? पुनश्च, 'विनय-पत्रिका' की प्रेमभावना को छायावादी प्रेमभावना से समीकृत करना भी तर्क-प्रतिष्ठित नहीं है। "कविता जिस स्तर पर पहुँचकर अलंकार-विहीन हो जाती है, वहाँ वह वेगवती नदी की भाँति हाहाकार करती हुई हृदय को स्तम्भित कर देती है। उस समय उसके प्रवाह में अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि-आदि न जाने कहाँ बह जाते हैं और सारे सम्प्रदाय न जाने कैसे मटियामेट हो जाते हैं।" वाजपेयीजी का प्रस्तुत कथन ऊपर से बड़ा प्रभावशाली प्रतीत होता है

ओर लगता है, जैसे वही सच्ची कविता का शील हो। पहली बात तो यहाँ यही ध्वनित होती है जैसे आचार्य शुक्ल कविता के लिए अलंकारादि को नितान्त आवश्यक मानते हों। हम नहीं समझते, उन्होंने कभी ऐसा आग्रह दिखलाया है। कविता की एक विशिष्ट भाषा होती है; वे अवश्य उस वैशिष्ट्य के पक्षधर हैं। दूसरा विन्दु यहाँ विचारणीय यह बनता है कि क्या कहीं भी कविता 'वेगवती नदी की भाँति हा-हाकार' करती भी है? बाजपेयी-जी के इस पदविन्यास में वर्ड्सवर्थ के इस प्रसिद्ध कथन की-ही प्रेरणा प्रतिभासित हो रही है कि 'कविता शक्तिशाली भावनाओं का स्वतः स्फूर्त सम्प्लवन है।' किन्तु, हम यह भी जानते हैं कि वर्डसवर्थ ने ही अन्यत्र 'शान्त क्षणों में स्मरण किये गये भावों अथवा संवेगों' ('इमोशंस रिकलेक्टेड इन ट्रैंक्विलिटी') की बात भी कही है। विवक्षा यह है कि शक्तिशाली भावों किंवा भावनाओं के अनायास उच्छ्लन ('स्पौण्टेनियस ओवरफ्लो ऑव् पावरफुल फीलिंग्स') का कथन केवल अर्धसत्य है; प्रत्येक कवि अथवा कलाकार जानता है कि उसे अपनी प्राथमिक भावनाओं एवम् संवेगों को वाह्य स्वरूप प्रदान करते समय, एक प्रकार के 'मानसिक अनुशासन' में बाँधना पड़ता है। इसी सर्जनाविषयक सत्य की तरफ वर्ड्सवर्थ ने अपने दूसरे कथन में संकेत किया है। आंग्ल स्वच्छन्दतावाद के प्रसिद्ध कवि शेली के 'स्काइलार्क' शीर्षक गीत के विषय में समीक्षकों ने कहा है कि इसमें वही भावों का अनायासित सम्प्लवन है जिसे वर्ड्सवर्थ ने कथित किया है। वहाँ भावों का समुचित अनुशासित संयोजन भी नहीं है। किन्तु, हम जानते हैं कि शेली ने उस गायन-प्रवाह में उपमाओं की झड़ी लगा दी है—एक-पर-एक ललित उपमाएँ स्वयं ग्रथित होती जा रही हैं, मानों कवि ने उनके लिए कोई प्रयास नहीं किया हो। वक्रोक्ति तथा ध्वनि का सौन्दर्य भी वहाँ खिल पड़ा है। तब, कैसे वाजपेयीजी का यह कथन स्वीकार किया जाय कि कविता के वेगमय हाहाकार—जैसे प्रवाह में अलंकार, ध्वनि आदि 'मटियामेट' हो जाते हैं? सचाई यह है कि जहाँ यह वेगमय प्रवाह फूटता भी है, वहाँ भी भाषा अपनी काव्यसुलभ पहचान लिये-ही आती है। वेगवती नदी की हाहाकार में भी एक नैगर्सिक 'कला' का गंभीर स्वरूप गोचर होता है; उसमें भी एक भीषण-भैरव लयात्मकता होती है जो दर्शक के हृदय को स्तंभित करती है। वहाँ उसी प्रकृति की 'कला' है जो पुष्पों, लताओं आदि में एक स्वरूप उद्भासित करती है और निर्झर तथा वेगवती नदी के प्रवाह में दूसरा स्वरूप ग्रहण कर लेती है। कवि की कला भी इसी जाति से नानाविध स्वरूपों में आत्म-प्रकाश करती है। अभिप्राय यह है कि बाजपेयीजी की प्रश्नगत टिप्पणी सुचिन्तित नहीं, अपितु खंडन-मंडन की स्वाभाविक तीव्र मनोभंगिमा की प्रसूति है।

आश्चर्य नहीं कि आचार्य वाजपेयी को अपनी आलोचनाओं की कमजोरी का बाद में अहसास हुआ और उन्होंने 'नया साहित्य : नये प्रश्न' (१९५५) में आचार्य शुक्ल की आलोचनाविषयक उपलब्धियों की प्रशंसा करते हुए कहा कि "शुक्लजी की समीक्षाएँ एक अतिशय संतुलित ऐतिहासिक चेतना का निर्माण और विन्यास करती हैं।"[1] वे पुनः कहते हैं कि "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतीय साहित्य के विशाल अध्ययन के आधार पर हिन्दी के नवीन और प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में अंतरंग समीक्षाएँ लिखी हैं, वे ही हमारे लिए आलोक-स्तंभ का काम दे रहीं हैं।"[2] वाजपेयीजी की छायावादी काव्य-वैभव से अतिशय प्रभावित मनोभंगिमा जब शान्त हो गयी, तब उन्होंने, अन्ततः शुक्लजी की आलोचक-महिमा को स्वीकार कर लिया है।

आचार्य शुक्ल और आचार्य द्विवेदी—आचार्य द्विवेदी का आचार्य शुक्ल से विरोध मुख्यतः हिन्दी भक्ति-साहित्य तथा कबीर, सूर जैसे कवियों को लेकर उत्थापित हुआ है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१९४०) में द्विवेदीजी ने प्रतिपादित किया है कि मध्यकाल की भक्ति-रचनाएँ, विशेषतः सन्त-काव्य, भारतीय चिन्ता-धारा का स्वाभाविक विकास है, और इस प्रसङ्ग में उन्होंने यह दिखाया है कि "बौद्धधर्म क्रमशः लोकधर्म का रूप ग्रहण कर रहा था और उसका निश्चित चिह्न हम हिन्दी साहित्य में पाते हैं।"[3] इसी सिलसिले में, उन्होंने आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित भक्ति-काव्य के विकास में इस्लामी प्रभाव वाली मान्यता का अपलाप करते हुए, अपना यह प्रसिद्ध कथन किया है –'× × × × लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता, तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा-ही होता जैसा आज है।'[4] 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' (१९७०) में आचार्य द्विवेदी ने यह दिखाया है कि प्राकृत-अपभ्रंश की शृंगार-प्रधान कविताओं की प्रतिक्रिया में भक्तिमूलक कविताओं को प्रोत्साहन मिला —'अत्यधिक प्राकृत-केन्द्री कविता की प्रतिक्रिया का अवसान सहज भगवत्प्रेम में हुआ। सन्तों और सगुण भक्तों ने नये रसबोध को बढ़ावा दिया। यद्यपि रीतिकाल में संस्कृत की प्रवृत्तियों को जिलाये रखा गया, पर भक्ति के आदर्श उसे भी चालित करते रहे।'[5] इस

---

१. नया साहित्य : नया प्रश्न, पृ० २६।

२. वही, पृ० २२७।

३. हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ९-१०।

४. वही, पृ० २।

५. मध्यकालीन बोध का स्वरूप, पृ० ११९।

प्रकार, आचार्य द्विवेदी के मतानुसार, भक्तिकाव्य के विकास के मूल में बौद्ध-धर्म की चिन्तन-प्रक्रिया और प्राकृत-अपभ्रंश की शृंगारपरक रचनाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया — ये दो तत्त्व कारणभूत रहे हैं। इसलाम के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'हिन्दी साहित्य में भी यह (इसलामी) प्रभाव 'प्रभाव' के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिए, प्रतिक्रिया के रूप में नहीं।'[६]

'प्रतिक्रिया' वाली बात, उल्लेखनीय है, शुक्लजी ने कहीं नहीं कही है। सच्चाई इतनी-ही है कि उन्होंने इस्लामी आक्रमण से उत्पन्न सामान्य स्थिति को इस रीति से प्रकाशकेन्द्रित (हाइलाइट) किया है जिससे विद्वानों को उनके वर्तमान निरूपण को 'प्रतिक्रिया' समझने की स्वाभाविक प्रेरणा मिल गयी है।

वास्तव में, आचार्य द्विवेदी ने भारतीय चिन्ता के स्वाभाविक विकास का जो सिद्धान्त निरूपित किया है, वह बहुत अंशों में स्वीकार्य है। किन्तु, भक्ति-साहित्य के बारह आने वैसा-ही होने की टिप्पणी में अतिरेक की गन्ध आती है। जब वल्लभाचार्य जैसे धर्माचार्य देश के म्लेच्छाक्रान्त होने तथा एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण निहित होने की बात कहते हैं, तब शुक्लजी के कथन में पर्याप्त सार वर्तमान जान पड़ता है। पुनः, द्विवेदीजी का यह कथन कि प्राकृत-अपभ्रंश की कविताओं की शृङ्गारिकता की 'प्रतिक्रिया का अवसान सहज भगवत्प्रेम में हुआ', निर्विवादतः मान्य नहीं हो सकता है। साहित्यिक स्तर पर शृङ्गार की अतिशयता की 'प्रतिक्रिया' भगवत्प्रेम में होगी, इसके लिए साहित्य में कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है, द्विवेदीजी ने 'भूमिका' में जो 'चार आने' की गुंजायश छोड़ दी थी, उसे ही उन्होंने इस 'प्रतिक्रिया' के निरूपण में पूरी कर दी है।

आचार्य द्विवेदी ने शुक्लजी की कतिपय कठोर टिप्पणियों का परिहार करने के लिए सिद्धनाथ साहित्य तथा सन्त-साहित्य के लोकमंगलकारी स्वरूप का उद्घाटन किया है। 'कबीर' नामक ग्रंथ में कबीर के कृतित्व की यों सराहना की है—"यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की, तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया—बन गया तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है।" कबीर के काव्यात्मक व्यक्तित्व

---

६. मध्यकालीन बोध का स्वरूप, पृ० २९।

का यह उद्घाटन सामान्यतः बड़ा मनोरोचक है। उसमें पर्याप्त सार है। किन्तु, यह 'आध्यात्मिक रस' सामान्य सहृदय को कितना आवर्जित करेगा, यह अवश्य चिन्त्य बनता है। जिसे शुक्लजी ने 'ऊटपटांग' भाषा कहा, उसी की सफाई में द्विवेदीजी कबीर को 'वाणी का डिक्टेटर' कहते हैं। यहाँ एक मौलिक प्रश्न समुल्लसित होता है : क्या ऐसी 'डिक्टेटरी' साहित्य-मंदिर में प्रकाम्य बन सकेगी? द्विवेदीजी अपनी शैली के लिए प्रसिद्ध हैं और हम समझते हैं, प्रस्तुत उद्धरण उनकी शैली के उदाहरण-रूप में-ही ग्राह्य होना चाहिए, न कि कबीर-काव्य की किसी तत्त्वाभिनिवेशी समीक्षा के रूप में।

'दूसरी परम्परा की खोज' में डॉ० नामवर सिंह ने द्विवेदीजी को प्रगतिशील और शुक्लजी को वर्णाश्रमधर्मानुयायी अथवा ब्राह्मणवादी सिद्ध करने का प्रयास किया है जो अनुचित असंगत है और उनकी मार्क्सवादी मनोभंगी की प्रसूति है। तात्त्विक दृष्टि से इन दोनों आचार्यों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों की परम्पराएँ एक हैं। यह अवश्य है कि द्विवेदीजी शुक्लजी की अपेक्षा अधिक उदार एवं जनवादी हैं, किन्तु इनमें कोई भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अथवा साम्यवाद का स्पष्ट पक्षधर नहीं है। जैसा कि एक लेखक ने कहा है, "आचार्य हजारी प्रसाद में दूसरी नहीं, कई परम्पराएँ बोलती हैं। उनमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर का व्यापक मानववादी भाव-संवेग, आचार्य नरेन्द्रदेव का समाजवाद, तन्त्रों की अन्तर्दृष्टि और प्रपंच-पाखण्ड-विरोध तथा आधुनिक अनेक विचारकों का विचार-प्रवाह था। अतः वे नए-पुरानों, आर्ष और आधुनिकों, सभी को संतुष्ट करते हैं। तथापि, उनकी वैष्णवता और करुणा, आचार्य शुक्ल की तरह स्पष्ट तथा सत्य कथन में बाधक थी। अतः द्विवेदीजी युगद्रष्टा विचारक अधिक थे, आलोचक कम। आलोचना की दृष्टि से, आचार्य शुक्ल के विवादास्पद अभिमतों, अवधारणाओं तथा कोटियों में अधिक सर्जनात्मकता और विचारोत्तेजकता है।"[७] यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शुक्लजी आलोचक-रूप में द्विवेदीजी से श्रेष्ठ हैं।

सूर के प्रेम-वर्णन में शुक्लजी की दृष्टि-भंगी का अवश्य हम अनुमोदन नहीं करते। विश्लिष्ट प्रेम की वेदना को परिस्थिति-सापेक्ष बताना आचार्य शुक्ल की कठोर नीतिवादी मनोदृष्टि का परिचायक है। आचार्य द्विवेदी प्रेम की तीव्रता को लेकर जब शुक्लजी के 'लोकमंगल'-वाद का विरोध करते हैं, तब वे निश्चित-ही अधिक वरेण्य हैं। 'अनामदास का पोथा' में भी उन्होंने कहा है कि प्रेम मनुष्य का 'स्व-भाव' है, पाप नहीं। शुक्लजी इस दिशा में तनिक

---

७. 'रामचन्द्र शुक्ल' (सम्पर्क, मार्च, १९८५), पृ० ३५२।

कठोर हैं, और 'स्थूल' लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित हैं। आंग्ल कवि वर्डसवर्थ, पहले स्वच्छन्दतावादी होते हुए भी बाद को 'फ्रांसीसी क्रान्ति' के तात्कालिक स्वरूप से प्रभावित होकर, अतीव कठोर तथा व्यवस्थावादी बन गया था। उसने केवल एक-ही कविता प्रेम की प्रणीत की और वह प्रेम भी दुःखान्त-ही रहा। आचार्य शुक्ल स्वतः अपनी कविताओं में स्वच्छन्दतावादी होते हुए भी, आलोचन-दृष्टि में नैतिकता के आग्रह के वशीभूत हो, कठोर बन गये थे जिससे छायावादी अथवा सूर-जैसे कवियों की स्वच्छन्दप्रेम-कविताओं की वे सम्यक् दाद नहीं दे सके। किन्तु, इस सन्दर्भ में अवश्य हम यह मानने को तैयार नहीं कि सूरदास 'नारी-मुक्ति के कवि' हैं अथवा उनमें 'वर्णाश्रम-धर्म की वर्जनाओं के विरुद्ध विद्रोह की ध्वनियाँ' सुनायी पड़ती हैं अथवा वे 'व्यवस्था-विरोधी' कवि हैं।[८] वस्तुतः ऐसी समीक्षाएँ भी उसी मनोदृष्टि की उपज हैं जो आचार्य शुक्ल वा आचार्य द्विवेदी को मार्क्सवादी जाति का 'प्रगतिशील' सिद्ध करने का प्रयास करती हैं। इस सन्दर्भ में स्मरणीय है कि सूरसागर के प्रेम-संसार में भी अपनी एक 'नैतिकता' है, एक 'मर्यादा' है। वहाँ 'नारी-मुक्ति' अथवा वर्णाश्रम-धर्म के विरुद्ध 'विद्रोह' का सन्देश पाना पूरे संदर्भ को झुठलाना है।[९]

आचार्य शुक्ल और प्रसाद—आचार्य शुक्ल पर तीसरा वैदुष्यपूर्ण प्रहार प्रसादजी की ओर से हुआ और वह शुक्लजी की छायावाद-रहस्यवाद-विषयक मान्यता पर केन्द्रित था। आचार्य शुक्ल ने 'रहस्यवाद' को विदेशी मूल का बताया था जिसके प्रत्याख्यान में प्रसादजी ने, प्रचुर मानसिक परिश्रम के साथ उसे भारतीय मूल का निरूपित किया है। 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा 'रहस्यवाद' है'—ऐसी प्रसाद जी की मान्यता है। वे वैदिक 'काम' को प्रेम का प्राचीन वैदिक रूप बताते हैं। आगम शास्त्रों में यही काम 'काम-कला' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और उसकी उपासना भारतवर्ष में प्रचलित हो गयी। 'यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भाव की साधना-प्रणाली' थी। वैष्णवों के माधुर्य-भाव तथा शैवों की अद्वैत-वादी उपासना-पद्धति, दोनों का उद्गम वेदों तथा उपनिषदों में उपलब्ध होता है। रहस्यवाद में भगवान् वा परमेश्वर के साथ जो प्रेममूलक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, उसमें आनन्द-तत्त्व का प्राधान्य होता

---

८. रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३११।

९. द्रष्टव्य : लेखक-कृत 'सूर की काव्य-माधुरी' में 'सूर की नैतिकता' वाला प्रकरण।

है। प्रसादजी आनन्द को जीवन में 'यथार्थ वस्तु' मानते हैं और विवेकनिष्ठ आदर्शवाद को उसका विरोधी बताते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य-संघों में 'आनन्द-भावना, प्रिय-कल्पना और प्रमोद' के तत्वों का प्राचुर्य था और उन्होंने 'आत्मा में आनन्द-भोग' को बहुत आदर दिया था। सगुणोपासना वाली भक्ति-धारा के अतिरिक्त, जिसमें भी आनन्द-तत्व अन्तर्निहित है, आनन्दवाद वाली मुख्य धारा का विकास प्रसादजी अद्वैतवाद में मानते हैं। उपनिषदों में प्रेम, प्रमोद एवम् आनन्द को जो परम तत्व के साथ जोड़ा गया था, उसी का विकास परवर्तीकाल में आगमों में हुआ और वैदिक ऋषियों के ये उत्तराधिकारी 'आत्मवादी आनन्दमय कोष' की खोज में संलग्न रहे। आगमों के अनुयायी निगम (वेद) के आनन्दवाद की धारा को संपुष्ट करते रहे और कालान्तर में श्रुतियों के अनुकरण पर अद्वैतवादी उपासना-पद्धति विकसित की जिसमें मैत्री एवं प्रणय-भाव के तत्व जोड़ दिये गये। अद्वैतवाद के इस नवीन विकास में प्रेम-भक्ति तथा सौन्दर्य-भावना की भी योजना हो गयी। प्रसादजी का कथन है कि आगम के इन अनुयायी सिद्धों ने प्राचीन आनन्द-मार्ग को अद्वैत की प्रतिष्ठा के साथ अपनी साधना-पद्धति में प्रचलित रखा और इसे वे 'रहस्य-सम्प्रदाय' कहने लगे थे। प्रसादजी पौराणिक युग की सबसे बड़ी कल्पना, जो विवेकवाद की विरोधिनी है, षोडश कलाओं से समन्वित लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के पूर्णावतार को मानते हैं। परन्तु, द्वैत-भावना के फलस्वरूप इस 'प्रेममूलक रहस्यवाद' में विरह-कल्पना का अतिशय होने के कारण, वह आगमानुयायी सिद्धों के अद्वैतमूलक रहस्यवाद को-ही श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि उसमें अद्वयतामूलक विशुद्ध एवं अमिश्र आनन्द की सहज धारा सातत्य के साथ प्रवाहित हुई है। छायावादी काव्य में इसी अद्वैतमूलक 'रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना' हुई है जिसमें 'अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न' हुआ है—यद्यपि 'युग की वेदना के अनुकूल' विरह भी 'मिलन का साधन बनकर' इसमें अनुस्यूत हो गया। 'कामायनी' में अद्वैतमूलक समरसता-निष्ठ, प्रेमप्रमोदमय इसी आनन्दवादी रहस्यवाद की पार्यन्तिक प्रतिष्ठा का प्रयत्न हुआ है।[१०]

इस प्रकार स्पष्ट है, प्रसादजी प्राचीन आर्य-चिन्तन की दो धाराएँ मानते हैं : 'आनन्दवादी' और 'विवेकवादी'। पौराणिक चेतना के प्रकर्ष-काल में विवेकवाद का सबसे बड़ा प्रतीक मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के रूप

---

१०. द्रष्टव्य—लेखककृत 'कामायनी : प्रेरणा और परिपाक', पृ० ४८८-८९।

में अवतरित हुआ—ऐसा उनका कथन है। स्पष्ट है कि प्रसादजी के मतानुसार, आचार्य शुक्ल 'विवेकवादी' धारा के-ही सटीक प्रतिनिधि हैं, जो रहस्यवाद की विरोधी है और अवतारवाद की समर्थक है। प्रसादजी ने शुक्लजी के विरोध में निर्गुण-भक्ति के अतिरिक्त, सूफी राग-साधना का बीज भी भारत में बताया है।

प्रसादजी काव्य में कलात्मक कौशल की तुलना में सिद्ध आत्मानुभूति को प्रधानता देते हैं और इस प्रकार रहस्यवाद को काव्य की मूल वृत्ति मानते हैं और यह भी संकेत-सा करते हैं कि रहस्यवाद ही भारत की सच्ची जातीय दृष्टि है। वाजपेयीजो शुक्लजी के प्रतिपक्ष में प्रसादजी के साथ हैं।

रहस्यवाद के भारतीय मूल को सिद्ध करने के लिए प्रसादजी को प्रचुर बौद्धिक प्रयास करना पड़ा है। उनकी आर्षचिन्तन की विवेकवादी तथा आनन्दवादी द्विविध धाराओं की पहचान विश्वसनीय तथा तर्क-प्रतिष्ठित है। किन्तु, इस खोज में शुक्लजी की रहस्यवाद-विषयक प्रतिपत्तियों का सर्वथा निराश हो जाता है, ऐसा कहना कठिन है।

आचार्य शुक्ल और मार्क्सवादी समीक्षक—आचार्य शुक्ल पर प्रहार मार्क्सवादी समीक्षकों द्वारा भी किया गया है, यद्यपि उन्हीं में से डॉ० रामविलास शर्मा ने उनका सबल समर्थन भी किया है। उनसे पहले शिवनाथ ने १९४३ ई० में—शुक्लजी के देहावसान के लगभग एक वर्ष बाद—आचार्य शुक्ल को फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति (१७८९ ई०) के आसपास आविर्भूत काण्ट, हेगेल, स्पिनोजा, ह्यूम प्रभृति यूरोपीय दार्शनिकों के बुद्धिवादी विचारों से प्रभावित बताया था और प्रकारान्तरेण यह प्रतिपादित किया था कि उनका 'लोकमंगल' मध्यवर्गीय हितों तक-ही सीमित है। तदनन्तर १९५२ ई० के आसपास प्रसिद्ध साम्यवादी चिन्तक शिवदानसिंह चौहान ने शुक्लजी की साहित्य-दृष्टि के एकांगी समाजशास्त्रीय होने तथा उनके अनपेक्षित पाण्डित्य-प्रदर्शन का रूपक रचने का आरोप लगाया था। रांगेय राघव, प्रकाशचन्द्र गुप्त, नामवर सिंह इत्यादि जैसे मार्क्सवादियों ने आरम्भ में शुक्लजी के बोध को मध्यकालीन बताकर उनके 'लोकमंगल' की संकीर्णता का पूरे बल के साथ उद्घोष किया। किन्तु, डॉ० रामविलास शर्मा ने १९५५ ई० में 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' नामक पुस्तक में अन्य साम्यवादी समीक्षकों तथा आचार्य द्विवेदी जैसे सांस्कृतिक-दृष्टि-सम्पन्न मानवतावादी समीक्षकों के विचारों का तर्कपूर्ण प्रत्याख्यान किया और आचार्य शुक्ल की आलोचना-दृष्टि का प्रबल अनुमोदन किया। नामवर सिंह ने भी 'चिन्तामणि-३' की भूमिका में शुक्लजी के समालोचक व्यक्तित्व

की कई प्रसंगों में प्रशंसा की है। हमने अन्यत्र इसी पुस्तक में डॉ० शर्मा तथा डॉ० सिंह की शुक्लजी-विषयक टिप्पणियों की परीक्षा की है।

आ० शुक्ल 'विकासवादी' नहीं—इस प्रकरण को समाप्त करने के पूर्व, यह विचारणीय है कि क्या आचार्य शुक्ल सचमुच 'विकासवादी' हैं, जैसा कुछ लोगों ने कहा है? यह प्रश्न 'विश्वप्रपंच की भूमिका' शीर्षक उनके निबन्ध को लेकर उठाया गया है जो 'चिन्तामणि', तीसरे भाग, में संकलित (१९८३ ई०) है। 'विश्व-प्रपंच' जर्मनी के विख्यात प्राणितत्त्व-वेत्ता हैकेल की प्रसिद्ध पुस्तक 'रिडिल आफ द यूनिवर्स' का अनुवाद है जो १९१२ ई० में शुक्लजी द्वारा सम्पन्न हुआ। यह 'अनात्मवादी आधिभौतिक पक्ष का सिद्धान्त-ग्रन्थ' है जिसमें डार्विन, स्पेन्सर जैसे वैज्ञानिकों के 'विकासवाद' का सबल प्रमाणों से पोषण किया गया है। शुक्लजी विकासवादी सिद्धान्त से प्रभावित अवश्य हुए थे, अन्यथा हैकेल के इस ग्रन्थ का अनुवाद ही करने की बात उनके मानस में नहीं आयी होती। 'भूमिका' से उनके गम्भीर चिन्तन का परिज्ञान होता है। स्थल-स्थल पर उन्होंने पाद-टिप्पणी के रूप में, वैशेषिक, योगदर्शन, सांख्य आदि से जो उद्धरण दिये हैं अथवा 'भूमिका' के बीच भी भारतीय शास्त्रों से जो उदाहरण दिये हैं, उनसे आचार्य शुक्ल के गहन वैदुष्य का पता चलता है। उदाहरण-रूप में, पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा अन्विष्ट ईथर' नामक सूक्ष्मातिसूक्ष्म द्रव्य को न्याय-वैशेषिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने यों निरूपित किया है—"वैशेषिक ने आकाश को दिक् (स्पेस) से अलग माना है और उसे भूतों के अन्तर्गत किया है। दिक् किसी वस्तु का समवायिकारण नहीं हो सकता, पर आकाश शब्द का समवायिकारण है। न्याय में उपादान को ही समवायिकारण कहा है, जैसे कपड़े के लिए सूत और कुंडल ये लिए सोना। वैशेषिक के भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी कहा है कि द्रव्यों में जो समवाय रहता है, वह तादात्म्य-रूप से ही। अतः, 'आकाश शब्द का समवायिकारण है', इस बात को यदि आधुनिक भौतिक विज्ञान के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि आकाश द्रव्य की तरंगों के ही शब्द बनते हैं? आधुनिक भौतिक विज्ञान में शब्द वायु की तरंग-रूप सिद्ध हुए हैं क्योंकि आकाश के रहते भी, वायु के बिना शब्द नहीं होता। आकाश-द्रव्य के तरंगों से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। आजकल की इस बात को यदि हम अपने दर्शन के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि 'आकाश प्रकाश का समवायिकारण है'।" (चिन्तामणि-३, पृ० ११९—पाद-टिप्पणी)

किन्तु, मूल प्रश्न है: क्या आचार्य शुक्ल सचमुच 'विकासवादी' हैं? इस प्रश्न का निर्विवाद उत्तर निम्न उद्धरणों में प्रापणीय है—

"अब प्रश्न होता है कि क्या विकासवाद जगत् के समस्त व्यापारों के मूल की सम्यक् व्याख्या कर देता है ? सच पूछिये तो उसकी पहुँच की भी हद है। शरीर-विकास और आत्मविकास को ही लीजिये। शरीर-व्यापार और मनोव्यापार दोनों में, एक-ही प्रकार के नियमों की चरितार्थता, दोनों का साथ-साथ उत्तरोत्तर क्रम से विकास दिखाया गया है सही, पर दोनों एक नहीं सिद्ध हो सके हैं। विकासवाद के सारे निरूपण मन या आत्मा की प्रथमोत्ति नहीं समझा सके हैं। और तो जाने दीजिए, किस प्रकार संवेदनसूत्र का भौतिक (स्थूल) स्पंदन संवेदन के रूप में परिणत हो जाता है, यह रहस्य नहीं खुलता। इस प्रकार का और कोई परिणाम भौतिक जगत् में देखने में नहीं आता।" (वही, पृ० १६५)

"××× भूतवाद भौतिक जगत् के उपयुक्त है, पर दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि चलते हुए व्यापार की व्यवस्था के रूप में, बीच की कारण-परम्परा के अनुसन्धान के रूप में। इसके परे जो बातें हैं, वे दूसरे क्षेत्र की हैं और दूसरे उपायों से जानी जाती हैं। आध्यात्मिक बातों को रसायन और भूतविज्ञान के शब्दों में बताना असम्भव है। इसी से उनका अस्तित्व-ही अस्वीकार किया जाता है, वे केवल भ्रान्तिलक्षण मानी जाती हैं। पर ऐसी अनधिकार मीमांसा अनुचित है।" (वही, पृ० १७८)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मार्क्सवादी समीक्षकों की यह मान्यता कि शुक्लजी अनात्मवादी 'विकासवाद' के पोषक हैं, सर्वथा निराधार है। यहीं यह समझ लेना भी अपेक्षणीय है कि आचार्य वाजपेयी का यह आरोप भी सही नहीं है कि शुक्लजी के पीछे न कोई पौरस्त्य अथवा पाश्चात्य दर्शन की सुसंगत पीठिका है और न तो कोई ठोस ऐतिहासिक आधार। वाजपेयीजी के कथन का परोक्ष खंडन शुक्लजी के ही अन्य पट्ट शिष्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी 'मंजूषा' में यों दिया है—'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः' की नीति से कुछ कहना दूसरी बात है और शुक्लजी की धारणा को समझने और पूरा-पूरा हृदयंगम कर लेने के अनन्तर उसका खण्डन करना दूसरी बात।" वाजपेयीजी के तूफानी आक्रमण में 'वरं विरोधो ×××' वाला न्याय ही अधिक प्रतिफलित दृष्टिगोचर होता है।

आ० शुक्ल का जीवन-दर्शन—आचार्य शुक्ल का एक स्पष्ट जीवन-दर्शन है। वे 'अव्यक्त' के पक्षधर होते हुए भी, 'व्यक्त' को-ही व्यवहार, काव्य तथा भक्ति की प्रकृत भूमि मानते हैं—व्यवहार का ही सौन्दर्य उनका साध्य है। उनका कथन है—"पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है, पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष हैं। अपने प्रकाश के

लिए मानो राम ने ही रावण का असत् रूप खड़ा किया है।" अपने दर्शन को और भी स्पष्ट करते हुए, शुक्लजी ने कहा है—"जबकि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्तस्वरूप जगत् में आदि से अन्त तक सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण गुण रहेंगे, तब समष्टि-रूप में लोक के बीच मंगल का विधान करने वाली ब्रह्म की आनन्द-कला की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण—दोनों सत्त्वगुणों के अधीन रहकर उसके इशारे पर काम करें।" इन पंक्तियों के प्रकाश में कैसे कहा जा सकता है कि शुक्लजी के पास कोई स्पष्ट दर्शन नहीं है? प्रत्यक्ष-ही, उनका दर्शन भारतीय प्रभाव से ओतप्रोत है। 'इसी परमार्थ-दर्शन पर उनका 'लोकधर्म' नामक व्यावहारिक जीवन-दर्शन टिका हुआ है।"[११]

आचार्य शुक्ल, अन्तिम विश्लेषण में 'भौतिकवादी' नहीं, 'आत्मवादी' हैं और व्यावहारिक जीवन में सम्भवतः 'रामभक्त' भी। तभी तो "सुनि सीतापति सील सुभाऊ" वाले प्रसिद्ध 'विनय-पत्रिका' के कथन से प्रारम्भ कर वे 'क्षात्रधर्म का सौन्दर्य' वाले निबन्ध की समाप्ति करते हैं "भगवान् रामचन्द्र की जय!" के उद्घोष से। (चिन्तामणि, भाग ३, पृ० १८०)

आ० शुक्ल के आलोचकों की उपर्युक्त तीन प्रमुख श्रेणियाँ बन गयी हैं; स्वच्छन्दतावादी या सौष्ठववादी (आ० वाजपेयी, प्रसाद); सांस्कृतिक-ऐतिहासिक (आचार्य द्विवेदी) और समाजशास्त्रीय-प्रगतिवादी (मार्क्सवादी समीक्षक)। शास्त्रीय धरातल पर डॉ० नगेन्द्र ने अपने 'रस-सिद्धान्त' में शुक्लजी की प्रत्यक्ष-परोक्ष आलोचना की है, किन्तु उनका स्वर संयमित एवं शास्त्रीय मर्यादा से समन्वित है क्योंकि वह शुक्लजी के गाम्भीर्य से प्रभावित अवश्य हैं। हमने डॉ० नगेन्द्र की कतिपय शुक्लजी-विषयक मान्यताओं का इसी ग्रंथ में, विविध सन्दर्भों में समीक्षण किया है।

———

११. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी : 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परवर्ती हिन्दी आलोचना', शीर्षक निबन्ध, 'सम्मेलन पत्रिका' (शुक्ल-विशेषांक, चैत्र मार्गशीर्ष, संवत् १८०६), पृ० ३८।

(१६) उपसंहार : संकलन और निष्कर्ष

(क) संकलन

आचार्य शुक्ल हिन्दी समालोचना-संसार में अद्वितीय प्रतिभा के धनी, काव्य-मर्मज्ञ आलोचक हैं। पूर्व परिच्छेदों में हमने उनके कृतित्व का जो गवेषण किया है, उससे एक तथ्य यह उत्कीर्ण हुआ है कि उनका समग्र काव्य-दर्शन, रसवाद की परिधि में तुलसी से अनुप्राणित है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण हिन्दी काव्य-जगत् में तुलसी-ही एकमात्र ऐसे 'सारस्वत-वर्त्म' के अनुगन्ता उन्हें दिखायी पड़े हैं जो उनकी गंभीर सारग्राहिणी प्रतिभा के मेल में पड़ते हैं। चाहे कविता का शील-निरूपण हो, चाहे कवि-कर्म हो, चाहे समीक्षा-सिद्धान्त की पहचान हो—सर्वत्र तुलसी ने उनके चिन्तन को प्रभावित किया है।

(१) कविता के विषय में उनकी प्रिय-परिचित मान्यता है, 'लोक-सामान्य भावभूमि' की। इसी केन्द्रीय मान्यता के अनुरूप वे कविता का लक्ष्य मनुष्य का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सामंजस्य-स्थापन मानते हैं। इस सृष्टि में नर-प्रकृति और नरेतर प्रकृति दोनों का अन्तर्भाव है। बाह्य प्रकृति के संबंध में, वे काव्य में उसके आदिम रूपों तथा व्यापारों के चित्रण को स्पृहणीय मानते हैं क्योंकि चिरकाल से, दीर्घ वंश-परम्परा के कारण, परिचित होने के फलस्वरूप, उनमें हमारे भावों को जगाने की अद्भुत सामर्थ्य है।

(२) 'रहस्यवाद' के परीक्षण में शुक्लजी की लोक-सामान्य भावभूमि वाली मान्यता ने हस्तक्षेप किया है। अव्यक्त सत्ता के प्रति 'जिज्ञासा' की भावना को तो वे स्वाभाविक समझते हैं, लेकिन उसके प्रति 'लालसा' अथवा अनुराग की बात को स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म के सगुण स्वरूप के प्रति ही मनुष्य अनुराग का अनुभव कर सकता है। इसी कारण, अनन्त सौन्दर्य अनन्त शील तथा अनन्त शक्ति के अवतार राम के प्रति प्रेम का स्फुरण वे पूर्णतः स्वाभाविक तथा प्रकाम्य मानते हैं। राम में ही उनका लोक-संग्रह तथा लोक-मंगल का सिद्धान्त चरितार्थ्य दिखायी पड़ा है। रहस्यवादी कविताओं में उन्हें अनुभूति की सचाई का अभाव मिला है जिस कारण, वे उनकी अभिव्यंजना को कृत्रिमता से ग्रस्त समझते हैं। तथापि, वे 'रहस्यवाद' के एकान्त विरोधी

नहीं हैं। उन्होंने उन कविताओं की प्रशंसा की है जिनमें सच्ची रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति हुई।

(३) आ० शुक्ल कविता में 'अर्थग्रहण' को नहीं, 'बिम्ब-ग्रहण' को आवश्यक मानते हैं। सूक्ष्म ब्यौरों के साथ संश्लिष्ट चित्रण ही 'बिम्ब-ग्रहण' करा सकता है—चाहे कवि का वक्तव्य कोई गोचर वस्तु हो, चाहे अगोचर भाव कविता का धर्म है, पाठक या भावक के सामने 'रूप' खड़ा करना और यह बिम्ब-ग्रहण कराने के द्वारा ही संभव बनता है।

(४) काव्य का तात्कालिक लक्ष्य उनके अनुसार है रस का संचार करना। इसके निमित्त, वे कविता में विभाव-पक्ष को महत्त्व देते हैं क्योंकि उसी की सम्यक् 'प्रतिष्ठा' से भावों का हृदय मे प्रस्फुरण होता है।[1] उनकी मान्यता है कि कल्पना इसी बोध-पक्ष का पोषण करती है। इस दृष्टि से, उन्होंने कल्पना की वायवी उड़ानों, यूरोप के 'विश्वामित्रों' की 'नूतन सृष्टि-निर्माण' की प्रवृत्ति का उपहास किया है।

कविता के कला-पक्ष के विषय में शुक्लजी स्वाभाविक लालित्य अथवा अलंकार-योजना के समर्थक हैं जो सम्बद्ध भावतत्त्व को अधिक मनोग्राही बनाने में योग देता है। वस्तु-व्यंजना में, इसी कारण, उन्होंने प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध ऊहाओं की भर्त्सना की है।'

(५) काव्य को शुक्लजी ने, जैसा पूर्व संकेतित है, लोकमंगल से शृङ्खलित किया है। किन्तु, यहाँ वे टालस्टाय के उस 'आदर्शवाद' का प्रत्याख्यान करते हैं जो अशुभ एवम् अनिष्टकारिणी प्रवृत्तियों के ऊपर शुभ तथा मंगलमयी प्रवृत्तियों की एकान्त, संघर्ष-विहीन विजय प्रदर्शित करने की हिमायत करता है। 'ब्राह्मण-काव्य' और 'क्षत्रिय-काव्य' का उनका विभाजन इसी दृष्टि से

१. टी० एस० ईलियट ने प्रकारान्तर से विभाव-पक्ष का-ही अनुमोदन किया है जब उसने 'वस्तु-मूलक संबंधन' (Objective Correlative) की चर्चा की है। उसका कथन यों है—"The only way of expressing emotion in the form of art is by finding in 'objective correlative; in other words, a set of objects, a situation, a chain of events, which shall be the formula of that particular emotion; such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately evoked."
—T. S. Eliot : 'Selected Prose', edited by John Hayward, 1958, p. 107-08.

किया गया है। 'साधनावस्था' वाले तथा 'सिद्धावस्था' वाले काव्यों की उनकी पहचान इसी मान्यता पर आधृत है कि पहले में अशुभ, अमंगलकारिणी शक्तियों के दमनार्थ संघर्ष का चित्रण होता है जबकि दूसरे में शुभ तथा मंगलमयी शक्तियों का अनायास उपप्लाव चित्रित होता है।

(६) सैद्धान्तिक समालोचना के सम्बन्ध में, आ० शुक्ल भारतीय रस-सिद्धान्त के पोषक हैं। उनकी कविता की परिभाषा रस से घनिष्ठत्वेन जुड़ी हुई है—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।' उल्लेखनीय है कि इस परिभाषा में रस-संचार का तथ्य स्वीकार होने पर भी, 'चारुता', 'चारुत्व', 'रमणीयता' या 'आह्लाद' आदि का कोई कथन नहीं हुआ है जो संस्कृत के आचार्यों का प्रिय तत्त्व रहा है। यह मान्यता भी शुक्लजी की 'लोक-सामान्य भावभूमि' के मेल में पड़ती है क्योंकि 'हृदय की मुक्ति' लोक-सामान्यता की उपलब्धि के लिए आवश्यक है। 'कला-कला के लिए 'जैसे जीवन-निरपेक्ष सिद्धान्तों का उन्होंने इसी दृष्टि से विरोध किया है। रसानुभव की अलौकिकता में उनका विश्वास नहीं है, प्रत्युत वे उसे लौकिक अनुभवों का-ही 'उदात्त और अवदात' स्वरूप मानते हैं। रसात्मक बोध के विविध रूपों की उनकी पहचान उन्हें लौकिक अनुभूतियों के बीच में ले गयी है जो अपने ढंग से नयी है, यद्यपि उसमें दरारें पड़ गयी हैं।

(७) विदेशी समीक्षाशास्त्रियों में इटली के क्रोचे और इंग्लैण्ड के रिचर्ड्स ने उनका अधिक ध्यानाकर्षण किया है। क्रोचे के साथ वे न्याय नहीं कर सके हैं जिसका मूल कारण यह है कि उन्होंने उसके 'एक्सप्रेशनिज्म' को 'अभिव्यंजना-वाद' समझ लिया है जबकि उसका अभिप्राय 'अभिव्यक्ति' से है जो अन्त-ज्ञानात्मक सहजानुभव है, अभ्यान्तरिक सौन्दर्य-बिंब है। जहाँ तक रिचर्ड्स का सम्बन्ध है, उन्होंने कतिपय प्रसंगों में अपने निरूपणों एवम् मान्यताओं के परिपोष वा अनुमोदन के लिए रिचर्ड्स को उद्धृत किया है। जैसा हमने पहले कहा है, ऐसा कर शुक्लजी ने अपनी विलक्षण प्रतिभा के साथ अन्याय किया है। संभवतः रिचर्ड्स की बार-बार चर्चा ही वर्तमान विद्वानों की इस अनर्गल टिप्पणी का कारण बनी है कि वे 'प्लेटो' बनने चले थे, किन्तु 'रिचर्ड्स' भी नहीं बन सके। स्मरणीय है कि पश्चिमी दुनियाँ में भी एक-ही 'प्लेटो' हुए, दूसरे नहीं। जहाँ तक रिचर्ड्स की बात है, उसमें अवश्य 'मनोवैज्ञानिक मूल्य-सिद्धान्त' का प्रणयन कर समीक्षा की एक नयी दिशा का निर्देश किया। किन्तु आ० शुक्ल की प्रतिभा की व्याप्ति रिचर्ड्स की अपेक्षा बड़ी है। हमें नहीं मालूम

कि उसने किसी लंबी काव्य-कृति की अपने नवोद्भावित समीक्षा-सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या की है। हिन्दी-जगत् में तो आज भी कोई 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' नहीं बन सका।

(ख) निष्कर्ष

(१) आ० शुक्ल का काव्य-निरूपण गतानुगतिकता से हटकर नवीन सौरभ से सुवासित बन गया है। उसमें उनके स्वतन्त्र चिन्तन तथा स्वतन्त्र दृष्टि का प्रतिफलन हुआ है। उनका रस-विमर्श उनकी आचार्य-सुलभ तलस्पर्शिनी प्रज्ञा का उन्मीलन करता है जिसमें उनकी नैसर्गिक सहृदयता का स्पष्ट अनुवेध है। उन्होंने प्राक्तन आचार्यों के समान सुसम्बद्ध एवम् व्यवस्थित रस-निरूपण नहीं किया है और न-ही भरत के प्रसिद्ध रस-सूत्र में आये 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' पदों की व्याख्या का प्रयत्न किया है। विशुद्ध भावक-दृष्टि उन्हें अनुप्राणित करती रही है और वे रस को, मूलतः एवम् अन्ततः, प्रमातृनिष्ठ-ही मानते हैं। यद्यपि उन्होंने अनेक प्रसंगों में प्राचीनों से वैमत्य प्रकट किया है, तथापि उनके चिंतन एवम् विचारण की कील आचार्य-परम्परा में ही गड़ी हुई है। सचाई यह है कि वे शास्त्र-स्वतन्त्र होते हुए भी शास्त्र-परतंत्र हैं और शास्त्र-परतन्त्र होते हुए भी शास्त्र-स्वतन्त्र हैं। यही उनकी समालोचक-प्रतिभा का वैशिष्ट्य है जो उन्हें प्राचीन आचार्य-परम्परा से जोड़ देता है और साथ-ही, नवीन चिन्तन का 'आकाश-दीप' भी प्रज्वलित करता है।

रसानुभव की अलौकिकता का अपलाप कर, शुक्लजी ने उसे विशुद्ध मनोवैज्ञानिक धरातल पर व्याख्यात किया है जिसमें किसी दार्शनिक आग्रह की गन्ध नहीं है। यहाँ एक विद्वान् का यह कथन उद्धरणीय प्रतीत होता है—"आनन्दवर्धन के बाद भारतीय साहित्य-शास्त्रीय मीमांसा की सहज गंगाधारा जो अभिनवगुप्त-रूपी शिव की जटा में समाकर क्या निकली, लगभग एक सहस्राब्द तक शैव, वैष्णव, द्वैत, अद्वैत एवं त्रैत सिद्धान्तों के दलदल में फँसकर विलीन हो गई थी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के भगीरथ प्रयास से वह पुनः अपने सहज निर्मल रूप में प्रवाहित हुई प्रतीत होती है जिसका अवगाहन कर, सकल-सहृदय-मन विशद हो जाता है।"[२] 'आनंद' से कटी हुई 'रसदशा' की प्रतिपत्ति शुक्लजी के स्वतन्त्र चिन्तन की प्रकाशिका है। डॉ० नगेन्द्र, अपने समग्र बौद्धिक आस्फालन के बावजूद, अन्ततोगत्वा, रसानुभव की व्याख्या में अभिनवगुप्त के 'स्वात्म-परामर्श' का ही परोक्षत्वेन अनुमोदनकर बैठे हैं।

२. डॉ० ब्रजमोहन चतुर्वेदी : 'रस-सिद्धान्त के अनालोचित पक्ष', पृ० १६८।

शुक्लजी का रसनिरूपण, उनकी अपनायी अपनी विशिष्ट सरणी में, आज भी 'क्लैसिक' बना हुआ है। उनकी 'रस-कोटियों' वाली मान्यता जैसा हमने संबद्ध प्रसंग में दिखाया है, पूर्णतः संगत एवम् यौक्तिक है और रस की मूल आत्मा की रक्षा करते हुए, रस की परिधि का विस्तार करती है।

(२) आ० शुक्ल की व्यावहारिक समीक्षाएँ आज भी कई दृष्टियों से टकसाली बनी हुई हैं। उनमें आलोचनात्मक प्रज्ञा के साथ 'हृदय-संवाद-भाक्' सहृदय की योग्यता का स्पष्ट संयोग स्थापित हुआ है। तुलसी, सूर तथा जायसी की आलोचनाओं में उन्होंने निगमन-शैली अपनायी है जिसके फल-स्वरूप उनकी रचनाओं के मूल्यमापन के लिए उन्हीं में से अपेक्षित मानदण्ड निर्मित हुए हैं। यह शुक्लजी की हिन्दी आलोचना के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन है, यद्यपि वहाँ उनकी व्यक्तिगत रुचियों तथा भावनाओं का अनुप्रवेश भी हो गया है। यह उनकी आचार्य-सुलभ मनोभंगिमा का-ही द्योतक है कि वे अपनी पसन्दों तथा मान्यताओं के आलोक में बे-हिचक निर्णय भी दे देते हैं।

इन व्यावहारिक समीक्षाओं में वे राजशेखर के इस आदर्श से अनुप्राणित हैं कि किसी रचना की आलोचना में उसके अन्तरंग तथा बहिरंग, प्रधान तथा गौण, सभी पक्षों का समुचित विवेचन होना चाहिए—'अन्तर्भाव्यं समीक्षा, अवान्तरार्थैः विच्छेदश्च सा।' व्यक्तिगत रुचियों तथा धारणाओं के प्रभावी बनने के बावजूद, शुक्लजी 'तत्त्वाभिनिवेशी' समालोचक कहे जायेंगे। उनकी समीक्षाओं में ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा प्रभावाभिव्यंजक दृष्टियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है—यद्यपि वे मूलतः सहृदयता-संश्लिष्ट व्याख्यात्मक हैं।

(३) आ० शुक्ल अपने निरूपणों के प्रति पूर्णतः आश्वस्त हैं। उनका अविचलित आत्म-विश्वास तथा अडिग दृढ़ता पदे-पदे हमारा ध्यानाकर्षण करती है। इस प्रसंग में हमें यह प्रतीति हुई है कि वे अपने समय की समा-लोचन-स्थिति की अपरिपक्वता से पूर्णतः अभिज्ञ हैं और शायद इसी कारण, उन्हें अपने प्रतिपादनों में किसी सम्भाव्य छिद्रान्वेषण की कभी प्रतीति वा आशंका नहीं हुई। यहाँ वे, लगता है, विश्वनाथ के इस आत्मविश्वासी कथन से परोक्षतया प्रभावित हैं जिसे विश्वनाथ ने रस की अलौकिकता के प्रतिपादन-संदर्भ में किया है—'सुखादितादात्म्याङ्गीकारे चास्माकीं सिद्धान्त-शय्याम्-अधिशय्य दिव्यं वर्ष-सहस्रं प्रमोद-निद्राम् उपेया इति।''[३]—'सुख और आदि पद से चमत्कार के साथ अभेद मानने में हमारी सिद्धान्त-रूप शय्या का आश्रय लेकर देवताओं के हजार वर्ष तक प्रमोद-पूर्वक आप सोइये।' शुक्लजी अपने निरूपणों के प्रति इसी गहन आत्म-विश्वास से अनुप्राणित हैं।

३. 'साहित्य-दर्पण' (मोतीलाल), पृ० ६२।

(४) शुक्लजी की स्वाभाविक मनोवृत्ति 'आचार्य' की मनोवृत्ति है। उसमें कहीं किसी प्रकार की कुण्ठा अथवा विचलन का दर्शन नहीं होता—कविता का निरूपण हो अथवा रस का शास्त्रीय प्रतिपादन—सर्वत्र उनके आचार्यत्व की झलकें मिलती हैं। गहरी रस-मर्मज्ञता और सहृदयता उस 'आचार्यत्व' की व्यवच्छेदक पहचान है। उनकी 'अप्रोच' की नव्यता और दृष्टि की निर्मलता हमें सदैव आकर्षित करती हैं। लेकिन, एक तथ्य यह उभार में आता है कि वे जब किसी नये सिद्धान्त का निरूपण करना चाहते हैं, तब कहीं-कहीं उनका प्रतिपादन दोषपूर्ण बन जाता है और पूरी सफलता उनकी पकड़ से बाहर खिसक जाती है। जैसा हमने यथास्थल दिखाया है, छोटे-छोटे प्रसंगों में भी उनके नव-निरूपणों में दरारें पड़ गयी हैं। ऐसी स्थितियों में, हमें ऐसा प्रतीत हुआ है, तुलसी से उनकी प्रतिबद्धता और अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रेरणा को 'शास्त्र' के साथ संयोजित करने की उनकी चिकीर्षा यहाँ बाधक बनी है।

(५) काव्य के मूल्यमापन की उनकी कसौटी रही है : रस कासंचार और लोक-मंगल का सम्पादन। स्पष्ट है, इनमें पहला विन्दु व्यष्टि-सापेक्ष सौन्दर्य-मूल्य है और दूसरा समष्टि-सापेक्ष, उपयोगिता-मूल्य है। इन दोनों को संश्लिष्ट कर कविता के मूल्यांकन का निकष तैयार करने में उन्हें कठिनाई हुई है, यद्यपि उन्हें उसकी प्रत्यक्ष प्रतिपत्ति नहीं है। हम समझते हैं, उनका यह प्रतिपादन दुर्बल बन गया है।

(६) आ० शुक्ल प्राचीन मान्यताओं तथा आदर्शों से जुड़े हुए हैं। इसी कारण, वे 'मेघनाद-वध' जैसी रचनाओं के ऊपर 'भारती के मंदिर में व्यर्थ की गड़बड़' फैलाने का दोषारोपण करते हैं—यद्यपि उन्होंने ऐसी परम्परा विच्छिन्न रचनाओं के लिए भी रस का सिंह-द्वार खोल दिया है।

(७) शुक्लजी के काव्य-दर्शन में नये तथ्यों तथा तत्वों का सन्निवेश स्वीकार्य है, किन्तु उन्हें नैतिकता के अनुरोधों के प्रति विद्रोहशील नहीं होना चाहिए। लक्षणीय है कि यह नैतिकता साम्प्रदायिक अथवा संकीर्ण नैतिकता नहीं है, प्रत्युत वैसी नैतिकता है जो जीवन तथा समाज के व्यवस्थित संचालन में सहायक सिद्ध होती है। शाश्वत तथ्यों एवम् दृष्टियों के प्रति आस्थाशील होते हुए भी, वे नवीनता के समर्थक हैं और नवीनता का सम्मान करते हुए भी, वे शाश्वती मूल्य-मर्यादाओं के हिमायती हैं।

(८) उन्हें सबसे बड़ा किन्तु ईमानदारी का भय यह है कि काव्य कहीं वायवी कल्पनाओं में फँस कर 'नकली हृदयों का कारखाना' न बन जाय और 'सहृदय' 'तमाशबीन' न बन जायँ। इस प्रकार, वे 'कारयित्री' तथा 'भावयित्री', दोनों प्रतिभाओं के एक विशिष्ट मर्यादा में बँधे रहने के अभिलाषी

हैं। यह भिन्न बात है कि उन्होंने कतिपय प्रसंगों में अपने से विसंवादी मत रखने वालों के प्रति स्वयं चुभते व्यंग्य किये हैं। यहाँ उनकी निसर्गसिद्ध विनोदशीलता, लगता है, स्वयं मर्यादा की लक्ष्मण-रेखा को उल्लंघित कर गयी है। कभी-कभी वे दूसरों पर अत्यन्त सरल ढंग से हँसते-से प्रतिभासित होते हैं।

(९) शुक्लजी के संपूर्ण काव्य-दर्शन के अनुशीलन की फलश्रुति यह निकलती है कि वे 'काव्य-शास्त्री' की अपेक्षा 'काव्य-शास्ता' अधिक हैं। उनकी मानसी दृष्टि 'प्रशासकीय' है, वे 'प्रभु-सम्मित' निर्देशन के अभ्यासी हैं, 'सुहृत्सम्मित' प्रबोधन के पक्षधर नहीं। यदि आचार्य शुक्ल के समालोचक-व्यक्तित्व पर विचार करें, तो संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि सैद्धान्तिक-शास्त्रीय भूमि पर 'रस' और व्यावहारिक भूमि पर वाल्मीकि के बाद तुलसीदास—ये दो-ही उसके संघटक उपादान हैं। यह कहना कदाचित् अधिक युक्तिसंगत होगा कि तुलसी उनकी 'शक्ति' हैं और वही उनकी 'सीमाएँ' भी हैं। तथापि अपनी शक्ति और सीमाओं के बीच शुक्लजी आधुनिक हिन्दी-आलोचना के 'भीष्म-पितामह' बन गये हैं।

परिशिष्ट

(१) साहित्य का अभिप्राय
(२) आचार्य शुक्ल के दो अनुवाद

(१) साहित्य का अभिप्राय

(क)

साहित्य का क्षेत्र—आंग्ल समीक्षक डी० क्विंसी ने साहित्य को दो वर्गों में बाँटा है : शक्ति का साहित्य (लिट्रेचर आफ् पावर) और ज्ञान का साहित्य (लिट्रेचर आफ् नॉलेज)। 'शक्ति के साहित्य' से उनका अभिप्राय 'ललित साहित्य' से है जिसका सम्बन्ध मनुष्य के रागात्मक स्वभाव से होता है। 'ज्ञान के साहित्य' के भीतर विज्ञान इत्यादि विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ समावेश्य हैं जिनका उद्देश्य मुख्यतया पाठक की ज्ञान-वृद्धि है। आ० शुक्ल ने 'साहित्य' से पहले प्रकार का अभिप्राय ग्रहण किया है—"साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें ऐसे वाङ्मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।" 'भावोन्मेष' से उनका अभिप्राय रति, करुणा, क्रोध प्रभृति भावों तथा मन की अन्यान्य वृत्तियों से है और 'चमत्कार' से उनका अभिप्राय 'उक्ति-वैचित्र्य के कुतूहल' से है।[1]

(ख)

चतुर्विध अर्थ—भारतीय दार्शनिक परम्परा का अनुसरण करते हुए आ० शुक्ल चार प्रकार के अर्थ मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमित, आप्तोपलब्ध और कल्पित। 'प्रत्यक्ष' अर्थ स्पष्ट-ही है। शेष तीन के विषय में वे कहते हैं कि भाव या चमत्कार से 'निःसंग विशुद्ध रूप' में 'अनुमित' अर्थ का क्षेत्र दर्शन तथा विज्ञान है; 'आप्तोपलब्ध' अर्थ का क्षेत्र इतिहास है और 'कल्पित' अर्थ का 'प्रधान क्षेत्र' काव्य है। लेकिन भाव या चमत्कार से समन्वित होकर ये तीनों प्रकार के अर्थ काव्य के आधार हो सकते हैं—यद्यपि 'अनुमित' और 'आप्तोपलब्ध' अर्थ के साथ 'कल्पित' अर्थ का संयोग काव्य में अधिक नहीं हो

---

१. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० १७४।

जाता। रामायण, महाभारत, पद्मावत आदि 'ऐतिहासिक काव्य' इसके दृष्टान्त हैं। निष्कर्ष-रूप में शुक्लजी का 'साहित्य' से विवक्षार्थ 'ललित साहित्य' तथा उसकी विचारपूर्ण समीक्षा है जो उसकी 'रमणीयता' एवं तात्त्विक 'मूल्य' को पाठकों के हृदयंगम करा सके। अर्थ-बोध-मात्र करानेवाली रचनाओं को वे 'साहित्य' में रखना नहीं पसन्द करते।[२]

(ग)

साहित्य के अन्तर्गत गृहीतव्य रचनाएँ—उपर्युक्त कसौटी पर आ० शुक्ल के मतानुसार साहित्य के अन्तर्गत आनेवाली रचनायें हैं—काव्य, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य और निबन्ध जिसमें साहित्यालोचन भी सम्मिलित है। इन पाँचों प्रकार की रचनाओं में 'भाव' अथवा 'चमत्कार' की विद्यमानता में परिमाण-भेद होता है, साथ-ही इस भाव या चमत्कार की 'शासन-विधि' में भी भेद होता है।[३] अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार से 'भाव' अथवा 'चमत्कार' का तत्त्व भाषा को अधिशासित या प्रभावित करता है।

भाषा का प्रकृत काम होता है, प्रयुक्त शब्दों के 'अर्थ-योग' द्वारा अथवा 'तात्पर्य-वृत्ति' द्वारा, पूर्वोक्त चार प्रकार के अर्थों में से किसी एक का बोध करायें। आ० शुक्ल के कथनानुसार, अर्थ-बोध का यह कार्य भाव अथवा चमत्कार से प्रभावित होता है। कहीं भाव अथवा चमत्कार का यह 'शासन' अति कठोर बन जाता है जिसके फलस्वरूप भाषा को अपना वास्तविक कार्य 'लुक-छिपकर' करना पड़ता है और वह भाव अथवा चमत्कार के इशारे पर "अनेक प्रकार के रूप-रंग बना कर नाचती दिखाई पड़ती है।" कहीं यह शासन 'इतना कोमल' होता है कि भाषा अपना प्रकृत कार्य 'खुलकर' भली-भाँति सम्पन्न करती है और भाव-सम्प्रेषण का साधन बनती है।

जहाँ भाषा 'बाधित, असम्भव, असंयत या असम्बद्ध' अर्थों का बोध कराती है, वहाँ वह केवल 'भाव' अथवा 'चमत्कार' का साधन-मात्र बन जाती है और उसका 'वस्तु-ज्ञापन-कार्य' एक प्रकार से सर्वथा तिरोहित हो जाता है। ऐसे अर्थों का मूल्य शुक्लजी कहते हैं—इनकी बाध्यता या असम्भवता के आधार पर नहीं, प्रत्युत इस आधार पर अंकित किया जाता है कि वे किसी 'भावना' को कितने तीव्र और 'बढ़े-चढ़े' रूप में व्यंजित करते हैं अथवा प्रस्तुत उक्ति में कितना 'वैचित्र्य या चमत्कार' उत्पन्न कर

२. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७४।
३. वही, पृ० १७५।

हमारा 'अनुरंजन' करते हैं। ऐसे 'अर्थ-विधान की सम्भावना' काव्य में सबसे अधिक होती है। लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि काव्य-गत अर्थ सर्वदा इसी पराधीनता की अवस्था में अभिव्यक्त होता है। (ज्ञातव्य है कि यह पराधीनता 'भाव' अथवा 'चमत्कार' के द्वारा भाषा के ऊपर मढ़ी जाती है जिस कारण, अर्थ-ज्ञापन या वस्तु-ज्ञापन का तत्त्व भाषा को रंगीनी या तड़क-भड़क में आच्छन्न बन जाता है।) शुक्लजी बताते हैं कि बहुत-सी 'मार्मिक और भावपूर्ण' कविताओं में भाषा कोई आकर्षक 'वेशभूषा या रूप-रंग' नहीं बनाती और 'अर्थ अपने खुले रूप में ही पूरा रसात्मक प्रभाव डालते हैं।' स्मरणीय है कि वर्तमान प्रसंग में 'अर्थ' पद का अर्थ कवि द्वारा वक्तव्य, सम्प्रेष्य अथवा विवक्षित वस्तु से है।[४]

प्रस्तुत कथन में शुक्लजी की विवक्षा मात्र इतनी है कि कविता में कभी 'भाव' या 'चमत्कार' का तत्त्व अतिशय प्रबल बन जाता है जिससे भाषा का प्रकृत स्वरूप कृत्रिमता एवं अलंकृति से अभिभूत हो जाता है और कभी भाषा अपने सरल, सहज रूप में-ही पाठकों के ऊपर रसात्मक प्रभाव डालती है जहाँ अभीष्ट अथवा सम्प्रेष्य अर्थ (वस्तु), बिना किसी शब्दाडम्बर में छिपे हुए पाठकों को हृदयंगम हो जाता है।

शुक्लजी कहते हैं कि रूपक या नाटक में, काव्य की अपेक्षा भाव-व्यंजना अथवा चमत्कार के लिए परिमित अवकाश रहता है क्योंकि वह कथोपकथन के सहारे चलता है और कथोपकथन के अतिरंजित वक्रता से पूर्ण या 'हवाई' हो जाने पर, पात्रों का वार्तालाप अस्वाभाविक बन जाता है। आख्यायिका या उपन्यास में अर्थ और भी अधिक अपने प्रकृत रूप में आते हैं। 'काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध या लेख' छन्द के बन्धन से मुक्त 'काव्य' ही होते हैं और इस कारण काव्य की उपर्युक्त दोनों विधियाँ उनमें उपलब्ध होती हैं।

इन चारों प्रकार की रचनाओं में कल्पना-प्रसूत 'वस्तु' या अर्थ की प्रधानता रहती है और शेष तीन प्रकार के अर्थ (प्रत्यक्ष, अनुमित और आप्तोपलब्ध) गौण या सहायक रूप में आते हैं। लेकिन आ० शुक्ल के मतानुसार, निबन्ध में 'विचार-प्रसूत अर्थ' अंगी या प्रधान होता है और कल्पित या आप्त अर्थ अंग-रूप में समाविष्ट होते हैं। अतः निबन्ध का प्रकृत स्वरूप अर्थ-प्रधान होता है, यद्यपि 'व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य' वहाँ अर्थ-संश्लिष्ट रहता है और 'हृदय के भाव या प्रवृत्तियाँ बीच-बीच में अर्थ के साथ झलक मारती

---

४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७६।

हैं।"[५] यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शुक्लजी के निजी निबन्ध विचार-पक्ष तथा हृदय-पक्ष, दोनों का सुखद समन्वय प्रस्तुत करते हैं।

अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति—इस सन्दर्भ में आ० शुक्ल का एक कथन उल्लेखनीय है। वे मानते हैं कि कविता 'ब्रह्म की व्यक्त सत्ता' अर्थात् चतुर्दिक् फैले हुए 'गोचर जगत्' से सम्बन्ध रखती है। जगत् अव्यक्त (ब्रह्म) की अभिव्यक्ति है और काव्य इस 'अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति' है। यह बात उन्होंने 'रहस्यवाद' के विरोध में कही है जो अव्यक्त सत्ता के हवाई ऊहा-पोह में-ही आत्म-लाभ करता है।[६] शुक्लजी के प्रस्तुत कथन में यूनानी आचार्य प्लैटो के इस कथन की ध्वनि सुनाई पड़ती है कि कविता या कला मूल सत्ता की प्रतिकृति की प्रतिकृति होती है। उदाहरणतः वैचारिक जगत् में खाट की एक मूल सत्ता है। बढ़ई उस मूल सत्ता की नकल कर वस्तु-जगत् का खाट बनाता है और चित्रकार उस वास्तविक खाट की नकल कर खाट का चित्र बनाता है। समस्त कलाओं की रचना इसी प्रकार की होती है—मूल सत्ता की बाह्य अभिव्यक्तियों (अप्पीयरेन्स) की नकल के रूप में। इस प्रकार आ० शुक्ल का 'अभिव्यक्ति की-भी अभिव्यक्ति' वाला कथन प्लैटो के 'नकल की नकल' वाले सिद्धान्त से मेल खाता है। दार्शनिक तथा नैतिक आग्रह के कारण प्लैटो ने यह आरोप लगाया था कि कवि अथवा कलाकार, नकल की नकल करने के कारण 'सत्य' से तीन गुना दूर हट जाते हैं और तब वे तर्क-बुद्धि से मुक्त होकर हृदय के रागों को उद्बुद्ध या उत्तेजित करते हैं जो आत्मा के निकृष्ट अंग हैं।[७] इसीलिए उसका निर्देश था कि उन्हें 'आदर्श गणतन्त्र' से बहिष्कृत कर देना चाहिए। यद्यपि शुक्ल जी भी नैतिकता के प्रबल पक्षधर हैं, तथापि वे कविता में हृदय-पक्ष के विरोधी नहीं हैं और इसी कारण प्लैटो की उग्रवादिता का उनमें अभाव है। 'मनोमय कोश' को कविता की प्रकृत 'भूमि' बताते हुए उन्होंने उसमें आध्यात्मिकता की खोज का विरोध किया है।[८]

(२) आचार्य शुक्ल के दो अनुवाद

डॉ० नामवर सिंह ने स्वसम्पादित 'चिन्तामणि-३' में समाविष्ट अपनी भूमिका 'एक अन्तर्यात्रा के प्रदेश' में एक टिप्पणी की है जिस पर विचार

---

५. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १७७।

६. वही, पृ० ५८-५९।

७. काव्य-चिन्ता (लेखक-कृत), पृ० ५५-५६।

८. चिन्तामणि, दूसरा भाग, पृ० ८०, ९४।

करना प्रस्तुत संदर्भ में आवश्यक प्रतीत होता है। आचार्य शुक्ल ने अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में अठारहवीं शती के प्रसिद्ध आंग्ल निबन्धकार जोसेफ ऐडिसन की एक लेखमाला, 'कल्पना के आनन्द' का जो उसके पत्र 'दि स्पेक्टेटर' में प्रकाशित हुई थी, हिन्दी में अनुवाद किया था जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका; भाग ८, १६०५ ई० में छपा था। [उल्लेखनीय है कि ऐडिसन के निबन्ध का शीर्षक है—'On the Pleasures of the Imagination' जिसमें आनन्द बहुवचनात्मक है जबकि शुक्लजी ने 'कल्पना का आनन्द' शीर्षक में 'आनन्द' को एकवचनात्मक रखा है।] ऐडिसन ने निबन्ध की पहली किस्त में, सौन्दर्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में यह स्थापित किया है कि चक्षुरिन्द्रिय वस्तुबोध का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। उसका कथन है कि चक्षुरिन्द्रिय ही कल्पना को उसके 'विचार' (ideas) प्रदान करती है। उसने यहाँ स्पष्ट किया है कि कल्पना के आनन्दों से उसका मतलब ऐसे आनन्दों से है जो दृश्य पदार्थों से उत्पन्न होते हैं—चाहे वे पदार्थ वस्तुतः हमारे नेत्रों के सामने हों; चाहे चित्रों, मूर्तियों, वर्णन्ति या एतादृश अन्य माध्यमों से हमारे प्रयास में उन पदार्थों से सम्बद्ध 'विचारों' का उदय होता हो। इस प्रकार ऐडिसन ने कल्पना के आनन्दों को दो वर्गों में विभाजित किया है; पहला, नेत्र-गोचर पदार्थों से उपलब्ध आनन्द जिन्हें वह 'प्राथमिक आनन्द' (Primary pleasures) कहता है और दूसरा, दृश्य पदार्थों के विचारों' से उत्पन्न होने वाले आनन्द जिन्हें वह 'द्वितीयक आनन्द' (Secondary pleasures) कहता है। इस पिछली कोटि में वास्तविक पदार्थ हमारी आँखों के सामने नहीं रहते, अपितु वे हमारी स्मृति में उक्त उत्तेजनों से प्रस्तुत हो जाते हैं अथवा वे ऐसी वस्तुओं के सुखद दृश्यों (agreeable visions) में ढल जाते हैं जो या तो अनुपस्थित रहती हैं या फिर काल्पनिक (fictitious) होती हैं।[1]

आचार्य शुक्ल ने प्रत्यक्षानुभूति में भी रसोपलब्धि का प्रमेय स्थापित करते हुए 'रूप-विधान' के तीन प्रकार निर्दिष्ट किये हैं—प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृत रूप-विधान और संभावित या कल्पित रूप-विधान। इसी आधार पर, नामवर सिंह ने यह टिप्पणी की है—"वस्तुतः 'रसात्मक बोध के विविध रूप' का पूरा महल 'कल्पना के आनन्द' की नींव पर खड़ा है।"[2] 'महल' शब्द का प्रयोग यह घोषित करता है कि नामवरसिंह की आचार्य शुक्ल के कर्तृत्व के प्रति कितनी 'हल्की' दृष्टि है और यह भी कि उन्होंने मानो

---

१. जॉर्ज सेण्ट्सबरी : 'Loci Critici', 1966, पृ० १८५-८६।

२. 'चिन्तामणि—१; पृ० १०।

शुक्लजी की इस महत्त्वमयी स्थापना की छिपी कुञ्जी खोज ली है। उन्होंने अपने समर्थन में शुक्लजी के इस कथन को उद्धृत किया है : "जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं, तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं; जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी रहती है, तब रूप हमारे भीतर दिखायी देते हैं। बाहर-भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही × × ×।"[3] इस कथन को नामवर सिंह इस तरह लेते हैं कि शुक्लजी कल्पना-सम्बन्धी विवेचन का आरम्भ 'दृष्टि' नामक इन्द्रिय के महत्त्व से करते हैं। वस्तुतः यहीं आरम्भ में ही, नामवरसिंह, अपनी खोज की खुशी में, शुक्लजी के मूल-बिन्दु को नजरन्दाज कर जाते हैं। 'रसात्मक बोध' वाले निबन्ध का प्रारम्भ शुक्लजी ने सृष्टि के 'अपार और अगाध रूप समुद्र' की 'रूप-तरंगों' के कथन से किया है। इन्हीं रूप-तरंगों से-ही मनुष्य की 'कल्पना का निर्माण और इसी की रूपगति से उसके भीतर विविध भावों या मनोविकारों का विधान हुआ है' —शुक्लजी का कथन है। विवक्षा यह है कि शुक्लजी यहाँ 'दृष्टि' (चक्षुरिन्द्रिय) का महत्त्व नहीं कीर्तित कर रहे हैं, अपितु इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य की कल्पना का उपादान कारण 'रूप' है क्योंकि जगत् में चारों ओर 'रूप' ही फैले हुए हैं। वे और भी अपनी मान्यता को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि हमारे मनोविकार तथा भावनाएँ भी इन्हीं बाहरी रूपों तथा व्यापारों से उत्पन्न हुई हैं—"हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करनेवाले मूल आलंबन बाहर के ही हैं—इसी चारों ओर फैले हुए रूपात्मक जगत् के ही हैं।' स्पष्ट है कि शुक्लजी बलाघात कर रहे हैं, जगत् के 'रूपों' पर, यहाँ तक कि उनके मतानुसार, मनुष्य का समग्र अभ्यान्तर—भाव-विधान इन्हीं बाह्य रूपों अथवा व्यापारों से निष्पन्न हुआ है। उनकी मान्यता को स्पष्ट यों किया जा सकता है—उषःकाल की स्निग्ध लालिमा से हमारे भीतर सौन्दर्य की भावना जगती है, बादलों की गड़गड़ाहट से भय की भावना जगती है, इन्द्रधनुष को देखकर विचित्रता की भावना जगती है, इत्यादि-इत्यादि। हम यहाँ कहना चाहेंगे कि आचार्य शुक्ल की यह स्थापना मनःशास्त्रीय दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। अन्य शब्दों में, जागतिक रूपों को वे मानव-अन्तःकरण का उपादान कारण मानते हैं जैसा हमने पहले ही कहा है। इसी के ठीक बाद, उसी सातत्य में, शुक्लजी ने लिखा है : "जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं, तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं; जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते

---

३. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १०।

हैं। बाहर-भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही।"[४] नामवर सिंह ने इसी पिछले कथन को उद्धृत किया है और इसे शुक्लजी द्वारा 'दृष्टि' नामक इन्द्रिय का महत्त्व-ज्ञापन बताया है। आचार्य शुक्ल की स्थापना की 'आत्मा'-ही यहाँ उलट दी गयी है। वह शुक्लजी की इस थीसिस को भूल गये हैं कि "हमें अपने मन का और अपनी सत्ता का बोध रूपात्मक ही होता है।"[५] इसके पीछे एक स्थूल आधार नामवरसिंह को मिला है: ऐडिसन का 'Our sight' अथवा 'the sense of sight' जिससे 'रूप' जुड़ा रहता है और दूसरा एक अभिलषित आधार कि ऐडिसन के 'Sight' के द्वारा शुक्लजी के 'रूपों' का महल ढहाया जा सकता है। उनकी स्थिति कितनी दुर्बल है, आसानी से समझा जा सकता है। एक अन्य सूक्ष्म तथ्य अवधेय है: शुक्लजी 'कल्पना' की निर्मिति बाह्य रूपों से मानते हैं जबकि ऐडिसन सौन्दर्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में 'दृष्टि' का महत्त्व ज्ञापित कर रहा है। उसने आगे चलकर उसी परिप्रेक्ष्य में, दूसरे लेख में दृष्टि-सुलभ पदार्थों से प्राप्त आनन्द को इन पदार्थों के त्रिविध गुणों से उत्पन्न बताया है।[६] ऐडिसन ने कल्पना की तात्त्विक निर्मिति की परिभाषा कहीं नहीं किया है। यह तथ्य भी नामवरसिंह नहीं पकड़ पाये हैं। शुक्लजी की रूपविषयिणी अवधारणा परोक्षतया उनकी इस मान्यता में भी प्रतिबिम्बित हुई है कि कविता 'अर्थ-ग्रहण' नहीं, 'बिम्ब-ग्रहण' कराती है।

ऐडिसन के निबन्ध तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप'—इन दोनों में नामवरसिंह ने एक अन्य समानता भी देखी है—"इन दोनों निबन्धों में इस बात पर समान रूप से बल दिया गया है कि वही कल्पित रूप-विधान श्रेयस्कर है जो प्रत्यक्ष रूप-विधान के मेल में हो।"[७] यहाँ पुनः उन्होंने अपनी खोज की पुष्टि में, अर्ध-सत्य को पकड़कर उजागर किया है। जहाँ यह सही है कि आ० शुक्ल और ऐडिसन दोनों-ही कल्पित रूप-विधान की प्रत्यक्ष रूप-विधान से समानता पर बल देते हैं, वहीं इस महत्त्वपूर्ण 'ऐडिसनियन' मान्यता की उन्होंने अनदेखी कर दी है कि "यद्यपि बहुत-से नैसर्गिक बेढंगे दृश्य बनावटी दृश्यों से अधिक मनोरंजक होते हैं, तथापि प्रकृति के कार्यों का उसी हिसाब से और भी अधिक आनन्ददायक पाते हैं जितना वे मनुष्य की कारीगरी से समानता रखते हैं × × ×।"[८] इस कथन से स्पष्ट है कि ऐडिसन ने सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन में एक गड़बड़झाला उत्पन्न कर दिया है—प्रकृति कला की उपकारक है और कला प्रकृति की उपकारक है। इस बिन्दु को पाश्चात्य समालोचकों ने भी रेखांकित किया है—

"The ten spectator papers on the imagination present some difficulties as to exposition largely through their com-

---

४. रस-मीमांसा, सं० २००६, पृ० २५८।
५. वही, पृ० ३०।
६. चिन्तामणि, भाग ३, पृ० ३६-३७।
७. वही, पृ० ११।
८. वही, पृ० ४१।

plicated inconsistency, the medley of aesthetic theses which they complacently recite. In Nos. 414 and 418, for instance, we discover in effect the following artistic 'imitation'. Artistic 'imitation' is more pleasant the more it resembles nature, but at the same time, nature is more pleasant the more it resembles art × × ×. Art improves on nature, though at the same time, it cannot compete with nature."[९]

आचार्य शुक्ल ने कहीं ऐसा कथन नहीं किया है कि कला के अनुसरण से प्रकृति का सौन्दर्य अधिक चमक उठता है। ऐडिसन ने तो यह सिफारिश की है—"अनाज के खेत बहुत सुहावने लगते हैं, पर यदि कहीं उनकी बीच की मेड़ों पर थोड़ा और ध्यान दिया जाय और चरागाहों की स्वाभाविक बूटेकारी मनुष्य की कारीगरी द्वारा कुछ और प्रवर्धित की जाय और उनके चारों ओर ऐसे फूल-पौधों की टट्टियाँ कई पंक्तियों में लगा दी जाँय जो उस भूमि से उत्पन्न हो सकते हैं, तो मनुष्य अपनी-ही सम्पत्ति को एक मनोहर और रमणीय स्थल बना सकता है।"[१०] हम नहीं कहते कि ऐडिसन का यह कथन तथ्यपूर्ण है या नहीं। हमारी विवक्षा केवल इतनी है कि ऐडिसन और शुक्लजी की दृष्टियों में मौलिक विभेद है। 'फ़ेयरी वे आफ् राइटिंग' जिसका प्रशंसक ऐडिसन हैं,[११] शुक्लजी का अनुमोदन नहीं प्राप्त कर सकता।

नामवरसिंह अपनी खोज में इतने आश्वस्त हैं कि वे ऐसा अनर्गल कथन भी कर बैठे हैं, "यही वह आरंभिक प्रेरणा-स्रोत है जिसके कारण शुक्लजी जीवन-पर्यन्त प्रकृति के कोमल और रुचिर रूपों के साथ कठोर, उग्र और भीषण रूपों के सौन्दर्य की ओर भी हिन्दी कवियों तथा पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते रहे।" शुक्लजी के प्रकृति-प्रेम का उत्स ऐडिसन में खोजना निराली 'उपलब्धि' है! इतना-ही नहीं, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबन्ध में प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण को जो महत्त्व आचार्य शुक्ल द्वारा प्रदान किया गया है जिस संदर्भ में उन्होंने वाल्मीकि, कालिदास तथा भवभूति को उद्धृत किया है, उसकी भी प्रेरणा का श्रेय नामवरसिंह ऐडिसन के निबन्ध को ही प्रदान करते हैं—'मिर्जापुर के आसपास की पहाड़ी प्रकृति' तो 'आलंबन' 'मात्र है!!'[१२] नयी खोज की सनक कितनी हास्यास्पद हो सकती है!!!

हम सभी जानते हैं कि हमारे साहित्यिक विचारों तथा अवधारणाओं पर, न जाने कितने अध्ययन अथवा चिन्तन एवम् अनुभवों का, अज्ञात-अलक्ष्य प्रभाव पड़ता है, किन्तु किसी एक स्थूल बिन्दु को लेकर, एक समर्थ आलोचक

---

९. 'Literacy Criticisan : A Short History' by W. K. Wimsatt and C. Brooks. 1964, p. 255.

१०. चिन्तामणि, भाग ३, पृ० ४२।

११. वही, पृ० ५३-५४.

१२. वही, पृ० १२

की किसी स्थापना का 'बीज-भाव' किसी दूसरे आलोचक के किसी निरूपण में खोज लेना साहित्यिक 'मेगैलोमैनिया' की प्रसूति है।

नामवरसिंह ने इसी प्रकार, आचार्य शुक्ल द्वारा 'न्यूमन हेनरी के 'Literature' शीर्षक निबन्ध के हिन्दी अनुवाद, 'साहित्य' के विषय में भी एक जगह शुक्लजी की गलती पर संकेत किया है। अलंकारवादी धारणा का विरोध करते हुए, न्यूमन ने यह लिखा है कि ऐसे लोग किसी रचना को 'a trick and a trade' समझते हैं। शुक्लजी ने 'ट्रेड' पद का अनुवाद 'व्यवसाय' किया है। यहीं 'नामवरसिंह ने गलती पकड़ी है।[13] 'ट्रिक' का अर्थ 'छल', 'छलपूर्ण उपाय' अथवा 'चातुरी' होता है। इसी के साथ 'ट्रेड' पद व्यवहृत हुआ है। अतः, 'ट्रिक' तथा 'ट्रेड' की व्यंजना में कुछ समानता होनी चाहिए। 'ट्रेड' का अर्थ होता है—धंधा, जीविकोपार्जन का तरीका; दुकानदारी; वाणिज्य-व्यवसाय; क्रय-विक्रय; शिल्प इत्यादि। (दे० 'चैम्बर्स', पृ० १४२७)। अब, 'ट्रिक' वाली चतुराई का भाव 'शिल्प' तथा 'व्यवसाय' दोनों में समरूपेण विद्यमान है। इस दृष्टि से अलंकारवादी यदि साहित्य-रचना को शिल्प अथवा व्यवसाय समझते हों, तो इसमें कोई आपत्ति का बिन्दु उत्पन्न नहीं होता। शुक्लजी द्वारा प्रयुक्त 'व्यवसाय' पद के विविध अर्थों में कोषकार ने एक अर्थ दिया है—'छल; कौशल'। (दे० 'संस्कृत' शब्दार्थ-कौस्तुभ', १९७१, पृ० १११८)। अतएव, शुक्लजी का 'व्यवसाय' शाब्दिक 'छल' अथवा 'कौशल' का द्योतक है जो अलंकार-पूर्ण रचनाओं में सहायक सिद्ध होता है। वह शिल्प का भी व्यंजक है जिसमें चातुरी अथवा वैदग्धी की आवश्यकता होती है। सुतराम्, नामवरसिंह की यह खोज भी बाधित हो जाती है।

न्यूमन का प्रस्तुत अनुवाद आचार्य शुक्ल के प्रौढ़ अंग्रेजी-ज्ञान का परिचायक है। उन्होंने कालिदास, तुलसी आदि से उद्धरण लेकर न्यूमन के विचारों को विविक्त रीति से अनूदित किया है। उनकी आंग्ल भाषा की पकड़ का एक ज्वलन्त प्रमाण यह है कि उन्होंने वर्तमान अनुवाद में मूल लेखक की उपपत्तियों का परीक्षण तथा उपलालन वाल्मीकि, वेदव्यास, वेद, उपनिषद आदि के सन्दर्भण से किया है। न्यूमन का कथन है कि गद्य अथवा पद्य दोनों के रचयिता जन्मना 'शक्ति' से सम्पन्न होते हैं और उनकी रचना के सौष्ठव में 'चातुरी' की अपेक्षा इसी 'शक्ति' का अवदान होता है। इस सन्दर्भ में न्यूमन ने ऐडिसन के रूपक 'The Vision of Mirza' की शैली की सुकुमारता तथा सौन्दर्य की दाद दी है और उसमें विचारों तथा अभिव्यक्ति की संवादिता (करेस्पांडेन्स) की सराहना की है।[13-अ] हिन्दी के पाठकों के लिए ऐडिसन की यह रूपकाश्रित रचना अपरिचित थी। अतएव, शुक्लजी ने

१३. चिन्तामणि, भाग ३, पृ० ८।
१३–अ. 'Literary Selections From Newman (Longmans, Green and Co.), 1940, पृ० ९८।

प्रस्तुत विचार या भाव के परिपोष में बाण का उदाहरण दिया है—"कादम्बरी की शब्द-योजना का अपूर्व माधुर्य और, साथ ही साथ, उसका मनोभावों के अनुकूल होना जिन्हें कवि ने प्रगट किया है, कौन नहीं स्वीकार करेगा ?'[१४] एक नहीं, अनेक सन्दर्भों में, कल्पनावाले निबन्ध में भी, शुक्लजी ने मूल लेखकों के विचारों या भावों की पुष्टि के लिए उनके द्वारा दिये उदाहरणों को छोड़कर, भारतीय साहित्य से उदाहरण दिये हैं और मूल विवक्षित भावों की कहीं क्षति नहीं हुई है। ऐडिसन के निबन्ध के अनुवाद में, जहाँ ऐडिसन ने कल्पना के आनन्द को बौद्धिक ज्ञानोपलब्धि से जन्य आनन्द की समकक्षता में रखा है[१५] और होमर तथा अरस्तू का दृष्टान्त दिया है, वहाँ शुक्लजी ने यह कथन किया है : "× × × वाल्मीकि के एक सर्ग ने गौतम के न्याय-सूत्रों की अपेक्षा अधिक पाठकों का मनोरंजन किया है।"[१६] कुछ को आपत्ति हो सकती है कि यहाँ शुक्लजी ने कल्पनाजन्य आनन्द को तत्त्वज्ञान-जन्य आनन्द से बढ़ा दिया है जबकि ऐडिसन दोनों को समान बताता है। किन्तु, इस आपत्ति का कोई तात्त्विक महत्त्व नहीं होगा। मूल बिन्दु यह है कि शुक्लजी लेख की मूल भावना को समझते थे। विवक्षा यह है कि आचार्य शुक्ल का अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्रौढ़ था और उनके अनुवादों में गलती खोजने के पहले हमें स्वयं यह समझ लेना चाहिए कि हमारा निजी अंग्रेजी-ज्ञान कितना प्रामाणिक अथवा पल्लवग्राही है।

नामवरसिंह ने शुक्लजी के 'महल' की 'नींव' ऐडिसन के निबन्ध में खोज ली, जैसा पहले दिखाया गया है। किन्तु, शुक्लजी ने अपने गम्भीर विवेचनों में ऐडिसन का कहीं उल्लेख नहीं किया है। केवल अपने इतिहास में पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट की उपलब्धियों की प्रशंसा में उन्होंने ऐडिसन तथा स्टील का कथन किया है।[१७] आप यह भी नहीं कह सकते कि उन्होंने इसे जानबूझ कर छिपाया है—कारण कि उन्होंने अपनी मान्यताओं के समर्थन में लगभग एक दर्जन बार रिचर्ड्स का उल्लेख किया है और वाट्स डण्टन इत्यादि अन्य आंग्ल समीक्षकों को भी सन्दर्भित किया है। वास्तविकता यह है कि ऐडिसन कहीं उनकी गम्भीर विचारणा में प्रवेश नहीं कर सका। गनीमत यह है कि नामवरसिंह ने शुक्लजी की अलंकार-विरोध की प्रेरणा का खुला श्रेय भी न्यूमन को नहीं दिया !!

———

१४. चिन्तामणि भाग-३, पृ० २८।
१५. Loci Critici, पृ० १८६।
१६. चिन्तामणि भाग-३, पृ० ३५।
१७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं० २००६, पृ० ४४६।

डॉ० रमाशङ्कर तिवारी

जन्म—१ जुलाई १६१५, बलिया जनपद में ग्राम डूहा बिहर। साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय फैजाबाद के प्राचार्य पद से अवकाश प्राप्त कर अब वहीं २०, लक्ष्मण-पुरी कालोनी, फैजाबाद में निवास कर रहे हैं।

हिन्दी, अँग्रेजी में एम० ए०, पी-एच० डी०। संस्कृत का प्रौढ़ ज्ञान। आपने तीनों भाषाओं में समान रूप से लिखा है। संस्कृत में उत्कृष्ट काव्य-रचना की है।

तिवारी जी साहित्यशास्त्र के गम्भीर चिन्तक हैं, पूर्व और पश्चिम दोनों काव्यशास्त्रों का प्रगाढ़ अध्ययन आपका है। इस अध्ययन तथा चिन्तन के फलस्वरूप समीक्षा-सम्बन्धी उत्कृष्ट ग्रंथों का प्रणयन आपने किया है जिनमें प्रमुख हैं—

१. महाकवि कालिदास, २. महाकवि शूद्रक, ३. कामायनी : प्रेरणा और परिपाक, ४. प्रयोग काव्यधारा, ५. काव्यचिन्ता, ६. शृंगार **और** साहित्य, ७. ललित की खोज में, ८. सूर का काव्य-माधुरी, ६. बिहारी का काव्य-लालित्य, १०. ए क्रिटिकल एप्रोच टू क्लासिकल इण्डियन पोयटिक्स, ११. काव्यानुशीलनम्, १२. काव्य—वैदेह्या अतीतावलोकनम्।

तिवारी जी की कृतियों से हिन्दी का समीक्षा-साहित्य जीवन्त और समृद्ध हुआ है।